दो शब्द

यह वैज्ञानिक युग है। जब तक हिंदी में विज्ञान-संबंधी पुस्तकों का प्रचुर प्रकाशन नहीं होगा, हिंदी-साहित्य सर्वांग-पूर्ण नहीं हो सकता। कारण, अन्य विषयों की पुस्तकें लिखने में उतनी कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता, जितनी कि वैज्ञानिक पुस्तकों में। हिंदी में वैज्ञानिक शब्दों का एकदम अभाव सा ही है। नए शब्द-रचना से घबड़ाकर कितने योग्य और सिद्धहस्त लेखक अपने विचार स्थगित कर देते हैं। यही कारण है कि हिंदी में अभी वैज्ञानिक पुस्तकों की इतनी कमी है। कहना चाहिए, हिंदी में वैज्ञानिक पुस्तकें उँगली पर गिनी जा सकती हैं। ऐसी स्थिति में जिन साहसी लेखकों ने ऐसी पुस्तकें लिखी हैं, वे अवश्य प्रशंसा के पात्र हैं।

आज साहित्य-सुमन-माला भी आपकी सेवा में एक वैज्ञानिक पुस्तक लेकर उपस्थित होती [illegible] ढंग की यह बिलकुल नई और निराली [illegible] विज्ञान के विद्यार्थी के लिये यह [illegible] मूल्य वस्तु है।

मानव-शरीर-रहस्य के [illegible]खक ने अपने विषय का खूब अध्ययन किया है। इस संबंध के संस्कृत और अंग्रेज़ी दोनों भाषाओं के ग्रंथों को मथकर और अपने व्यक्तिगत

अनुभव का उस पर ऐसा पुट चढ़ाया है कि जिज्ञासु पाठक आसानी से इस विषय को समझ और लाभ उठा सकते हैं।

आशा है, इस विषय के विशेषज्ञ और जिज्ञासु पाठक इसे अपनाएँगे और हमें अन्य ऐसी महत्त्व-पूर्ण पुस्तकें प्रकाशित करने के लिये प्रोत्साहित करेंगे।

प्रकाशक

भूमिका

शरीर-शास्त्र विज्ञान की एक वृहद् और विस्तृत शाखा है । यह दो भागों में विभक्त किया गया है । एक शरीर-रचना-शास्त्र (Anatomy) और दूसरा शरीर-क्रिया-विज्ञान (Physiology) । शरीर-रचना-शास्त्र से हमको शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों की स्थिति अथवा उनकी रचना का ज्ञान प्राप्त होता है । वह उन अंगों के कर्म को नहीं बतलाता। यह कार्य शरीर-क्रिया-विज्ञान का है। इसका संबंध शारीरिक अंगों के कार्यों से है। हृदय कहाँ पर स्थित है, उसका आकार कैसा है, उसकी आंतरिक रचना किस प्रकार की है, ये सब बातें शरीर-रचना-शास्त्र के द्वारा मालूम होती हैं। किंतु हृदय किस प्रकार काम करता है, रक्त का शरीर में किस प्रकार संचालन होता है, हृदय की धड़कन किस भाँति होती है, यह सब शरीर-क्रिया-विज्ञान बताएगा ; इन सब घटनाओं की व्याख्या शरीर-रचना-शास्त्र के प्रांत के बाहर है ।

शरीर-रचना-शास्त्र और शरीर-क्रिया-विज्ञान ये दो ऐसी शाखाएँ हैं, जो एक दूसरे से अभिन्न संबंध रखती

हैं ; एक शाखा का ज्ञान दूसरी शाखा पर निर्भर करता है। अंग की रचना का ज्ञान प्राप्त करने पर उसके कर्म को जानना अनिवार्य हो जाता है। इसी प्रकार अंग के कर्म को जानने के लिये अंग की रचना का ज्ञान आवश्यक है। इस कारण शरीर-क्रिया-विज्ञान की पुस्तकों में अध्याय के प्रारंभ में उस अंग की रचना का संक्षिप्त वर्णन कर दिया जाता है, जिसके कार्य की विवेचना उस अध्याय में होती है। इस पुस्तक में भी इसी शैली का अनुसरण किया गया है।

इस पुस्तक का मुख्य विषय शरीर-क्रिया-विज्ञान है। विषय अत्यंत गंभीर है। अंग्रेज़ी व अन्य योरोपीय भाषाओं में इस विषय पर बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे गए हैं। इस पुस्तक से विषय का दिग्दर्शनमात्र किया जा सकता है। यह राष्ट्र-भाषा का दुर्भाग्य है कि विज्ञान के धुरंधर पंडितों का ध्यान इस ओर आकर्षित नहीं हुआ है; उन्होंने हिंदी में वैज्ञानिक विषयों पर उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखने की आवश्यकता नहीं समझी है। वह जो कुछ लिखते हैं सब अंग्रेज़ी ही में। इसके लिये पूर्णतया उन्हीं को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। अंग्रेज़ी भाषा के द्वारा वह संसार के वैज्ञानिकों के संपर्क में रहते हैं। फिर अंग्रेज़ी भाषा ही के द्वारा स्कूल और कालेजों में पढ़ाई भी होती है। जगदीश्वर की कृपा से वह दिन शीघ्र

ही आएगा जब सारे देश में राष्ट्र-भाषा ही का प्रयोग होगा और विज्ञान की शिक्षा भी उसी के द्वारा दी जायगी। उस समय के लिये अभी से तैयारी करना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है। यह अत्यंत संतोष की बात है कि हिंदू-विश्वविद्यालय ने विज्ञान की सब शाखाओं में पाठ्य पुस्तकें लिखवाने का आयोजन किया है और पुस्तकें शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली हैं।

इस पुस्तक में वैज्ञानिक घटनाओं का इस प्रकार वर्णन और विवेचन करने का उद्योग किया गया है कि वह सर्वप्रिय हो; जहाँ इस विज्ञान के विद्यार्थी इस विषय का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर सकें वहाँ सर्वसाधारण हिंदी-भाषा-प्रेमियों को भी पुस्तक रुचिकर हो। वह भी पुस्तकावलोकन से अपने शरीर में प्रत्येक क्षण घटने-वाली घटनाओं का ज्ञान प्राप्त करके और इस शरीररूपी यंत्र की अद्भुत कार्यक्षमता और शक्ति को समझकर आनंद का अनुभव कर सकें। यह एक कठिन कार्य है। इस उद्देश्य में कहाँ तक लेखक को सफलता हुई है, इसका निश्चय पाठक ही कर सकते हैं।

चार वर्ष हुए जब यह पुस्तक लिखी गई थी। कई कारणों से यह अब तक प्रकाशित न हो सकी। वैज्ञानिक पुस्तकों का प्रकाशन करना, जिनमें अनेकों ब्लाक बनाने पड़ते हैं और शब्द भी कठिन, नवीन और अद्भुत होते हैं;

और जिनसे प्रेस के कर्मचारी साधारणतया अपरिचित होते हैं, साधारण काम नहीं है।

मैं नवलकिशोर-प्रेस का विशेष आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन का भार उठाया है। इसके लिये मैं साहित्य-सुमन-माला के संपादक श्रीयुत प्रेमचंदजी तथा अन्य कर्मचारियों को धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकता जिन्होंने अत्यंत परिश्रम के साथ इस पुस्तक के प्रकाशन में सहयोग दिया है।

पुस्तक में जो चित्र दिए गए हैं, वे अधिकतर उन मूल-लेखकों के लेख से लिए गए हैं, जिन्होंने उन विषयों पर विशेष खोज की है और उन चित्रों को प्रकाशित किया है। जो चित्र पुस्तकों से लिए गए हैं, उनके लिये मैं पुस्तक-प्रकाशकों का कृतज्ञ हूँ। जिन मित्रों ने मुझे पुस्तक के लिखने, प्रूफ़ देखने और अन्य प्रकार से सहायता दी है, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मेरा कर्त्तव्य है। इनमें डाक्टर अचलविहारी सेठ और डाक्टर बी० जी० घाणेकर, आचार्य आयुर्वेदिक कालेज हिंदू-विश्वविद्यालय के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। श्रीयुत महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन सरस्वती, एम्० ए०, एल० एम्० एस्० कृत प्रत्यक्षशारीरम् से मैंने अनेकों अस्थियों, पेशियों तथा अन्य अंगों के नाम लिए हैं। इसलिये वह मेरे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

पुस्तक में जो त्रुटियाँ रह गई हैं, उनसे मैं पूर्णतया परिचित हूँ, और आशा करता हूँ कि पाठकगण त्रुटियों को न देखकर पुस्तक में जो उत्तमता है उसी को देखेंगे। इन त्रुटियों को आगामी संस्करण में दूर करने का प्रयत्न किया जायगा। जो मित्रगण विशेष त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करेंगे अथवा नवीन प्रस्ताव भेजेंगे उनका मैं अत्यंत कृतज्ञ होऊँगा।

काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय
विजयादशमी
संवत् १९८९ } मुकुंदस्वरूप वर्मा

समर्पणम्

त्वदीयं वस्तु गोविन्द
तुभ्यमेव समर्पये ।

मुकुंद

विषय-सूची

बृहद् धमनी, परिभ्रमण का समय, हृत्कार्य, चक्र, रक्त-परिभ्रमण की खोज और उसके प्रमाण, शिखर, आघात और हृदय का शब्द, हृदय का पोषण, हृदय का नाड़ियों से संबंध, रक्त, रक्त-रचना, रक्त-कण, लाल कण, हीमोग्लोबिन, श्वेत कण, जीवाणु-भक्षण, अप्सोनिन, रक्त-द्रावक, संग्राहक, रक्त का जमना, रोग-क्षमता, सीरम, वैकसीन।

——:०:——

चित्र-सूची

शुद्धाशुद्ध-पत्र

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
४	१	पर	×
५	१७	रासायनिक विद्वान्	रसायनवेत्ता
७	२२	न ली	नली
१०	१०	१/३७०	१/१२८०
११	१०	फुफ्फुस	फुस्फुस
११	१८	संपादन	संपादित
१३	१३	वसा	वसा
१५	१५	लेते हैं।	लेता है
१५	१८	कार्बन	कार्बन
१८	१७	कि वायु	कि वह वायु
१६	६	नाश	नष्ट
१६	१०	होता है	होती है
२४	६	सेलेंडर	सैलेमेंडर
२६	१५	मानना	×
२७	४	Vibvio	Vibrio
२६	१८	उठते	डटते
३५	१७	रासायनिक विद्वान्	रसायनवेत्ता
४०	२४	निर्धारण	निर्म्माण
४१	८	किम	कृमी
४४	६	Servum	Serum
४४	२२	यह	इनकी

मानव-शरीर-रहस्य

प्रथम भाग

१. हृदय.
२. बृहद् धमनी.
३. ऊर्ध्व महाशिरा.
४. फुस्फुसीय शिराएँ.
५. फुस्फुसीय धमनियाँ.
५. वाम कांडमूला शिरा.
६. दक्षिण कांडमूला शिरा.
७. कक्षाधरा शिरा.
८. दक्षिण महामातृका धमनी.
९. अंतः ग्रीविका शिरा.
१०. बहिर्ग्रीविका शिरा.
११. बहिर्हानव्या धमनी.
१२. अनुशंखा उत्ताना धमनी.
१३. अनुशंखा उत्ताना शिरा.
१४. नेत्रगुहीय उत्ताना धमनी.
१५. बहिर्हानव्या धमनी.
१६. नेत्रगुहीय उत्ताना शिरा.
१७. कक्षाधरा धमनी.
१८. बाहवी शिरा.
१९. बाहवी धमनी.
२०. वक्षीय अनुपार्श्विक शिरा.
२१. बहिःप्रकोष्ठीया धमनी.
२२. अंतःप्रकोष्ठीया धमनी.
२३. बहिर्बाहुका शिरा.
२४. अंतर्बाहुका शिरा.
२५ बहिःप्रकोष्ठीया शिरा.
२६. अंतःप्रकोष्ठीया पूर्वा शिरा.
२७. करतल धानुषी उत्ताना धमनी.
२८. करतल धानुषी शिरा.
२९. अधरा महाशिरा.
३०. दक्षिण वृक्क.
३१. वाम वृक्क.
३२. ३३. वृक्कीय धमनी और शिरा.
३४. अधरांत्रिकी धमनी.
३५. दक्षिण अधिश्रोणिका धमनी और शिरा.
३६. वाम अधिश्रोणिका धमनी और शिरा.
३७. अधिश्रोणिका आभ्यंतरी धमनी और शिरा.
३८. अधिश्रोणिका बाह्या धमनी.
३९. और्वी धमनी.
४०. और्वी शिरा.
४१. और्वी गंभीरा शिरा.
४२. और्वी वेष्टनिका ऊर्ध्वगा धमनी.
४३. और्वी वेष्टनिका अधोगा.
४४. पुरा जंघिका धमनी.

१. हृदय.
२. बृहद् धमनी.
३. ऊर्ध्व महाशिरा.
४. फुस्फुसीय शिराएँ.
४. फुस्फुसीय धमनियाँ.
५. वाम कांडमूला शिरा.
६. दक्षिण कांडमूला शिरा.
७. कक्षाधरा शिरा.
८. दक्षिण महामातृका धमनी.
९. अंतः ग्रीविका शिरा.
१०. बहिर्ग्रीविका शिरा.
११. बहिर्हानव्या धमनी.
१२. अनुशंखा उत्ताना धमनी.
१३. अनुशंखा उत्ताना शिरा.
१४. नेत्रगुहीय उत्ताना धमनी.
१५. बहिर्हानव्या धमनी.
१६. नेत्रगुहीय उत्ताना शिरा.
१७. कक्षाधरा धमनी.
१८. बाहवी शिरा.
१९. बाहवी धमनी.
२०. वक्षीय अनुपार्श्विक शिरा.
२१. बहिःप्रकोष्ठीया धमनी.
२२. अंतःप्रकोष्ठीया धमनी.
२३. बहिर्बाहुका शिरा.
२४. अंतर्बाहुका शिरा.
२५ बहिःप्रकोष्ठीया शिरा.
२६. अंतःप्रकोष्ठीया पूर्वा शिरा.
२७. करतल धानुषी उत्ताना धमनी.
२८. करतल धानुषी शिरा.
२९. अधरा महाशिरा.
३०. दक्षिण वृक्क.
३१. वाम वृक्क.
३२. ३३. वृक्कीय धमनी और शिरा.
३४. अधरांत्रिकी धमनी.
३५. दक्षिण अधिश्रोणिका धमनी और शिरा.
३६. वाम अधिश्रोणिका धमनी और शिरा.
३७. अधिश्रोणिका आभ्यंतरी धमनी और शिरा.
३८. अधिश्रोणिका बाह्या धमनी.
३९. औवीं धमनी.
४०. औवीं शिरा.
४१. औवीं गंभीरा शिरा.
४२. औवीं वेष्टनिका ऊर्ध्वगा धमनी.
४३. औवीं वेष्टनिका अधोगा.
४४. पुरा जंघिका धमनी.

४५. ४६. ४७. दीर्घोत्ताना शिरा.
४८. पादपृष्ठ की धानुपी शिरा.
४८. पादपृष्ठ की धमनीचाप.
६३. गवीनी.

ख. मूत्राशय.

ग. महाप्रचीरा.

निम्नलिखित स्थानों को दावने से उनके सामने लिखी हुई धमनियों का रक्त-प्रवाह बंद हो जायगा। ग्रीवा में घाव व व्रण के नीचे की ओर और शाखाओं व अन्य स्थानों में क्षत के ऊपर की ओर दावना चाहिए—

४९. कपालमूलिनी.
५०. अनुशंखा.
५१. आननी धमनी.
५२. महामातृका.
५३. अक्षका धरा.
५४. कक्षा धरा.
५५. बाहवी.
५६. बाहवी, कुहनी के ऊपर.
५७. ५८. और्वी.
५९. अंतःप्रकोष्ठीया.
६०. बहिःप्रकोष्ठीया.
६१. उरु जानुपृष्ठिका.
६२. पुरोजंघिका.

परमाणु और सेल

'विचित्रोऽयं संसारः' संसार बड़ा ही विचित्र है। जिधर देखा जाय उधर आश्चर्यजनक और अद्भुत वस्तुओं और घटनाओं का समूह दिखाई पड़ता है। वृक्ष भी क्या ही अद्भुत वस्तु हैं। वायु और पृथ्वी से अपनी जीवन-सामग्री ग्रहण करते हैं। निर्जीव पदार्थ ग्रहण करके उनसे सजीव वस्तुएँ उत्पन्न करते हैं, जिनको मनुष्य-मात्र अपने भोजन में प्रयोग करते हैं। स्वयं पृथ्वी ही एक आश्चर्य का भंडार है। पृथ्वी में केवल कुछ निर्जीव रासायनिक वस्तु, जिनको लवण कहते हैं, पाए जाते हैं। इन्हीं लवणों और जल द्वारा वृक्ष का पोषण होता है। नाना प्रकार के अन्न, शाक और फल जो वसुंधरा से उत्पन्न होते हैं, वह इन्हीं अनैन्द्रिक व निर्जीव लवणों का फल है। इसी प्रकार जितना अधिक विचारा जाय उतना ही आश्चर्य अधिक होता है। छोटी से छोटी वस्तु भी विचारशील मस्तिष्क के लिये एक गूढ़ समस्या है।

किंतु सबसे अधिक आश्चर्यजनक वस्तु यह मनुष्य का शरीर है। संसार में अनेकों नाना भाँति के यंत्र बने हैं और रात-दिन

बनते जा रहे हैं। पर इन यंत्रों को देखकर मनुष्य चकित हो जाता है; किंतु वास्तव में वह यंत्र उस चकित होनेवाले मनुष्य से अधिक आश्चर्यजनक नहीं है। मनुष्य जो भोजन करता है, उससे रक्त बनता है और वह रक्त शक्ति उत्पन्न करता है। शरीर भर में जो रक्त है वह समान है। उसका रासायनिक संगठन व भौतिक स्वरूप एक ही सा है। वही रक्त जहाँ स्तनों में दूध उत्पन्न करता है, वहाँ वृक्क में मूत्र बनाता है। मुख की ग्रंथियाँ जो लाला-ग्रंथियाँ कहलाती हैं, वह उसी रक्त से लाला व थूक बनाती हैं। उसी रक्त की शक्ति से मस्तिष्क विचार करता है, नेत्र देखते हैं, मांसपेशियों में गति होती है। भिन्न-भिन्न पाचक रस भी रक्त ही से बनते हैं; किंतु सौम्यिक रस में जहाँ क्षार रहता है, वहाँ आमाशयिक रस में अम्ल रहता है। सुषुप्ति अवस्था में यदि शरीर पर कोई कीड़ा बैठ जाता है, तो हाथ स्वयं वहाँ पहुँच करके उसको हटा देता है। यदि रास्ते में जाते-जाते कोई कीड़ा आगे से आकर नेत्र में घुसने लगता है, तो नेत्र के पलक तुरंत ही बंद हो जाते हैं और नेत्र की रक्षा करते हैं। शरीर के जितने भिन्न-भिन्न अंग हैं, सब एक दूसरे की भलाई के लिये काम करते हैं। यदि एक अंग का काम भोजन का प्राप्त करना है, तो उसको पचाना व उससे रस बनाना दूसरे का काम है। शरीर के सब भागों को रस का पहुँचाना, जिससे शक्ति उत्पन्न हो, एक दूसरे ही अंग का कार्य है। सारे शरीर के लिये हानि व लाभ की सब बातों का विचार करना और तदनुसार शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों से काम करवाना मस्तिष्क का काम है। ये सब बातें विचारशील मनुष्य को आश्चर्यान्वित करने के लिये पर्याप्त हैं। इसी कारण सहस्रों मनुष्य मानव-शरीर की रचना व घटनाओं के अध्ययन में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

परमाणु और सेल

पृथ्वी पर सहस्त्रों प्रकार की वस्तुएँ पाई जाती हैं। हम स्वभावतः ही उन वस्तुओं में अंतर करते हैं और भिन्न-भिन्न वस्तुओं को उनके यथायोग्य नाम देकर एक से दूसरे को पृथक् करते हैं। जो अधिक विचारवान् पुरुष हैं, वे इन वस्तुओं ही में नाना भाग देखते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक प्रत्येक वस्तु को उसके छोटे से छोटे भाग के स्वरुप में तोड़ देता है। इस प्रकार वह साधारण वस्तुएँ, जो हम रात-दिन प्रयोग करते हैं, सहस्त्रों भागों की बनी हुई हैं। रसायनवेत्ता के अनुसार संसार में दो प्रकार के पदार्थ मौजूद हैं, एक वह जो कई प्रकार की वस्तुओं से मिलकर बने हैं, जिनको संयोगिक पदार्थ (Compounds) कहते हैं और दूसरे वे जो एक ही समान वस्तु से निर्मित हैं, जैसे लोहा, चाँदी, स्वर्ण, आक्सीजन इत्यादि। इनको मौलिक कहते हैं। बहुत सी वस्तुएँ जिनको पहिले हम तत्त्व व मौलिक समझते थे, वे अब प्रयोग और परीक्षा से संयोगिक प्रमाणित हुई हैं। जल को प्राचीन मत के अनुसार तत्त्व माना जाता था; किंतु रसायनविद्या ने यह दिखा दिया है कि जल दो मौलिकों के संयोग से बना है, जिनको हाइड्रोजन और ऑक्सीजन कहते हैं। अब तक रासायनिक विद्वान् लगभग ९५ मौलिक वस्तुओं को मालूम कर चुके हैं।

प्रत्येक मौलिक छोटे-छोटे भागों में विभाजित किया जा सकता है; किंतु वह सब भाग आपस में रसायनविद्या के अनुसार समान होंगे अर्थात् सब भागों में समान रासायनिक गुण होंगे। यह सबसे छोटे भाग अणु कहलाते हैं; किंतु यह अणु भी परमाणुओं में विभक्त हो सकते हैं। एक अणु कई परमाणुओं से मिलकर बनता है। ज्यों-ज्यों विज्ञान की उन्नति हो रही है, त्यों-त्यों सभी बातों में नवीन प्रकाश फैल रहा है। अब वैज्ञानिक परमाणु को भी विद्यु-

यह खोज थी कि प्रकृति को सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण मानव शरीर केवल दस व बारह जड़ वस्तुओं के मेल से बना है। एक मक्षिका, हस्ती, एक केचुवा, शाक, गोभी का फूल, गुलाब व चमेली का फूल और मनुष्य की देह सब एक ही समान वस्तुओं से बने हुए हैं, जिनमें कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, गंधक और फास्फोरस मुख्य हैं। कार्बन वही धातु है, जिससे कोयला व हीरा बनते हैं; हाइड्रोजन वही है, जो जल में सम्मिलित है : ऑक्सीजन और नाइट्रोजन वही गैस हैं, जिनको हम श्वास द्वारा एक मिनट में १८ बार शरीर के भीतर ग्रहण करते हैं और बाहर निकालते हैं। गंधक धुआँ देने के काम में आती है और फास्फोरस प्रत्येक दियासलाई के सिरे पर लगी रहती है। ये सब मौलिक, जो हमारा शरीर बनाते हैं, एक दियासलाई में पाए जाते हैं।

Sir Oliver Wendell Holmes ने लिखा है—"कुछ गैलन * जल, कुछ सेर कार्बन और चूना, कुछ वर्गफुट वायु, आधी व एक छटाँक फास्फोरस, कुछ तोले लोह, एक व दो चुटकी गंधक, एक व दो रत्ती कुछ और आवश्यक वस्तुओं को यदि मिला दिया जाय, तो लीबिग (Leibig) और बर्ज़ेलियस (Berzelius) के समान मनुष्य तैयार हो जायगा।" सबसे अधिक बुद्धिमान् मस्तिष्क, सबसे सुंदर चेहरा, सबसे शक्तिशाली शरीर, जो किसी भी समय में पृथ्वी पर उत्पन्न हुए हैं, वह सब इन्हीं थोड़ी सी वस्तुओं के, जिनकी संख्या २० भी नहीं है, संग्रह से बने थे और बनते हैं। रसायनशास्त्र ने काँच की परीक्षा न ली, बर्नर (Burner) और रासायनिक तराज़ू की सहायता से इन प्रश्नों का उत्तर दे दिया है।

---

* गैलन साढ़े चार सेर का होता है।

अतएव साधारण शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि एक साधारण अवस्थावाली स्त्री के शरीर में इतना कार्बन होता है कि उससे नौ हज़ार पेंसिल बन सकें ; इतना फ़ास्फ़ोरस होता है कि दियासलाई के आठ हज़ार बक्स बनाए जा सकें ; इतना हाइड्रोजन होता है, जो एक बैलून को फुला कर हवा में उड़ा दे ; इतना लोह होता है, जिससे चार बड़ी कीलें बनाई जा सकें ; इतना नमक होता है, जिससे चार व पाँच नमक के कोष्ठ भरे जा सकें : इनके अतिरिक्त दो व ढाई सेर नाइट्रोजन, बीस सेर के लगभग जल और इससे अधिक ऑक्सीजन भी होते हैं।

यह भिन्न-भिन्न वस्तुएँ, जो शरीर में पाई जाती हैं, सब पृथ्वी के तल से प्राणियों को मिलती हैं। यदि पृथ्वी के बनने के समय इन वस्तुओं को हटा दिया गया होता, तो आज मनुष्य, पशु, वृक्ष, कीड़े, इत्यादि कुछ भी न होते।

जिस प्रकार रसायनवेत्ताओं ने रासायनिक पदार्थों की एकाई अणु माना है, उसी प्रकार शारीरिक विज्ञान के पंडितों ने भी यह पता लगाया है कि शरीर की एकाई भी मौजूद है जिनको सेल (cell) कहते हैं। जिस प्रकार संसार के सब पदार्थ, जल, लोह, चूना, नमक, ताँबा, स्वर्ण इत्यादि उन वस्तुओं के अणुओं का एक संग्रह है, जो स्वयं कई परमाणुओं से मिलकर बनते हैं, इसी प्रकार शरीर इन सेलों से बना हुआ है। जैसे एक मकान ईंटों को एक दूसरे पर चुनकर बनाया जाता है, वैसे ही संसार भर के प्राणियों के शरीर इन सेलों से बने हुए हैं, जिनका आकार भिन्न-भिन्न अंगों में भिन्न होता है। संसार में कुछ ऐसे प्राणी हैं, जिनका शरीर केवल एक ही सेल का बना होता है। जैसे अमीबा व पेरेमिशियम (Amoeba & Paramaecium) इनको एक सेलीय
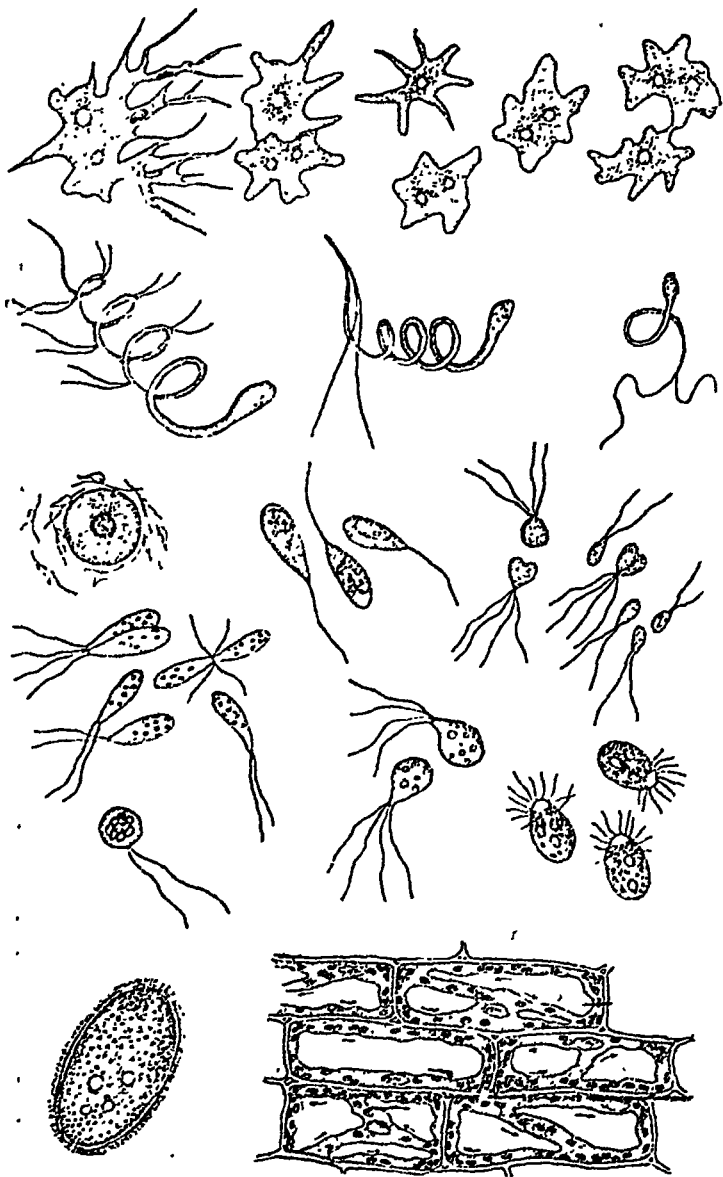
चित्र नं० १—भिन्न-भिन्न प्रकार के एक सेलीय जीव

कहा जाता है। दूसरे जंतुओं के शरीर में सेलों की अधिक संख्या होती है। वह बहुसेलीय कहलाते हैं। जितना बड़ा शरीर होता है उसमें उतनी ही सेलों की संख्या अधिक होती है।

इन सेलों को छोटे-छोटे पैकेट समझना चाहिये, जो अपने आकार की सूक्ष्मता के कारण साधारणतया नेत्रों से नहीं देखे जा सकते। इनको देखने के लिये सूक्ष्मदर्शक यंत्र व माइक्रोस्कोप (Microscope) की आवश्यकता होती है। यदि हम चर्म के तनिक से टुकड़े को जो $\frac{१}{१०}$ वर्ग इंच है, यंत्र के नीचे रखकर देखें, तो उसमें हमें सहस्रों सेल दिखाई देंगे। इससे हम सेल के आकार का कुछ अनुमान कर सकते हैं। एक साधारण सेल का व्यास $\frac{१}{३००}$ से $\frac{१}{२००}$ इंच तक होता है। यह सेल स्वयं परमाणुओं से निर्मित होते हैं। रासायनिक विद्वानों ने इन सेलों का भी विश्लेषण इत्यादि क्रियाओं द्वारा भली भाँति अध्ययन किया है। उनकी सम्मति के अनुसार प्रत्येक सेल में सहस्रों परमाणु होते हैं, जो अणुओं के स्वरूप में एकत्रित होकर वहाँ उपस्थित रहते हैं। यदि इन सेलों के रासायनिक संगठन को अनेंद्रिक पदार्थों के संगठन से तुलना की जाय, तो पता लगेगा कि सेल की रचना बड़ी ही गूढ़ है। जल के एक अणु में हाइड्रोजन के दो और ऑक्सीजन का एक परमाणु रहता है। नाइट्रिक अम्ल के एक अणु में एक परमाणु हाइड्रोजन एक परमाणु नाइट्रोजन और तीन परमाणु ऑक्सीजन के रहते हैं। किंतु प्रोटोप्लाज़्म (जिसकी व्याख्या आगे चलकर की जायगी) के एक अणु में सहस्रों परमाणु होते हैं। यकृत का एक सेल, जिसके भीतर एक केंद्र और प्रोटोप्लाज़्म रहता है और जो माइक्रोस्कोप की सहायता के बिना नहीं देखा जा सकता, २००,०००,०००,०००,००० परमाणुओं का बना हुआ है, जो

६५, ०००, ०००, ००० अणुओं में संगृहीत हैं। एक साधारण मानविक डिंभ में, जो एक बिंदु से भी छोटा होता है, ८ ६५०, ०००,०००,०००,०००,००० परमाणु रहते हैं, जो १,७२८,०००, ०००,०००,००० अणुओं के रूप में एकत्रित हो जाते हैं।

सेलों के आकार भिन्न-भिन्न होते हैं। किसी अंग का सेल गोल होता है, किसी स्थान का सेल चपटा होता है। मस्तिष्क के सेलों में शाखाएँ होती हैं। यकृत के सेल अष्ट कोणीय होते हैं, मांसपेशी के सेल लंबे होते हैं। इस आकार की भिन्नता का एक कारण है। भिन्न-भिन्न अंगों को भिन्न-भिन्न काम करना पड़ता है। मस्तिष्क विचार करता है, फुफ्फुस शुद्ध वायु द्वारा रक्त को शुद्ध करता है, चर्म को नीचे के अंगों की रक्षा करनी पड़ती है, मांसपेशियों को गति करनी पड़ती है, आमाशय को भोजन पचाना होता है। इसी प्रकार दूसरे अंगों को दूसरे काम करने होते हैं। इस कार्य की भिन्नता का यह परिणाम है कि अंगों की रचना में भी भिन्नता आ गई है। प्रत्येक अंग के सेल का आकार व रचना उस कार्य के लिये उपयुक्त है, जो उसे करना पड़ता है। इस प्रकार यह रचना-विभेदन श्रम-विभाग का फल है। जो छोटे श्रेणी के सदस्य हैं, जहाँ जीवन के आवश्यक कार्य एक ही व कुछ सेलों द्वारा संपादन होते हैं, वहाँ सब सेल समान हैं। आकार में किसी प्रकार की भिन्नता देखने में नहीं आती। इस प्रकार कार्य के विभाग के कारण आकृति में भिन्नता उत्पन्न हो गई है।

एक साधारण सेल जिसको उदाहरण-स्वरूप हम सामने रख सकते हैं, गोल होता है। बाहर एक आवरण रहता है जिसके भीतर एक केंद्र होता है। केंद्र के चारों ओर सेल का प्रोटोप्लाज़्म रहता है। चित्र की ओर देखने से सेल की रचना सहज ही समझ में आ जायगी।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ये सेल बिना माइक्रोस्कोप की सहायता के दिखाई नहीं दे सकते। इनको देखने के लिये विशेष रासायनिक पदार्थों द्वारा इनको रँगना पड़ता है, जिसको अँगरेज़ी-भाषा में Staining कहते हैं। इस विधि से यह लाभ होता है कि सेल के भिन्न-भिन्न भाग भिन्न-भिन्न रंग ले लेते हैं। केंद्र का रंग कुछ और हो जाता है। प्रोटोप्लाज़्म का रंग दूसरा होता है और आवरण बिलकुल ही भिन्न रहता है। इस प्रकार सेल के सब भागों का भली भाँति निरीक्षण होना सहज हो जाता है। प्रोटोप्लाज़्म की बनावट भी सुगमता से देखी जा सकती है।

एक रंजित सेल को माइक्रोस्कोप द्वारा देखने से मालूम होता है कि प्रोटोप्लाज़्म की रचना बड़ी विचित्र है। सेल के प्रोटोप्लाज़्म में चारों ओर एक जाल फैला हुआ मालूम होता है, जिसके तागों पर कुछ दाने दिखाई देते हैं। इस जाल के कोष्ठों के भीतर एक तरल वस्तु भरी मालूम होती है। यह तरल वस्तु रचनाविहीन दिखाई देती है। अर्थात् इसमें कोई विशेष रचना नहीं मालूम होती। सारा दृश्य ऐसा दिखाई देता है, जैसा कि पानी और तेल को मिलाकर बरतन को भली भाँति हिलाने से उत्पन्न हो जाता है। प्रोटोप्लाज़्म की रचना के संबंध में बहुत मतभेद है। ऊपर बताया हुआ मत मिस्टर लीडिग (Leydig) का है और सर इ० शार्पे शेफ़र (Sir E. Sharpey Schafer) जो इस विषय के धुरंधर माने जाते हैं, इस मत से सहमत हैं ; किंतु तो भी कुछ दूसरे विद्वानों का कथन है कि यह दृश्य केवल रंजक-वस्तुओं की रासायनिक क्रियाओं से उत्पन्न हो जाता है। प्रोफ़ेसर शेफ़र ने कई भाँति के प्रयोगों द्वारा इस मत का बहुत समर्थन किया है और दूसरे सिद्धांतों की अपेक्षा इसको अधिक लोग मानते हैं।

जो कुछ भी हो, यह निश्चित है कि सेल रचना-विहीन पदार्थ नहीं है। जड़ सृष्टि में इस भाँति की बनावट कहीं नहीं पाई जाती। चेतन सृष्टि, जिसमें वृक्ष इत्यादि सब सम्मिलित हैं, के सेलों में इसी तरह की रचना देखी जाती है, यद्यपि वह सब स्थानों में एक सी नहीं होती।

प्रोटोप्लाज़्म इतनी कोमल वस्तु है कि वह जीवित अवस्था में सेल से भिन्न नहीं किया जा सकता। इस कारण रासायनिक परीक्षाओं के लिये केवल मृत प्रोटोप्लाज़्म मिलता है, तो भी रासायनिक संगठन जानने के लिये उसका विश्लेषण इत्यादि किया गया है। फल-स्वरूप यह मालूम हुआ है कि प्रोटोप्लाज़्म में कम से कम तीन चौथाई जल का भाग रहता है। इसके अतिरिक्त इसमें प्रोटीन पाई जाती है, जो कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन और फ़ास्फ़ोरस इत्यादि के संयोग से बनती है। वसा (Fat) के समान भी कुछ वस्तु पाई जाती है। इन सब वस्तुओं के अतिरिक्त प्रोटोप्लाज़्म में कुछ खनिज पदार्थ भी उपस्थित रहते हैं।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सेल में एक केंद्र रहता है जिसको Nucleus कहा जाता है। इसका स्थान सेल के बीच में होता है। किसी-किसी सेल में केंद्र एक ओर को भी पाया जाता है। इसका आकार गोल होता है। अंडे के आकार का भी केंद्र अधिकता से पाया जाता है। कहीं-कहीं इसका आकार बिलकुल क्रम-हीन होता है। कभी-कभी सेल में दो व इससे भी अधिक केंद्र पाए जाते हैं। केंद्र सेल का पोषक स्थान होता है। यदि किसी भाँति केंद्र की मृत्यु हो जाय, तो सेल भी नष्ट हो जायगा। जब सेल में भाग (Division) होता है, तो प्रथम केंद्र विभाजित होता है। उसके पश्चात् प्रोटोप्लाज़्म की बारी आती है। इससे मालूम होता है

कि सेल की शक्ति अथवा उसका जीवन केंद्र के अधीन है। बहुधा केंद्र के भीतर और भी छोटे केंद्र दिखाई देते हैं, जिनको केंद्राणु कहते हैं। केंद्र के अतिरिक्त बहुत से सेलों में एक और विशेष अवयव दिखाई देता है, जिसको Centriole कहते हैं। यह एक बिंदु होता है, जिसके चारों ओर प्रोटोप्लाज़्म के तार जमा हो जाते हैं। यह सारा दृश्य आकर्षण-मंडल कहलाता है। यह मंडल उन सेलों में अधिकतर पाया जाता है, जिनमें भाग होनेवाला होता है।

किसी-किसी केंद्र में एक शून्य स्थान (Vacuole) भी मिलता है। इस प्रकार एक सेल में निम्नलिखित भाग रहते हैं—

१. सेल आवरण.	३. केंद्र.	५ आकर्षण-मंडल.
२. प्रोटोप्लाज़्म.	४. केंद्राणु.	६. शून्य स्थान.
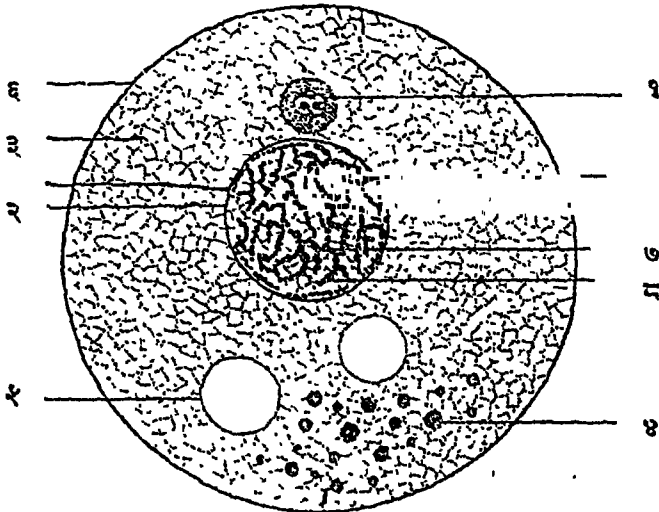
चित्र नं० २—सेल का विस्तृत आकार

१—आकर्षण-मंडल, २—केंद्र, ३—प्रोटो-प्लाज़्म, ४—अन्य प्रकार के कण, ५—शून्य स्थान, ६—सेल आवरण, ७—लिनिन के सूत्र, ८—क्रोमेटिन के समूह।

यह सेल का भौतिक और रासायनिक स्वरूप हुआ। किंतु सबसे आश्चर्यजनक जो बात है, वह सेल की शक्तियाँ हैं। आठ व दस निर्जीव जड़-वस्तुओं का संग्रह सेल उन सब शक्तियों का समूह है, जो जड़ को चेतन से व निर्जीव को जीवित से भिन्न करती हैं। सेल में क्रिया करने की शक्ति है : वह गतिशक्ति-सपन्न है। वह भोजन का आत्मीकरण कर सकता है। वृद्धि उसका गुण है। हमारी भाँति वह भी शुद्ध वायु को ग्रहण करता है और अशुद्ध वायु को निकालता है। यह सब क्रियाएँ मृतक व जड़ पदार्थों में नहीं होतीं। भिन्न भिन्न क्रियाओं में सेल के परमाणु बराबर टूटते रहते हैं। अर्थात् उनमें ह्रास होता रहता है, किंतु सेल में यह शक्ति है कि वह उनको फिर बना लेता है। वृद्धि के काल में विशेषकर सेलों का बनना अधिक होता है और ह्रास कम होता है जिसका परिणाम वृद्धि है। यह सेल की, अथवा यों कहना चाहिए कि प्रोटोप्लाज़्म की, एक अद्भुत शक्ति है कि वह साधारण जड़ भोजन पदार्थ ग्रहण करके अपने नष्ट भाग को फिर पूर्ववत् बना लेते हैं। अथवा अपनी संख्या अधिक बढ़ा लेते हैं। अर्थात् नवीन सेल व प्रोटोप्लाज़्म बन जाता है। सेल शर्करा से कार्बन ले सकता है : वसा व चर्बी घृत तैल इत्यादि से कार्बन और हाइड्रोजन ले सकता है : दूध से नाइट्रोजन ग्रहण कर सकता है और अपनी अद्भुत शक्ति से इन जड़ वस्तुओं से जीवन के मूल प्रोटोप्लाज़्म को बना लेता है।

जैसा ऊपर लिखे हुए वर्णन से विदित है। सेल एक प्रोटोप्लाज़्म के समूह का नाम है, जिसमें केंद्र भी स्थित रहता है। जैसे काग़ज़ के एक लिफ़ाफ़े में कोई और वस्तु भरी जा सकती है, इसी प्रकार सेल के आवरण के भीतर प्रोटोप्लाज़्म और केंद्र भरे रहते हैं। किंतु मुख्य वस्तु प्रोटोप्लाज़्म ही है। केंद्र भी एक प्रकार के प्रोटोप्लाज़्म

ही का बना हुआ है, जिसका रासायनिक संगठन कुछ भिन्न हो गया है। ऊपर कही हुई शक्तियाँ सब प्रोटोप्लाज़्म ही के गुण हैं।

प्रोटोप्लाज़्म का सबसे बड़ा गुण उत्तेजित्व है। जहाँ शरीर पर एक मक्खी बैठती है, तुरंत ही मालूम हो जाता है। यदि किसी स्थान में एक पिन चुभ जाती है, तो तुरंत ही मस्तिष्क को इस बात का ज्ञान हो जाता है। यह सब उत्तेजित्व ही का फल है। शरीर के जिस स्थान पर इस प्रकार की कोई पीड़ा व वेदना होती है, तो उस स्थान के प्रोटोप्लाज़्म में उसी समय उत्तेजना उत्पन्न हो जाती है। उस स्थान से लगातार मस्तिष्क को सूचनाएं जाने लगती हैं कि शरीर के अमुक स्थान में एक अशुभ घटना हो रही है। जब तक वह कष्ट शरीर से दूर नहीं हो जाता, उस समय तक यह सूचनाएँ बराबर पहुँचती रहती हैं। जिस समय यह कष्ट बंद हो जाता है, तो उस स्थान की उत्तेजना भी जाती रहती है और मस्तिष्क को कोई सूचना नहीं जाती। यदि ऐसा न होता, तो शरीर को बहुत हानि होना संभव था। शरीर का भाग, एक ओर कटा करता और वह मालूम भी न होता। ज्वर आने से, अंग के कट जाने से, फोड़े से व अन्य प्रकार से जो कष्ट होता है, वह प्रोटोप्लाज़्म की उत्तेजना ही का एक स्वरूप है।

यदि उत्तेजित्व के गुण की कोई भली भाँति परीक्षा करना चाहे, तो वह सूक्ष्मदर्शक यंत्र के नीचे एक अमीबा (Omoeba) को रखकर देख सकता है। यह अमीबा नाम का जंतु एक सेलीय होता है। यह प्रोटोप्लाज़्म का एक पिंड है जो स्वयं जीवन के सब आवश्यक कार्यों को संपादन करता है; चलता है; भोजन करता है; मल का त्याग करता है और इसमें वृद्धि होती है। यह संतान उत्पन्न करता है, जिससे उसके वंश का नाश नहीं

होने पाता। यह सब कार्य केवल एक ही सेल द्वारा पूरे होते हैं। यदि इसको एक काँच के स्लाइड पर रखकर सूक्ष्मदर्शक यंत्र के नीचे रखकर देखा जाय, तो मालूम होगा कि यह अमीबा अपने शरीर को लुढ़काता हुआ चारों ओर को घूमता है। पहिले इसके शरीर का एक भाग एक ओर को बढ़ता है और फिर सारा शरीर उसी ओर को बढ़ जाता है। यदि उस स्थान पर जिस ओर को अमीबा बढ़ रहा हो, किसी अम्ल की, जैसे कि नाइट्रिक अम्ल, एक बूंद रख दी जाय, तो ज्योंही जंतु के शरीर का वह भाग जो आगे को बढ़ रहा है अम्ल बिंदु से छुयेगा त्योंही अमीबा उस भाग को पीछे की ओर सिकोड़ता हुआ दिखाई देगा और तुरंत ही सारे शरीर की गति दूसरी ओर को आरंभ हो जायगी।

यह उत्तेजित्व का एक बहुत ही बड़ा उदाहरण है। ज्यों ही अमीबा का शरीर उस अम्लबिंदु के संपर्क में आया, त्योंही उस भाग के प्रोटोप्लाज़्म में ऐसी उत्तेजना उत्पन्न हो गई, जिसने उसको बता दिया कि आगे एक हानिकारक वस्तु रखी हुई है। अतएव उस ओर नहीं बढ़ना चाहिए। इसलिए तुरंत ही अमीबा दूसरी ओर को भागने लगता है। 'हित अनहित निज पशु पहिचाना।' प्रकृति ने संसार में छोटे-से-छोटे जीव को इस बात की शक्ति दी है कि वह अपना भला-बुरा पहिचान सके। अमीबा के शरीर में कोई मस्तिष्क नहीं है, न कहीं किसी भाँति की नाड़ी का कुछ लेश भी पाया जाता है; किंतु तो भी वह इस बात को जान लेता है, अमुक स्थान में मेरा शत्रु बैठा हुआ है। वहाँ जाना मेरे लिये हानि-कारक है।

इस भाँति यह प्रोटोप्लाज़्म का गुण है कि वह किसी पदार्थ के आघात व विद्युत् अथवा रासायनिक पदार्थों के संपर्क से उत्तेजित

हो जाता है। यदि अमीबा के शरीर पर एक सुई चुभाई जाय व किसी प्रकार विद्युत् वहाँ तक पहुँचाई जा सके, तो भी अमीबा इसी भाँति भागने लगता है।

प्रोटोप्लाज़्म को जीवित रहने के लिये ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार हम श्वास लेते हैं, वायु के शुद्ध भाग को ग्रहण करते हैं और शरीर के भीतर की अशुद्ध वायु को निकाल देते हैं, उसी प्रकार प्रोटोप्लाज़्म वायु से ऑक्सीजन ग्रहण करता है और कार्बन-डाई-ऑक्साइड (Carbon di oxide) को लौटा देता है। प्रोटोप्लाज़्म की जितनी भी क्रियाएँ हैं, उन सबके लिये ऑक्सीजन की अत्यंतावश्यकता है। सेल का भोजन ग्रहण करना और उसका आत्मीकरण ऑक्सीजन पर निर्भर करता है।

भोजन ग्रहण किये बिना संसार में कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता। वृक्ष, पशु, पक्षी सभी कहीं-न-कहीं से अपना भोजन प्राप्त करते हैं। वृक्ष वायु से कार्बन और पृथ्वी से जल व दूसरे लवण व अन्य आवश्यक वस्तुएँ ग्रहण करते हैं। वृक्ष की पत्तियों में एक हरे रंग की वस्तु रहती है, जिसे क्लोरोफ़िल कहते हैं। इसका यह गुण होता है कि वायु की कार्बन-डाई-ऑक्साइड को जो हमारे और पशुओं के शरीर तथा सड़ती हुई वस्तुओं से निकलकर वायु में मिल जाती है, सोख लेते हैं और उससे कार्बन बनाते हैं जो हमारे भोजन का मुख्य भाग होता है। इस प्रकार वृक्ष न केवल उसी अशुद्ध वायु से, जिसे हम शरीर से मल की भाँति त्याग देते हैं, हमारे लिये भोजन बनाते हैं; किंतु आकाश की वायु को भी स्वच्छ करते हैं।

इन्हीं वृक्षों द्वारा बनाए हुए भोजन को ग्रहण करने से हमारे शरीर का प्रोटोप्लाज़्म जीवित रहता है। भोजन को ग्रहण करने

और उसके आत्मीकरण करने में बहुत से रासायनिक परिवर्तन होते हैं, जो बहुत ही गूढ़ हैं।

प्रोटोप्लाज़्म न केवल भोजन करके स्वयं ही वृद्धि को प्राप्त होता है ; किंतु इसमें उत्पत्ति की भी शक्ति है। प्रकृति ने इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि उसने जिन श्रेणियों, जातियों व वंशों का निर्माण किया है, वे किसी भाँति नाश न होने पावें। यह प्रकृति का पहला नियम है कि वह सब प्रकार से निर्मित जातियों का संरक्षण करती है। एक छोटे-से-छोटा जीव जैसे अमीबा भी संतानोत्पत्ति करता है। उससे भी छोटे जीव जैसे बहुत से रोगोत्पादक जीवाणुओं में भी उत्पत्ति होती है। ऊँची श्रेणी और नीची श्रेणियों की उत्पत्ति विधि में अंतर है। नीची श्रेणियों में, जैसे कि अमीबा, स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं होता ; क्योंकि वहाँ सारे कार्य एक ही सेल द्वारा पूरे होते हैं। उत्पत्ति होते समय सेल के आवरण में एक स्थान पर हलका-सा गढ़ा हो जाता है। यह गढ़ा धीरे-धीरे सेल के चारों ओर फैलता है। इस प्रकार कुछ समय में सेल के चारों ओर एक गहरी लकीर बन जाती है, जो समय पाकर और गहरी होती चली जाती है। इसी समय केंद्र कुछ लंबा होकर दो भागों में विभाजित हो जाता है। अंत में एक केंद्र के स्थान में दो केंद्र हो जाते हैं। आवरण में जो गहरी लकीर पड़ गई थी, वह और गहरी हो जाती है। यहाँ तक कि दोनों ओर की लकीरें आपस में मिल जाती हैं। इस प्रकार एक सेल के दो सेल हो जाते हैं। कुछ समय तक यह दोनों सेल आपस में जुड़े रहते हैं। अंत में दोनों अलग होकर अपना-अपना जीवन स्वतंत्रता से व्यतीत करते हैं।

ऊँची श्रेणी के सदस्यों में उत्पत्ति भिन्न प्रकार से होती है। यहाँ मैथुनी सृष्टि होती है। स्त्री और पुरुष दोनों भिन्न होते हैं। स्त्री

एक प्रकार के सेल उत्पन्न करती है, पुरुष दूसरे प्रकार के सेल बनाता है। स्त्री के सेल Ovum कहलाते हैं। पुरुष के सेल Sperm कहे जाते हैं। स्त्री-सेल आकार में कुछ गोल होता है और स्थायी अथवा अक्रियात्मक होता है। पुरुष-सेल बड़ा तीव्र और क्रियात्मक होता है। जब स्त्री और पुरुष दोनों का संयोग होता है, तो स्त्री-सेल और पुरुष-सेल का मेल होता है। पुरुष-सेल अपने नोकीले शिर की ओर से स्त्री-सेल का आवरण फाड़कर भीतर घुस जाता है। इसके पश्चात् दोनों सेलों के केंद्र एक हो जाते हैं और अंत में दोनों सेलों के मेल से एक सेल बन जाता है। इस सेल में वृद्धि आरंभ होती है, और कुछ समय के पश्चात् उसमें भाग होना आरंभ होता है। यह भाग उसी प्रकार होता है जैसे कि नीचे की श्रेणियों के सदस्यों में होता है। एक सेल के दो होते हैं; दो के चार होते हैं; चार के आठ; आठ के सोलह; सोलह के बत्तीस होते हैं। इसी प्रकार संख्या बढ़ती जाती है।

नीचे की श्रेणी में सब सेल एक दूसरे से भिन्न हो जाते हैं; किंतु यहाँ ऐसा नहीं होता। सब सेल आपस में मिले रहते हैं। भिन्न-भिन्न सेल भिन्न-भिन्न अंगों को रचना करते हैं। कुछ सेल मस्तिष्क बनाते हैं, तो दूसरों से यकृत बनता है। अस्थि यदि एक सेल-समूह से बनती है, तो वृक्क को बनानेवाले दूसरे ही सेल हैं। इस प्रकार भिन्न सेलों से भिन्न-भिन्न अंग बनते चले जाते हैं। समय पाकर ये अंग पूर्ण विकास को प्राप्त होते हैं, जिसके लिये अधिक सेलों की आवश्यकता होती है। यह संख्या सेलों के भाग होने से पूर्ण होती है।

वृक्ष का बीज स्त्री और पुरुष-सेल के संयोग से तय्यार होता है। नारंगी, नीम, आम इत्यादि के वृक्ष सब बीजों द्वारा उत्पन्न

होते हैं। इसी प्रकार मनुष्य, घोड़ा व दूसरे पशु बीज ही से उत्पन्न होते हैं। ये सब बीज एक ही समान रासायनिक मौलिकों से बनते हैं। वे हाइड्रोजन, ऑक्सीजन और नाइट्रोजन इत्यादि के मेल से बने हैं। किंतु इन भिन्न-भिन्न बीजों से पृथक्-पृथक् वृक्ष उत्पन्न होते हैं। जो नीम का बीज है, उसमें नीम ही का वृक्ष उत्पन्न होगा। आम का बीज आम ही का वृक्ष उत्पन्न करेगा। उससे जामुन नहीं उत्पन्न होगी। प्रकृति में ऐसी कोई भूल कभी देखने में नहीं आती कि यदि नारंगी का बीज हो, तो उससे कभी नींबू का वृक्ष उत्पन्न हो जाय। संसार में जितने भी बीज हैं, चाहे वृक्ष के हों अथवा पशु के, वे सब अपने ही वंशज को उत्पन्न करते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य और पशु के बीज भी एक अद्भुत वस्तु हैं। यह कितना आश्चर्यजनक है कि पाँच व सात निर्जीव मौलिकों का एक छोटा-सा समूह, जिसका आकार इस पृष्ठ के छोटे-से-छोटे विंदु से भी छोटा है, उसमें इतनी अद्भुत शक्ति हो कि वह चारों ओर से सब आवश्यक सामग्री एकत्रित कर ले और एक ठीक निश्चित समय पर अपनी वृद्धि आरंभ करे। न केवल यही, किंतु यही एक बीज संसार में सबसे अधिक अद्भुत और गूढ़ यंत्र के सब भागों को बनाकर कुछ समय के पश्चात् एक पूर्ण मनुष्य तय्यार कर दे। यह बीज कभी कोई भूल नहीं करता। मनुष्य के बीज से मनुष्य ही बनता है। घोड़े का बीज घोड़े ही को उत्पन्न करता है न कि किसी दूसरे पशु को। यह अद्भुत शक्ति और लीला यहीं समाप्त नहीं होती। मालूम होता है कि प्रत्येक बीज व सेल जानता है कि उसे कौन-कौन अंग किस-किस स्थान पर बनाने हैं। उसे अपना आगे का कार्य-क्रम भली भाँति ज्ञात है। ऐसा नहीं होता है कि बाहु के स्थान में टाँगें उत्पन्न हो

जायँ अथवा नेत्र आगे की ओर होने के बजाय शिर के पीछे की ओर हों।

बहुत से भिन्न जातियों के पशुओं के उत्पादक सेल, जिसको डिंभ (Ovum) कहते हैं, आकार में एक समान होते हैं। देखने से उनमें कोई भी अंतर नहीं दिखाई पड़ता। उनका रासायनिक संगठन भी एक ही सा होता है। प्रोफ़ेसर हैकेल (Haeckel) का कथन है कि "सबसे अधिक शक्तिशाली माइक्रोस्कोप की सहायता से, जो आधुनिक समय में हमको मिल सकती है, हम मनुष्य, घोड़ा, बंदर, कुत्ता व अन्य पशुओं के डिंभों में अंतर करने में असमर्थ हैं। रासायनिक विद्वान् उनमें कोई विशेष अंतर नहीं मालूम कर सकते। वे सब केवल हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बन, गंधक इत्यादि के बने हुए हैं। डिंभ में जब वृद्धि आरंभ हो जाती है, तब भी उसमें कोई विशेष अंतर नहीं मालूम होता। वास्तव में चौथे मास तक मनुष्य के भ्रूण में ऐसी कोई विशेषता नहीं मालूम होती, जिससे उसको बैल, घोड़े व ख़रगोश के भ्रूण से पृथक् किया जा सके। उसमें विशेष आकृति उस समय उत्पन्न होती है, जब भ्रूण छठे महीने में पहुँच जाता है।"

भिन्न-भिन्न बीजों में इतनी समानता होते हुए भी उनके फल भिन्न ही होते हैं। एक तनिक-सा बिंदु जो देखने में भी नहीं आ सकता बढ़कर एक छः फिट का मनुष्य बन जाता है। दूसरे समान बीज से हस्ती उत्पन्न होता है। तीसरा बीज एक सुंदर पक्षी के शरीर को बना देता है। कुछ निर्जीव मौलिक वस्तुओं का समूह वह काम कर दिखाता है, जो बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक विद्वान् नहीं कर सकता। यह समूह ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, कार्बन आदि को अपने चारों ओर से संग्रह करता है और उनसे जीवनमूल

प्रोटोप्लाज़्म बनाता है। यह प्रोटोप्लाज़्म भी वही कार्य करता है; कुछ वस्तु पृथ्वी से ग्रहण करता है : कुछ वायु से लेता है और अंत को मूल, तना, पत्तियाँ, सुंदर पुष्प और फल इत्यादि सब बना देता है। इन सब आश्चर्यजनक घटनाओं को रात दिवस देखने से हम उनको इतनी साधारण बातें समझने लगे हैं कि उनकी ओर हमारा कभी ध्यान भी नहीं जाता।
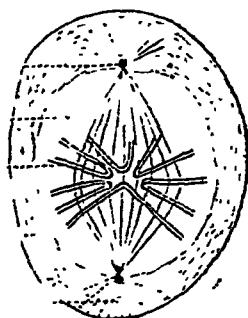
चित्र न० २—एक विभाजित होनेवाले सेल के क्रोमोसोम

सबसे बड़ी आश्चर्य की जो बात है और जिसका वैज्ञानिक लोग अभी तक कुछ संतोषजनक पता नहीं लगा सके हैं, वह उत्पादक सेलों द्वारा माता-पिता के गुणों का संतान में संक्रमित होना है। यह एक साधारण अनुभव है कि संतान में अधिकतर वही गुण पाए जाते हैं, जो माता-पिता में होते हैं। आकृति भी बहुधा मिलती-जुलती होती है। यह सब माता-पिता के गुण इस सेल ही के द्वारा संतान में पहुँचते हैं। यदि एक ऐसे सेल को ध्यान से माइक्रोस्कोप द्वारा देखा जाय, जिसमें भाग हो रहा है, तो यह दिखाई देगा कि केंद्र के टूटने से व उसके विकृत हो जाने से कुछ

विशेष आकार के समान पदार्थ बन जाते हैं। इनको क्रोमोसोम कहते हैं। यही क्रोमोसोम माता-पिता के गुणों के वाहक माने जाते हैं। किंतु कौन-कौन से क्रोमोसोम कौन-कौन गुणों के वाहक होते हैं व माता-पिता के कौन-कौन गुण संतान में आते हैं, इसका अभी तक ठीक ज्ञान नहीं है। कभी-कभी यह देखा जाता है कि माता व पिता के गुण बच्चे में नहीं आते ; किंतु पितामह अथवा उनके भी पूर्वज के गुण बच्चे में मिलते हैं। इस घटना को Atavism कहते हैं।

चित्र नं० ३ क—सैलेंडर जंतु के लार्वा के उपचर्म के सेल

वृद्धिक्रम (Development) में भ्रूण को भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में होकर निकलना पड़ता है। यह माना जाता है कि यह

भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ उन दशाओं की दर्शक हैं, जिनके द्वारा इस सृष्टि पर जीवन अपने सूक्ष्म रूप से, अर्थात् एक-सेलीय अवस्था से, मनुष्य की अवस्था को प्राप्त हुआ है। विकास के अनुसार सबसे पहले पृथ्वी पर जीवन एक-सेलीय रूप में वर्तमान था। ज्यों-ज्यों विकास होता गया, इसका भी रूप बदलता गया। एक-सेलीय अवस्था से बहु-सेलीय हुआ, जो Polyp की दशा थी। धीरे-धीरे दशा बढ़ती रही और इसी क्रम से मनुष्य की अवस्था पहुँची। केंचुवा, कीट, पतंग, बिच्छु, मछली, छपकी, सर्प, गौ व अन्य स्तनधारी जीव इत्यादि इस विकास-क्रम की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ थीं। मनुष्य अवस्था जीवन के विकास की अंतिम अवस्था का स्वरूप है, जो अब तक प्राप्त हो सका है। डिंभ के वृद्धिक्रम में जो भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ पाई जाती हैं, वे जीवन के विकास-क्रम की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की सूचक हैं। प्रथम डिंभावस्था एक-सेलीय अवस्था की सूचक है। दूसरी अवस्था, जिसमें डिंभ बहु-सेल युक्त हो जाता है, बहु-सेलीय जीवन जैसे polyp का चिह्न है। वृद्धि में एक समय पर भ्रूण की गर्दन में चार गहरी लकीरें रहती हैं और वहाँ रक्त की नलिकाएँ भी इस प्रकार स्थित होती हैं, जैसे कि मछली के गलफड़ों में। इसके ऊपर एक चर्म का पतला-सा परत रहता है। वृद्धि होने पर यह चर्म का परत इत्यादि सब जाते रहते हैं, किंतु किसी-किसी मनुष्य के गले में हलका-सा गड्ढा व कुछ लटकता हुआ मांस रह जाता है। वह मछली की अवस्था के चिह्न होते हैं। कुछ बच्चों में ख़रगोश के समान आगे का ओष्ठ बीच से कटा हुआ होता है जिसको Hare Lip कहते हैं। वास्तव में Shark नाम के समुद्र के जंतु में ऐसा ही ओष्ठ पाया जाता है। इससे मालूम होता है कि यह ओष्ठ शार्क अवस्था का

चिह्न है। कुछ मनुष्यों में जन्म ही से बीच से चिरा हुआ तालु पाया जाता है। इस प्रकार का तालु जितने रेंगनेवाले जंतु हैं, जैसे छपकी, जिनको Reptiles कहते हैं, उनमें पाया जाता है। अतएव यह उस दशा का द्योतक है। इसी प्रकार की और भी बहुत-सी बातें पाई जाती हैं, जिनको वैज्ञानिक लोग ऊपर के कहे हुए सिद्धांत के समर्थन में प्रयोग करते हैं।

किसी समय यह माना जाता था कि डिंभ में मनुष्य सूक्ष्म रूप में वर्तमान है, जैसे कि बीज में वृक्ष वर्तमान है। यह कथन सत्य माना जा सकता है: क्योंकि बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है और डिंभ से बढ़कर मनुष्य होता है। यदि इसका यह अर्थ लगाया जाय, जैसा कि इस मत के वादी कहते थे, कि डिंभ में मनुष्य के सब अंग, आकृति इत्यादि उपस्थित हैं, जैसे कि बीज में वृक्ष का तना, मूल, शाखाएँ, फल इत्यादि सब वर्तमान हैं, किंतु अत्यंत सूक्ष्म रूप में हैं, तो यह मत सर्वथा ही असत्य मानना है। अधिक-से-अधिक शक्तिवाले यंत्र कोई इस प्रकार की रचना नहीं दिखा सकते। वृद्धिक्रम की उन अवस्थाओं का जब भिन्न-भिन्न अंगों का बनना आरंभ होता है, भली भाँति अन्वेषण हो चुका है। यह भली भाँति मालूम कर लिया गया है कि कौन अंग किस समय पर बनना आरंभ होते हैं। यही बात वृक्ष के बारे में भी सत्य है।

ऊपर कहा जा चुका है कि उत्पत्ति सृष्टि का नियम है। निम्न श्रेणी के जीव, उच्च श्रेणी के जीव और सब प्रकार के जीवों के शरीरों के सेल, जिसमें वृक्ष इत्यादि भी सम्मिलित हैं, सब उत्पत्ति करते हैं। नीचे के श्रेणीवाले सदस्यों की उत्पत्ति का पहले वर्णन किया जा चुका है। उनके सेलों में भाग होता है। एक सेल के दो सेल

हो जाते हैं, दो के चार : इसी प्रकार यह उत्पत्ति-क्रम जारी रहता है। एक-सेलीय जीवों में यह सब सेल स्वतंत्र होते हैं।

इन जीवों में इस प्रकार उत्पत्ति बहुत शीघ्रता से होती है। विशूचिका का जीवाणु (Vibvio cholerae) परिस्थिति के अनुकूल होने पर, प्रत्येक बीस मिनट में एक बार विभाजित होता है। इस प्रकार चौबीस घंटे में एक जीवाणु से, ५,०००,०००,०००,०००, ०००,०००,००० जीवाणु बन सकते हैं, जिनका बोझ ७३६६ टन होगा। यदि यह उत्पत्ति कुछ दिवस तक बराबर होती रहे और पैदा हुए जीवाणुओं का नाश न हो, तो यह जीवाणुओं का समूह चंद्रमा के बराबर बड़ा हो जायगा।

इस प्रकार एक जीव से दूसरा जीव उत्पन्न होता है। दूसरे जीव से तीसरी संतति होती है, जो इस क्रम को जारी रखती है। सृष्टि के आदि से यही क्रम चला आया है और चला जायगा। आजकल जो लाखों प्रकार के जीव दिखाई देते हैं, वह सब सृष्टि के आदिवाले एक-सेलीय जीव से विकसित हैं। इस प्रकार वह जीवन-मूल जो सृष्टि के आदि में था, वह आज भी वर्तमान है और आगे भी रहेगा। एक जीव के शरीर में कुछ विशेष सेल उत्पन्न होते हैं, जिनका काम केवल उत्पत्ति का है। वह जब अपने साथी दूसरे जाति के सेल से मिलते हैं, तो एक दूसरे व्यक्ति को उत्पन्न करते हैं। यह व्यक्ति फिर उन सेलों को उत्पन्न करता है, जिससे दूसरे व्यक्ति का जीवन आरंभ होता है। इस प्रकार यह जीवन-मूल प्रोटोप्लाज़्म बराबर जारी रहता है। इस कारण एक जर्मन विज्ञान-वेत्ता ने Continuity of Germ-plasm के सिद्धांत का निर्माण किया है। इनका कथन है कि एक ऐसी वस्तु जो युगांतरों में भी अपना कुछ-न-कुछ अस्तित्व बनाए रख सकती है, वह अवश्य ही

अमर है। एक अमेरिका के महाशय इनसे भी आगे बढ़ गए हैं। उन्होंने प्रयोगों द्वारा दिखाया है कि एक मृत मनुष्य के शरीर के सेलों को यदि किसी उचित पोषक-पदार्थ में उपयुक्त दशाओं में रखा जाय, तो उन सेलों में बराबर उत्पत्ति होती रहेगी।

संसार में जितने भी साम्राज्य हैं, उनमें सबसे अद्भुत, परोपकारी, कार्यदक्ष और शांति-प्रिय साम्राज्य इस मानव-यंत्र में पाया जाता है। न यहाँ प्रजातंत्र राज्य है, न प्रतिनिधि-सत्ता का आडंबर, न एक राजा का शब्द क़ानून है; यहाँ पूर्ण राम-राज्य है। यहाँ एक उत्तम साम्राज्य की सब संस्थाएँ उपस्थित हैं और प्रत्येक का कार्य अलग-अलग है, जिसको वह सब बड़े उत्साह और दक्षता से संपादन करते हैं। म्युनिसिपैलिटी के स्वास्थ्य-विभाग का कार्य वृक्क, यकृत, फुफ्फुस और चर्म करते हैं। शरीर में जितने दूषित पदार्थ हैं, उनको यकृत और वृक्क शरीर से बाहर निकाल देते हैं। शरीर स्वच्छ हो जाता है। फुफ्फुस शुद्ध वायु को ग्रहण करके रक्त के सब विकारों को दूर कर देता है। रक्त में जो अशुद्ध वायु मिली हुई है, उसे बाहर निकाल देता है और शुद्ध वायु को रक्त में मिला देता है। चर्म स्वेद द्वारा शरीर को शुद्ध करता है। वह शीत व उष्णता के न्यूनाधिक्य से अंगों को बचाता है।

हमारे देश के लिये आवश्यक वस्तुओं को योरप में क्रय करने के लिये एक हाईकमिश्नर नियुक्त है। वह वस्तुओं का क्रय करके हमारे देश में भेजता है। यहाँ आकर वे वस्तुएँ विशेष व्यक्तियों द्वारा संग्रह की जाकर जहाँ-तहाँ व्यय होती हैं। यह शारीरिक साम्राज्य अपने लिये आवश्यक वस्तु हाथों द्वारा बाहर से प्राप्त करता है। तब वे वस्तुएँ मुख द्वारा आमाशय में एकत्रित होकर और पाचक रसों द्वारा ग्राह्यरूप में परिणत होकर, हृदय

में पहुँचती हैं। ये हृदय हमारे साम्राज्य के एकाउंटेंट जेनरल हैं, जो साम्राज्य के प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूरी करते हैं। किंतु हमारे एकाउंटेंट जेनरल की भाँति इनको किसी बजट की आवश्यकता नहीं होती और न इनको Retrencnmeht Slip हो की ज़रूरत पड़ती है। यह महाशय बिना किसी पक्षपात के जिसको जितनी आवश्यकता होती है, उसको उतनी ही सहायता देते हैं।

साम्राज्य की रक्षा के लिये सेना बड़ी आवश्यक है। हमारे देश में सबसे अधिक सेना और पुलिस पर ही व्यय होता है; परंतु तो भी चोरी व अन्य अपराधों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है। परंतु मानव-साम्राज्य की पुलिस और सेना पर व्यय कुछ नहीं और कार्य बहुत उत्तम। ज्यों ही शरीर पर एक भुनगा भी बैठता है, त्यों ही मस्तिष्क को सूचना मिल जाती है। वहाँ सेकिंडों की भी देर नहीं लगती कि फ़रमान जारी हो जाते हैं। यदि शरीर में कोई रोग का जीवाणु प्रवेश कर लेता है, तो हमारे सैनिकगण, रक्त के श्वेताणु, तुरंत उससे युद्ध करने पहुँच जाते हैं। न केवल यही, किंतु सेना के दूसरे भाग भी रिज़र्व (Reserve) से आन उठते हैं।

मस्तिष्क का दरबार तो विचित्र ही है; कुछ समझ में नहीं आता। सारे साम्राज्य की इसको चिंता रहती है। इनका दफ़्तर हर समय खुला रहता है। सेनाओं का संचालन, फ़रमानों का जारी करना, चारों ओर की ख़बरें सुनना, सब बातों का निर्णय करना, किस समय किस अंग के लिये कौन सी बात उचित है, इसका विधान करना इत्यादि कार्य बड़ी दक्षता और तेज़ी से होते हैं। यहाँ फ़ैसले सुनाने में महीनों की आवश्यकता नहीं है। यहाँ

मुद्दई और मुद्दाअलेहों को अपने-अपने गवाह तैयार करने के लिये अवसर नहीं दिया जाता ; न यहाँ आवश्यकता ही होती है । इस अथाह शक्तिशाली दरबार के सामर्थ्य का पता अब तक किसी ने नहीं पाया है ।

इस साम्राज्य की एक विशेषता यह है कि यहाँ के सब कर्म-चारी निष्ठावान्, स्वार्थत्यागी और परोपकारी हैं । वे अपने संचा-लक के सामने अपने भाई की चुग़ली नहीं खाते ; दूसरे का अप्रिय करने का प्रयत्न नहीं करते ; जो कुछ करते हैं, एक दूसरे की भलाई के लिये । एक दूसरे के सुख से सुखी ; एक दूसरे के दुःख में भाग लेनेवाले, कलह से रहित और अपने कार्य को उचित भाँति से करनेवाले हैं । क्या मनुष्य-समाज भी कभी इस उदाहरण का अनुसरण कर सकेगा ? ।

मानव-साम्राज्य का निर्माण और उसकी संस्थाएँ

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मनुष्य कुछ थोड़े से मौलिकों का रासायनिक समूह है। उसके जितने भिन्न-भिन्न अंग हैं, वे सब उन्हीं वस्तुओं के बने हुए हैं, जिनका नाम कार्वन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन इत्यादि हैं। उसके शरीर के बाल और नख भी, जिनके कोई विशेष कार्य नहीं है, उन्हीं वस्तुओं के रासायनिक संयोग से बने हैं, जिनसे कि इस यंत्र का संचालक, बुद्धि का स्थान, विवेचना का भांडार और गूढ़-से-गूढ़ समस्याओं का हल करनेवाला मस्तिष्क बना है। इन वस्तुओं के संबंध में यकृत के सेल और मांसपेशी के सेलों में कोई भी भिन्नता नहीं पाई जाती। चेतना-हीन वृक्ष, अथवा यों कहना चाहिए कि वृक्ष जिनमें चेतना-शक्ति का इतना अधिक विकास नहीं हुआ है, जितना कि मनुष्य में, और एक पशु व मनुष्य के शरीर में, ये मौलिक समान रूप से पाए जाते हैं। तो क्या इन मौलिकों के आपस में केवल

मिलने से मनुष्य तैयार हो गया ? क्या जीवन-मूल प्रोटोप्लाज़्म के तैयार होने के लिये केवल इतना पर्याप्त है कि इन मौलिकों का संगठन हो जाय ? पृथ्वी के आदि में जीवन का किस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ और ये मौलिक कहाँ से आए ? और इनका इस प्रकार संगठन कैसे हुआ कि उससे चैतन्य जीव का प्रादुर्भाव हुआ ?

इन मौलिकों की कथा भी बड़ी लंबी-चौड़ी और अद्भुत है। आदि में पृथ्वी का ऐसा स्वरूप न था जैसा कि इस समय है। यह युग पृथ्वी की वृद्धावस्था का है। उसकी शैशवावस्था बिलकुल ही दूसरे प्रकार की थी। उस समय यह पृथ्वी एक नेबुले (Nebula) के स्वरूप में स्थित थी। सूर्य और नवग्रह सबों का यही स्वरूप था। यह नेबुला, प्रदीप्त और जलते हुए पदार्थ का एक महान् समूह था, जो उस सारे आकाश में, जिसमें इस समय सूर्य और आठों ग्रह स्थित हैं, फैला हुआ था। नेबुला अपने केंद्र पर बहुत तेज़ी के साथ घूम रहा था और उसके साथ-साथ उसके बाहरी चारों ओर के भाग भी उसका अनुकरण कर रहे थे। इस नेबुला का मध्य भाग बाहर के भाग से अधिक घना था और वह घूमता भी अधिक तेज़ी से था। इस घूमने में कभी-कभी कोई भाग इस महान् पदार्थ-समूह से टूट जाता था और वह भी कुछ दूरी पर मातृ-समूह की गति के कारण अपने केंद्र पर उसी ओर को घूमने लगता था। धीरे-धीरे समय पाकर ये टूटे हुए भाग ठंडे होते गए। इनकी उष्णता कम होती गई। कुछ समय के पश्चात्, जिसको करोड़ों वर्ष कहने चाहिए, ये भाग ठंडे होकर इस स्वरूप में आ गए जिसमें कि इस समय पृथ्वी है। इस प्रकार इस ज्वलंत प्रदीप्त पदार्थ-समूह से पृथ्वी, शुक्र आदि आठों ग्रह तैयार हो गये और जो बीच का भाग बचा, वह सूर्य हो गया।

जो भिन्न-भिन्न मौलिकों के परमाणु इस समय हमारे शरीर के अंगों को बनाए हुए हैं, वे किसी समय इसी महान् नेबुला (Nebula) में, सहस्रों डिगरी फैरनहाइट की उष्णता पर, उपस्थित थे। प्रत्येक मौलिक मानों उस समय उबल रहा था। जिस समय पृथ्वी इस नेबुला से टूटकर अलग हुई, उस समय भी यह इतनी उष्ण थी कि इसमें किसी भाँति के, जीवन के प्रादुर्भाव होने की आशा नहीं की जा सकती है। उस समय यह पृथ्वी एक बड़ा भारी डेगचा थी, जिसमें नाना प्रकार के मौलिक द्रव्य स्वरूप में अधिक उष्णता के कारण श्वेत होकर लहरें मार रहे थे और उस द्रव्य में ज्वार भाटे आ रहे थे। बहुत तेज़ी से घूमती हुई पृथ्वी पर ज्वालामुखी पर्वत के लावे के समान तप्त पिघली हुई वस्तुएँ समुद्र के जल की भाँति लहरें मार रही थीं। उससे नाना भाँति के उष्ण और घने वाष्प उठकर चारों ओर के मंडल को आच्छादित कर रहे थे। बिजली चारों ओर तड़प रही थी और उन सबके बीच में पृथ्वी अपने केंद्र पर घूम रही थी।

धीरे-धीरे पृथ्वी की उष्णता कम होनी आरंभ हुई। उसका ऊपरी तल अधिक ठोस होने लगा। जैसे गरम दूध पर मलाई का एक परत पड़ जाता है, वैसे ही द्रव्य पृथ्वी पर एक ठोस हलका-सा तल बन गया। ज्यों-ज्यों उष्णता कम हुई, त्यों-त्यों यह तल भी मोटा होने लगा। किंतु भीतर का भाग फिर भी उष्ण और द्रव्य अवस्था में रहा। उसमें बराबर लहरें उठा करती थीं। इस कारण ऊपरी तल में जहाँ-तहाँ दरारें आ जाती थीं अथवा कहीं-कहीं यह हलका परत सिकुड़कर जमा हो जाता था। इस जमे हुए परत के कुछ भाग ने उष्णता कम होने पर पर्वतों का स्वरूप धारण कर लिया। किंतु भीतरी भाग के उष्ण होने के कारण ये ज्वालामुखी पर्वत हो गए।

पृथ्वी पर इसकी शैशवावस्था में सहस्रों ज्वालामुखी पर्वत थे, जो समय-समय पर फटकर अपने भीतर से जलता हुआ लावा फेंका करते थे। यह लावा आंतरिक उष्णता से उत्पन्न हुए भार के कारण फव्वारे के समान कई मील तक ऊपर आकाश में पहुँचकर नीचे गिरता था। धीरे-धीरे यह लावा एकत्रित होता गया और समय पाकर ठंडा होकर साधारण पर्वतों के स्वरूप में आ गया। बहुत-सी चट्टानों का बनना इसी प्रकार माना जाता है। इस प्रकार पृथ्वी के भीतर से लावा के ऊपर निकल जाने के कारण भीतर खाली स्थान रह गया। इससे बहुत बड़े गड्ढे बन गए। इन गढ़ों में वह जल जो लावा के जमने से निकला (क्योंकि उष्णता के अधिक होने से जो जल वाष्प के रूप में वर्तमान था, वह ठंड पाकर फिर साधारण जल के रूप में आ गया) इन गड्ढों में भर गया। समय पाकर ये गड्ढे मिलकर समुद्र बन गए।

इस प्रकार ज्वालामुखी पर्वतों से बहुत जल मिला। उन्होंने कार्बन-डाइ-ऑक्साइड का भी बहुत बड़ा भाग हमारे आकाश को दिया। किंतु प्रोटोप्लाज़्म बनाने के लिये नाइट्रोजन, ऑक्सीजन और हाइड्रोजन की अब भी कमी रही। हाइड्रोजन और ऑक्सीजन उस जल से जो पर्वतों के लावा से निकला था, मिल सकते थे। हम यह मान सकते हैं कि उष्णता के अधिक होने से व विद्युत् के द्वारा जल अपने अवयवों में विभक्त हो गया हो। इस प्रकार ऑक्सीजन और हाइड्रोजन के पाने में भी कोई कठिनता नहीं रहती। केवल नाइट्रोजन का प्रश्न रह जाता है।

बहुत लोगों का विचार है कि यह गैस नेब्युले में उपस्थित थी। किंतु इसका दूसरी वस्तुओं के साथ रासायनिक संयोग जल्दी नहीं होता। इस कारण जब कि दूसरे मौलिक ग्रेनाइट, बेजाल्ट व

दूसरी प्रकार की चट्टानों के रूप में एकत्रित हो गए, उस समय यह गैस स्वतंत्र अवस्था में आकाश में वर्तमान थी। आजकल की साधारण वायु में भी चार भाग नाइट्रोजन के रहते हैं। इस प्रकार नाइट्रोजन का मिलना भी कुछ कठिन नहीं था। गंधक और फ़ास्फ़ोरस बहुत-सी चट्टानों में पाई जाती हैं। अतएव ये वस्तुएँ भी उस समय उपस्थित थीं।

किंतु इन सब मौलिकों के आपस में मिलने पर भी निर्जीव वस्तुओं से जीवन मूल प्रोटोप्लाज़्म किस तरह बन गया? इन वस्तुओं ने अपने रासायनिक संयोग द्वारा जीवन का किस भांति प्रादुर्भाव किया? हम देखते हैं कि यदि हाइड्रोजन और ऑक्सिजन को एक बोतल में मिलाकर उसमें विद्युत् धारा को ले जायँ, तो उससे जल बन जायगा। इसी प्रकार रासायनिक विद्वान् दो वस्तुओं को मिलाकर एक पृथक् वस्तु तैयार कर देते हैं। तो वे कौन-सी दशाएँ थीं, जिनमें इन कुछ थोड़े से मौलिकों के एकत्रित होने से मनुष्य बन गया? ये मौलिक तो अब भी एकत्रित होते हैं व किए भी जा सकते हैं; किंतु इस प्रकार मनुष्य तैयार होते हुए किसी ने नहीं देखा। रासायनिक विद्वान् प्रोटोप्लाज़्म का संगठन भली भाँति जानते हुए भी उसे तैयार नहीं कर पाते। इसलिये अवश्य ही उस समय कुछ ऐसी दशाएँ उपस्थित थीं, जो अब नहीं हैं और जिनका हमको ज्ञान भी नहीं है; जिनके उपस्थित होते हुए इन मौलिकों द्वारा जीवन का प्रादुर्भाव हुआ। प्रोटोप्लाज़्म का एक अणु कई सहस्र परमाणुओं से मिलकर बनता है; किंतु यह मान लेना कठिन है कि यदि यह निर्जीव परमाणु आपस में मिला दिए जायँ, तो यह चैतन्य पदार्थ बन जायगा। अभी तक विज्ञान उस सीमा तक नहीं पहुँचा है। संभव है कि वह दिन भी आ जाय, जब विज्ञान इस प्रश्न को हल कर सके।

इस बात को निश्चय के साथ कहना कि पहलेपहल पृथ्वी पर जीवन का किस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ, असंभव प्रतीत होता है। संभव है कि प्रथम कार्बन और नाइट्रोजन के मिलने से एक सायनोजिन × CN के समान पदार्थ बना हो और सूर्य की शक्ति (Energy) का उसमें इस प्रकार संचार हुआ हो कि उसमें इस बात की शक्ति उत्पन्न हो गई हो कि वह पृथ्वी के ठंडे होने पर ऑक्सीजन, हाइड्रोजन इत्यादि आवश्यक मौलिकों को एकत्रित कर ले और जीवन की भिन्न-भिन्न शक्तियों से संपन्न हो जाय। कम-से-कम इस बात पर बहुत-से लोग सहमत हैं कि जीवन का प्रथम प्रादुर्भाव सायनोजिन के स्वरूप में हुआ और सूर्य ने उसको किसी भाँति जीवन शक्ति प्रदान की।

जीवन का प्रथम स्वरूप क्या था, इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिल सकता। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जीवन का प्रथम स्वरूप बहुत ही साधारण और रचना की विचित्रता से रहित था। उसकी बनावट बहुत ही सीधी-सादी थी। संभव है कि उसके स्वरूप कई हों, किंतु उसकी रचना अत्यंत साधारण थी। इन साधारण जीवों से दूसरे भिन्न-भिन्न जीव पैदा होते चले गए, जिन्होंने अपनी संतति को बनाए रखने के लिये भिन्न-भिन्न साधनों का प्रयोग किया।

इस प्रकार पृथ्वी पर जीवन का आरंभ प्रोटोप्लाज़्म के एक टुकड़े से होता है; जिसके विकास के संबंध में हम बिलकुल ही अनभिज्ञ हैं। किंतु इतना हम कह सकते हैं कि उसमें वृद्धि होती है; वह पोषक वस्तुओं का समीकरण करता है और बढ़ता है। यह शक्ति उसको

× यह एक रासायनिक संयोगिक पदार्थ का नाम है।

शर्करा वा श्वेतसार के रूप में ग्रहण करता है। यह काय वृक्षों का है कि वे इस अद्भुत रासायनिक क्रिया को पूर्ण करें। वही वायु के कार्बन-डाइ-ऑक्साइड से श्वेतसार बनाते हैं और हमारे शरीरों के लिये पोषक वस्तु तैयार करते हैं।

किंतु यह अद्भुत क्रिया वहाँ किस प्रकार होती है ? वृक्षों के पास न कोई प्रयोगशाला है, न परीक्षा नलिका, न बर्नर (Burner) न रासायनिक तराजू। तो भी यह क्रिया इस उत्तमता से होती है कि कभी कोई त्रुटि नहीं होने पाती। यह वृक्षों का एक विशेष गुण है। वृक्ष की पत्तियों में हरे रंग की एक वस्तु होती है, जिसे क्लोरोफिल कहते हैं, जिसका पहले वर्णन हो चुका है। जहाँ इस पर सूर्य की किरणें पड़ती हैं, इसमें यह शक्ति आ जाती है कि वह वायु की कार्बन-डाइ-ऑक्साइड को उसके अवयव कार्बन और ऑक्सीजन में तोड़ देती है। ऑक्सीजन वायु को लौट जाती है और कार्बन को पत्तियाँ ग्रहण कर लेती हैं।

इस क्रिया के लिये यह आवश्यक है कि वायु क्लोरोफिल के अत्यंत घनिष्ठ संपर्क में आवे। इसके लिये भी प्रकृति ने पूरा प्रबंध कर दिया है। पत्तियों में छोटे-छोटे छिद्र होते हैं, जो नीचे की ओर रहते हैं। एक पत्ती में सहस्रों छिद्र होते हैं। उनके नीचे की ओर होने का यह कारण है कि ऊपर होने से धूल इत्यादि से उनके रूँध जाने की अधिक संभावना रहती है। इनको चाहे पत्ते के नासिकारंध्र कहें, चाहे मुख कहें ; किंतु वह वायु के जिसमें वृक्ष का भोजन मिला रहता है, भीतर ग्रहण करते हैं। वहाँ पत्ती के भीतर क्लोरोफिल ऑक्सीजन को अलग करके वायु को लौटा देता है, जहाँ वह दूसरे कामों में आता है। कार्बन पत्ती के भीतर रह जाता है। वहाँ जल के द्वारा हाइड्रोजन और ऑक्सीजन

प्रयोग में नहीं ला सकते। उनके लिये आवश्यक है कि नाइ-ट्रोजन नाइट्राइट लवणों की भाँति मिले। बहुधा आकाश में वर्षा के समय जब बिजली चमकती है, तो वह वायु की नाइट्रोजन को नाइट्रिक अम्ल बना देती है। वह नाइट्रिक अम्ल पृथ्वी पर आकर दूसरे खनिज पदार्थों से मिलकर नाइट्रिक लवण बनाता है, जो वृक्षों के काम में आता है। पृथ्वी में कुछ ऐसे जीवाणु होते हैं, जो वृक्ष के लिये नाइट्रोजन के लवण तैयार कर देते हैं। इस प्रकार कई भाँति से वृक्षों को नाइट्रोजन मिलता है, जिसका वह आत्मीकरण करके अपने शरीर की वस्तु बनाते हैं। जब वृक्ष के फल, मूल इत्यादि को हम प्रयोग करते हैं, तो वह नाइट्रोजन हमको मिलती है।

कुछ वृक्षों में नाइट्रोजन विशेषतया अधिक रहती है, जैसे कि मटर, सेम इत्यादि। वृक्षों के अतिरिक्त दूध में नाइट्रोजन विशेष-कर अधिक रहता है। मांसाहारियों को पशुओं के शरीर से नाइ-ट्रोजन मिलता है।

इस प्रकार ये भिन्न-भिन्न वस्तुएँ कार्बन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन इत्यादि पृथक्-पृथक् स्थानों से आकर जीवन-मूल को तैयार करती हैं; रहे गंधक, फ़ास्फ़ोरस, लोह, केलशियम, पोटाशियम आदि के लवण, वह भी पृथ्वी में बहुतायत से मौजूद हैं। वे भी वृक्षों के द्वारा ही मनुष्य को मिलते हैं। इस प्रकार वृक्षों से हमें कितना लाभ होता है, यह भली भाँति समझा जा सकता है। हमारे शरीर की शक्ति का मुख्य स्रोत वृक्ष ही हैं। कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, गंधक, फ़ास्फ़ोरस व अन्य आवश्यक लवण जो हमारे शरीर के निर्धारण के लिये आवश्यक हैं, सब वृक्षों ही से मिलते हैं। दूध जो गौ के स्तनों में बछड़ों के लिये उत्पन्न होता है,

और जिसको हम उससे छीनकर स्वयं अपने शरीरों को पुष्ट करने के काम में लाते हैं, इन्हीं वृक्ष की पत्तियों और घास के तृणों से बनता है। पशुओं के शरीर का मांस, जिससे मांसाहारी अपने शरीर के लिये नाइट्रोजन प्राप्त करते हैं, इन्हीं तृणों के खाने से बनता है। इस प्रकार हमारे शरीरों को पोषण करने के लिये सब मुख्य वस्तुएँ देनेवाले ये ही वृक्ष हैं।

हम देख चुके हैं कि किस भाँति मुख्य-मुख्य मौलिक अवयव हमको प्राप्त होते हैं। पृथ्वी पर वह किस स्वरूप में वर्तमान थे और हैं, और पृथ्वी ही उन सब का मुख्य स्थान है। अतएव यह कहना अनुचित नहीं है कि पृथ्वी ही हमारे शरीरों को निर्माण करने-वाली और पोषण करनेवाली है। हमारे शरीर पृथ्वी ही से बनते हैं और अंत को पृथ्वी ही में मिल जाते हैं। जो वस्तु जिसकी धरोहर थी,वह उसी के पास लौट जाती है। इसी कारण हमारे यहाँ पृथ्वी को माता वसुंधरा के नाम से संबोधन किया जाता है।

यह भिन्न-भिन्न मौलिक अवयव, जिनका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, हमारे शरीर में स्वतंत्ररूप से विद्यमान नहीं है और न इस रूप में यह हमारे शरीरों का पोषण ही कर सकते हैं। यदि हमारे शरीर को नाइट्रोजन स्वतंत्र नाइट्रोजन के रूप में मिले, तो शरीर उससे कुछ भी लाभ नहीं उठा सकता। ऑक्सीजन शुद्ध ऑक्सीजनके स्वरूप में शरीर को हानि पहुँचावेगा। शुद्ध हाइड्रोजन शरीर पर एक विष का काम करेगा। इसी प्रकार अन्य वस्तुएँ भी स्वतंत्ररूप में शरीर को किसी भाँति की सहायता नहीं दे सकतीं। ये सब मौलिक आपस में मिलकर भिन्न-भिन्न संयोगिक वस्तुएँ बनाते हैं, जिनको शरीर ग्रहण करता है और उनसे अपने जीवन-मूल का निर्माण करता है।

ये सब ऊपर कहे हुए अवयव मुख्यतया तीन प्रकार की वस्तुएँ

बनाते हैं, जो शरीर में पाई जाती हैं और जिनकी शरीर को आवश्यकता होती है। वे तीन वस्तुएँ प्रोटीन (Protien), वसा (Fat) और कारबोहाइड्रेट (Carbohydrate) कहलाते हैं। इनमें से प्रोटीन में नाइट्रोजन होता है और वसा और कारबोहाइड्रेट नाइट्रोजन से रहित होते हैं।

प्रोटीन, कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, गंधक और फ़ास्फ़ोरस के संयोग से बनते हैं। इनकी रासायनिक रचना अत्यंत गूढ़ होती है। ये शरीर के सब भागों में पाए जाते हैं और शरीर के लिये बहुत ही उपयोगी वस्तु हैं। शरीर को शक्ति प्रदान करनेवाली और दिन-रात जो शरीर में क्षति होती रहती है, उसको पूरा करनेवाली मुख्य वस्तु प्रोटीन है। शरीर में जो प्रोटीन पाई जाती है, वह सब भोजन की प्रोटीन से उत्पन्न होती है। दूध में प्रोटीन अधिक होती है। मटर, सेम, मांस, अंडा इत्यादि प्रोटीन के मुख्य स्रोत हैं। किंतु भोजन की प्रोटीन और शरीर के प्रोटीनों के रासायनिक संगठन में बहुत भेद होता है। शरीर के प्रोटीनों की रचना इतनी गूढ़ नहीं होती, जितनी कि भोजन के प्रोटीनों की। यह सेल का काम होता है कि वह भोजन की प्रोटीन को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित कर देता है। ज्यों ही ये वस्तुएँ शरीर के भीतर पहुँचती हैं, त्योंही भिन्न-भिन्न पाचक रसों की क्रिया द्वारा, जिनका वर्णन आगे चलकर किया जायगा, वह अपने साधारण छोटे-छोटे अवयवों में विभाजित हो जाती हैं। इन रसों की रासायनिक क्रिया के द्वारा अंत में यह गूढ़ वस्तुएँ अत्यंत सूक्ष्म कणों के स्वरूप में परिवर्तित होकर शरीर के सेलों द्वारा शोषित हो जाती हैं।

वह रासायनिक क्रियाएँ, जो शरीर में प्रत्येक समय होती रहती हैं और जिनका परिणाम यह होता है कि बाहर से प्राप्त किए

हुए भोजन-पदार्थ ऐसे सूक्ष्म और साधारण स्वरूप में आ जाते हैं कि शरीर उनका शोषण कर लेता है, बहुत गूढ़ हैं। बहुत संभव है कि वह सब रासायनिक क्रियाएँ यदि प्रयोगशालाओं में की जायँ, तो इतनी उत्तमता और सुगमता के साथ न हो सकें, जैसे कि वह शरीर में होती हैं। ये क्रियाएँ शरीर के अंगों में किसी विशेष सीमा तक होती हैं। आमाशय में प्रोटीन का भंजन एक विशेष सीमा तक होता है। उसके पश्चात् यह क्रिया यहाँ नहीं होती। अब इस भंजन से बने हुए पदार्थ आमाशय से आगे बढ़ते हैं और पक्वाशय में पहुँचते हैं, तब यही क्रिया फिर आरंभ हो जाती है। और जो प्रोटीन-पदार्थ यहाँ आए थे, उनका फिर भंजन आरंभ होता है; यहाँ तक कि वह अपने सबसे सूक्ष्म स्वरूप में आ जाते हैं। इसी प्रकार अन्य क्रियाएँ भी विशेष स्थानों में विशेष सीमा तक होती हैं। इन क्रियाओं का एकदम से अपने अंत सीमा तक होने से इच्छित अभिप्राय पूरा नहीं हो सकता। इसी कारण शरीर के भीतर की क्रियाओं और प्रयोगशाला में की हुई क्रियाओं में बहुत अंतर होता है।

प्रोटीन-पदार्थ बहुत भाँति के होते हैं और उनकी रचना में भी बहुत अंतर होता है। नीचे के अंकों से यह अंतर भली भाँति मालूम हो जायगा—

कार्बन.	हाइड्रोजन.	नाइट्रोजन.	ऑक्सीजन.	गंधक.
५१.४%	६.६%	१५.२%	२०.६%	०.३%
से	से	से	से	से
५४.५%तक	७.३%तक	१७.०% तक	२३.५% तक	२.०% तक

इस प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थों में अवयवों की मात्रा भी भिन्न होती है। सब पदार्थों के प्रोटीन एक-सी सुगमता से पचनेवाले भी

नहीं होते। दूध व अंडा व मांस के प्रोटीन अधिक सुगमता से पच जाते हैं। दूध के प्रोटीन बहुत ही सुगमता से पचते हैं। सेम, मटर और दाल के प्रोटीन ऐसी सुगमता से नहीं पचते। प्रोटीनों के विशेषकर निम्न-लिखित कार्य हैं—

१. शरीर में जो भिन्न-भिन्न रस पाए जाते हैं, वे सब प्रोटीन ही से बनते हैं। रक्त और रक्त-रस को (Servum) विशेषकर प्रोटीन ही बनाते हैं। भोजन को पचाने में पाँच भिन्न-भिन्न प्रकार के रस काम में आते हैं, उन सबों की क्रियाएँ भिन्न हैं, जैसा आगे चलकर विदित होगा। भोजन के भिन्न-भिन्न अवयव, जिनमें से प्रोटीन एक है, भिन्न-भिन्न रसों द्वारा पचते हैं। ये सब रस प्रोटीन द्वारा ही बनते हैं।

२. मनुष्य दिन में कुछ-न-कुछ काम अवश्य ही किया करता है। जो मनुष्य बहुत आलसी हैं और जो लक्ष्मी की कृपा के कारण किसी प्रकार का उद्योग भी नहीं करते, उनके शरीरों में भी कुछ-न-कुछ क्रियाएँ अवश्य होती ही रहती हैं। मस्तिष्क अवश्य ही कुछ-न-कुछ सोचा करता है। हृदय प्रत्येक समय रक्त को प्रवाहित करता ही रहता है। फुफ्फुस शुद्ध वायु को ग्रहण करके रक्त के विकारों को दूर करते हैं। इन सब क्रियाओं में शरीर के सेलों में टूट-फूट होती है; कुछ-न-कुछ ह्रास अवश्य होता है। इस ह्रास व टूट-फूट का पूरा करना प्रोटीनों का काम है। अर्थात् प्रोटीनों में शरीर-निर्माण की शक्ति होती है। शरीर-वृद्धि के लिये प्रोटीन आवश्यक है। इसी कारण बच्चों के लिये यह बहुत आवश्यकता है।

३. शरीर में जो क्रियाएँ होती हैं, उनके लिये ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है। शारीरिक रासायनिक क्रियाएँ ऑक्सीजन के बिना नहीं हो सकतीं। इस ऑक्सीजन को ग्रहण करना और

शारीरिक क्रियाओं के लिये उचित रूप में पहुँचाना प्रोटीनों ही का काम है।

४. वसा को साधारणतया चर्बी के नाम से पुकारते हैं। शरीर में इस वस्तु का बहुत भाग रहता है और शरीर के लिये इसकी आवश्यकता भी बहुत होती है। यह वस्तु भी अन्य वस्तुओं की भाँति भोजन ही से शरीर को मिलती है। घी, मक्खन, तैल इत्यादि शुद्ध वसा हैं। वसा के अतिरिक्त इनमें कोई दूसरा भोजन-अवयव किसी विशेष संख्या में नहीं पाया जाता। दूध में भी वसा का कुछ भाग रहता है। अन्य भोजन-पदार्थों में भी कुछ-न-कुछ वसा रहती है। यहाँ ही से शरीर वसा ग्रहण करता है। इस वसा का काम है शरीर को शक्ति देना। जिस प्रकार अग्नि को जलाने से उष्णता व ताप उत्पन्न होता है, उसी प्रकार शरीर में वसा के जलने से शक्ति उत्पन्न होती है। इसलिये शरीर के वास्ते वसा का मिलना आवश्यक है। कभी-कभी जब वसा की बहुत कमी होती है व किसी कारण से शरीर उपस्थित वसा को काम में नहीं ला सकता अथवा कुछ अन्य विशेष कारणों के उपस्थित होने पर वसा का काम प्रोटीन देते हैं। प्रोटीन वसा के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। दूध में जो वसा रहती है, वह प्रोटीन ही से बनती है।

५. शरीर का तीसरा मुख्य अवयव कर्बोज (कारबोहाइड्रेट) है। वसा की भाँति यह भी कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से बनता है। वसा में इन मौलिकों की निष्पत्ति भिन्न होती है; किंतु वह भी इन्हीं वस्तुओं के संयोग से बनती है। अन्य वस्तुओं की भाँति इसका स्रोत भी भोजन-पदार्थ ही है। गेहूँ का आटा, चावल, जौ, मकई इत्यादि में कर्बोज बहुत होता है। वृक्ष की पत्तियों में यह श्वेतसार के स्वरूप में रहता है। श्वेतसार शुद्ध कर्बोज है। कुछ-न-कुछ कर्बोज

प्रत्येक भोजन-पदार्थ में मिलता है। यह शरीर को शक्ति देनेवाली मुख्य वस्तु है। जो शारीरिक परिश्रम करते हैं, उनके लिये यह वस्तु अत्यंतावश्यक है। हमारे दैनिक भोजन में सबसे अधिक भाग इसी वस्तु का रहता है। जैसे कि कभी-कभी वसा की कमी के कारण प्रोटीन से वसा बन जाती है, उसी प्रकार कुछ विशेष दशाओं में, शरीर प्रोटीनों को कर्बोज के स्वरूप में पलट देता है अर्थात् कर्बोज का काम प्रोटीनों से चल जाता है। किंतु ऐसा बहुत ही कम होता है, तो भी आवश्यकता पड़ने पर प्रोटीन कर्बोज का काम दे सकती है।

वसा—जिसका कुछ वर्णन ऊपर हो चुका है, कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से मिलकर बनती है। इसमें नाइट्रोजन नहीं रहता और इसलिये वृद्धि के लिये अत्यंतावश्यक और पर्याप्त वस्तु नहीं है। बच्चों के भोजन से इसको बहुधा निकाल देना होता है। इसका पाचन भी शीघ्र नहीं होता। घी व मक्खन इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। भिन्न-भिन्न प्रकार के वसा भिन्न-भिन्न श्रेणी के वसाम्ल (Fatty acid) से बनते हैं और उनके गुण भी भिन्न होते हैं। जो उच्च श्रेणी के हैं—जैसे घृत, उनमें नीचे की श्रेणी, तेल इत्यादि से अधिक पोषक-शक्ति होती है।

प्रत्येक पशु के शरीर में वसा का कुछ-न-कुछ भाग पाया जाता है। हमारे शरीर में चर्म के नीचे वसा का एक मोटा परत रहता है। जो पशु ठंडे स्थानों में रहनेवाले हैं, उनमें अधिक वसा होती है। Polar Bear में वसा का एक बहुत मोटा परत रहता है। कुछ मनुष्यों में भी वसा अन्य मनुष्यों की अपेक्षा अधिक रहती है। कुछ की प्रकृति इस भाँति की होती है कि वह चाहे कितना ही कम भोजन करें और घृत इत्यादि चाहे बिलकुल

न खाएँ, तो भी उनके शरीर में वसा का भाग निरंतर बढ़ता ही जाता है। वह जो कुछ खाते हैं, उसका अधिक भाग वसा के रूप में परिणत हो जाता है। ऐसी दशा स्वास्थ्य के लिये चिंता-जनक है।

अन्य वस्तुओं की भाँति वसा भी भोजन ही से प्राप्त होती है। ठंडे देशों में इसकी अधिक आवश्यकता होती है, जहाँ बाहर का वायु-मंडल बहुत शीतल होता है। इन स्थानों में बाह्य-शीत के प्रभाव को दूर करने के लिये ऐसी वस्तुएँ अधिक खाना आवश्यक होता है, जिनसे उष्णता अधिक उत्पन्न हो। वसा से उष्णता बहुत उत्पन्न होती है। कर्वोज की अपेक्षा वसा से ढाई गुणा उष्णता बनती है। जाड़े के दिनों में प्रत्येक मनुष्य की घृत-मक्खन खाने की रुचि होती है। गरमी का मौसम आते ही वह रुचि जाती रहती है। ठंडे दिनों में घृत इत्यादि सुगमता से पच भी जाता है; किंतु ऊष्णकाल में नहीं पचता। कारण यह है कि शीतकाल में शरीर को अधिक वसा की आवश्यकता होती है; किंतु गरमी के दिनों में वसा उलटी हानि करती है। क्योंकि उससे उष्णता की अधिक उत्पत्ति होती है, जिससे शरीर की भीतरी उष्णता बाह्य वायु-मंडल की प्रचंड उष्णता के प्रभाव को और भी बढ़ा देती है।

प्रकृति ने शरीर की रक्षा के लिये नाना भाँति के प्रयत्न किए हैं। उसने शरीर में ऐसे-ऐसे यंत्र लगाए हैं और उसको ऐसी शक्ति दी है कि वह जैसा समय पड़े, उसी के अनुसार अपनी रक्षा के स्वयं साधन कर लें। शरीर में ऐसी शक्ति है कि यदि वायु-मंडल उष्ण हो, तो वह आंतरिक उष्णता की उत्पत्ति को बहुत कम कर दे और यदि वायु-मंडल बहुत ठंडा है, तो वह आंतरिक उष्णता को अधिक उत्पन्न करे, जिससे शरीर पर शीत और उष्णता के अधिक

होने का कुछ प्रभाव न पड़ सके। शरीर का चर्म इस शक्ति से संपन्न है और उसी का यह कार्य है। गरमी के दिनों में शरीर से स्वेद अधिक निकलता है, जिससे शरीर ठंडा रहता है ; किंतु ठंड के दिनों में स्वेद नहीं निकलता। उष्णता के न्यूनाधिक्य से बचने का यह मुख्य साधन है।

इसी प्रकार शीतकाल में अधिक वसा प्रयोग करने की इच्छा होती है और शरीर उसे ग्रहण करता है, क्योंकि उसको आंतरिक उष्णता बढ़ाने की चिंता है। किंतु उष्णकाल के आरंभ होते ही वसा की ओर से इच्छा हट जाती है और शरीर भी उसे ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह हानिकारक है। जो लोग अत्यंत शीत-प्रदेशों में रहते हैं, उनको वसा का बहुत अधिक प्रयोग करना पड़ता है।

शरीर की वसा और भोजन की वसा के रासायनिक संगठन में अंतर होता है। भोजन की वसा प्रोटीन की भाँति पाचक रसों द्वारा सूक्ष्म भागों में विभाजित की जाती है। तब उसे शरीर ग्रहण करता है। जो वसा उसी समय शरीर के काम में नहीं आती, वह फिर से संश्लिष्ट होकर एकत्रित हो जाती है। वसा का मुख्य स्थान चर्म के नीचे है, जहाँ वह एक मोटे परत में पाई जाती है। इससे शरीर में गोलाई आ जाती है, मनुष्यों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक वसा पाई जाती है। जिन मनुष्यों के शरीर में वसा अधिक होती है, वह दुबले-पतले मनुष्यों की अपेक्षा अधिक दिन तक भूखे रह सकते हैं। किंतु शरीर में वसा का बहुत अधिक होना अच्छा नहीं है।

तीसरी वस्तु, जिसका कुछ वर्णन ऊपर हो चुका है, कारबोहाइड्रेट है। वसा की भाँति यह भी कार्बन, ऑक्सीजन और हाइड्रोजन से

बनता है। किंतु अंतर यह है कि हाइड्रोजन और ऑक्सीजन की निष्पत्ति घसा से भिन्न है। यहाँ हाइड्रोजन और ऑक्सीजन उसी परिमाण में उपस्थित हैं, जिसमें कि वह जल में है। जल में हाइड्रोजन के दो परमाणु और ऑक्सीजन का एक परमाणु है। (H_2O) कर्बोज में भी कार्बन के साथ हाइड्रोजन और ऑक्सीजन की यही निष्पत्ति है।

हमारे भोजन में सबसे अधिक भाग कारबोहाइड्रेट का होता है। गेहूँ का आटा, चावल, चने का आटा इत्यादि जिनकी हम रोटी खाते हैं, वह सब हमारे शरीर को कारबोहाइड्रेट देते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह वृक्षों की पत्तियों में श्वेतसार (Starch) के रूप में रहता है: खेत में जो धान लगे होते हैं अथवा दूसरे अन्न की जो बालें लगी होती हैं, उनके फलों में होता है। नाना प्रकार के स्वादिष्ट फलों में कारबोहाइड्रेट उनके माधुर्य के स्वरूप में रहता है, क्योंकि शर्करा शुद्ध कारबोहाइड्रेट है। दूसरे पदार्थों की भाँति इसको भी हमारा शरीर वृक्षों ही से ग्रहण करता है।

कारबोहाइड्रेट बहुत-से रूप में पाया जाता है। साधारण जौ का आटा और शर्करा देखने में बहुत भिन्न हैं, किंतु रासायनिक स्वभाव दोनों का एक ही है। दोनों ही कारबोहाइड्रेट का स्वरूप हैं। एक शुद्ध है, दूसरे में दूसरी वस्तुओं का भी कुछ मिलाव है। इसी प्रकार शर्करा भी बहुत भाँति की होती है। जैसे दुग्धोज, माल्टोज (Maltose), इक्षोज, अंगूर की शर्करा (Grape Sugar), गैलेक्टोज (Galactose) इत्यादि। इनके रासायनिक संगठन और गुणों में भी अंतर है। किंतु इस बात में, सबों में समानता है कि सब मीठी हैं। कुछ थोड़ी-सी रासायनिक कृत्रिम

वस्तुओं को छोड़कर सब मीठी वस्तुओं के मिठास का कारण शर्करा होती है।

शरीर शर्करा को बहुत सुगमता से ग्रहण करता है; किंतु साधारण श्वेतसार जब तक उबला हुआ न हो, तब तक शरीर के काम में नहीं आ सकता। इसीलिये रोटी बनाने के पूर्व आटा जल में मींड़ा जाता है और फिर रोटी आग पर सेकी जाती है। कारण यह है कि श्वेतसार के जो सूक्ष्म दाने होते हैं, उन पर एक ऐसा आवरण रहता है कि उस पर पाचक रसों की कोई क्रिया नहीं होती, जब उनको उबाला जाता है, तो जल के कारण फूलकर उन दानों का आवरण फट जाता है और रस के लिये श्वेतसार तक पहुँचने का रास्ता सुगम हो जाता है।

कारबोहाइड्रेट शरीर की शक्ति का मुख्य कारण है। जो शारीरिक परिश्रम द्वारा अपना जीवनोपार्जन करते हैं, उनको इस वस्तु की अधिक आवश्यकता होती है। शरीर में प्रोटीन व वसा की अपेक्षा कारबोहाइड्रेट ग्रहण करने की शक्ति अधिक है। चाहे जिस स्वरूप में यह वस्तु शरीर को दी जाय, वह उसे शर्करा के रूप में परिवर्तित कर देता है और इसी स्वरूप में ग्रहण करता है। अंत्रियों द्वारा शोषित होकर शर्करा यकृत के पास ले जाई जाती है। जहाँ उसका फिर रूपांतर होता है और वह ग्लाइकोजिन (Glycogen) के रूप में एकत्रित रहती है। शरीर में जिस स्थान पर अधिक क्रिया होती है, वहाँ इसकी आवश्यकता होती है। शरीर के मांसपेशी इसी के बल पर भारी-भारी क्रियाएँ करते हैं। उनको इसकी सदा आवश्यकता रहती है। कभी-कभी उनको एकदम आवश्यकता आ जाती है। उस समय यकृत जो शर्करा का भांडार है, इस आवश्यकता को पूरी करता है। ऐसे समय पर शर्करा, जो ग्लाइकोजिन के रूप में, यकृत में उपस्थित

थी, फिर शर्करा के रूप में आ जाती है और निश्चित स्थान पर पहुँच जाती है। यह शारीरिक शक्तियों व प्रकृति के अद्भुत साधनों का, जिनको वह स्वकृत जातियों और वंशों की रक्षा करने के लिये प्रयोग करती है, एक उदाहरण है। यद्यपि शर्करा एकत्रित रहने के समय ग्लाइकोजिन के रूप में रहती है; किंतु वह शरीर में प्रवाह करते समय अपने असली रूप में आ जाती है। इस परिवर्तन के होने में कुछ अधिक समय नहीं लगता। जहाँ यकृत से दूसरे स्थान पर जहाँ उसकी आवश्यकता है, उसे जाना हुआ, वह तुरंत ही शर्करा के रूप में परिणत हो जाती है।

इस प्रकार कारबोहाइड्रेट शारीरिक शक्ति का मुख्य कारण है। शरीर में नित्य प्रति सबसे अधिक व्यय भी इसी का होता है। इसके पर्याप्त रूप में उपस्थित न होने पर वसा इसका स्थान लेती है। किंतु वसा के व्यय से कारबोहाइड्रेट की अपेक्षा बहुत अधिक शक्ति और उष्णता उत्पन्न होती है। वसा को कारबोहाइड्रेट का रक्षित-संग्रह (Reserve-store) समझना चाहिए। जब इस वस्तु की कमी होती है, तो उस कमी को वसा पूरा करती है; दोनों का काम समान ही है।

जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, भिन्न-भिन्न मौलिक, तीन मुख्य अवयवों के रूप में, जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है, हमारे शरीर में पाए जाते हैं। इन्हीं मुख्य वस्तुओं से हमारा शरीर बना हुआ है। हमारे शरीर के चाहे किसी भाग का रासायनिक विश्लेषण किया जाय, प्रत्येक स्थान से ये ही तीन अवयव मिलेंगे। इनके अतिरिक्त जल भी मिलेगा। शरीर का सब से बड़ा भाग जल है, क्योंकि शरीर के सौ भागों में चौंसठ भाग जल रहता है।

संसार भर के जितने प्राणी हैं, यद्यपि उनके सहस्रों अथवा

असंख्य भिन्न-भिन्न आकार और आकृति हैं, तथापि वे सब इन्हीं वस्तुओं से निर्मित हैं। सबों के शरीर प्रोटीन, वसा, कारबोहाइड्रेट, जल और कुछ खनिज लवणों के संयोग से बने हुए हैं। इसमें कोई भी भिन्नता नहीं दिखाई देती। इन्हीं वस्तुओं के संयोग से एक छोटे-से-छोटा जीव, जिसकी चेतना-शक्ति बहुत थोड़ी है, बनता है। उन्हीं पदार्थों के मिलने से मनुष्य बनता है, जो अपने मस्तिष्क के बल से संसार भर के महाबलवान् पशु और कुछ सीमा तक प्रकृति की शक्तियों को भी दमन करता है।

इस विचित्र मानव-साम्राज्य में अनेकों संस्थाएँ हैं। भिन्न-भिन्न कार्य भिन्न-भिन्न संस्थाओं के द्वारा संपादित होते हैं। इन संस्थाओं को वैज्ञानिक भाषा में संस्थान कहते हैं। सब संस्थान एक ही वस्तु अर्थात् प्रोटोप्लाज़्म से बनते हैं; किंतु प्रत्येक स्थान में उसका रूप भिन्न-भिन्न है। इस रूपांतर का कारण संस्थान का कार्य है। प्रत्येक संस्थान की रचना उसके कार्य के उपयुक्त है। जहाँ जिसको जैसा कार्य करना है, वहाँ उसका आकार, उसकी आंतरिक रचना, उसके गुण सब उसी के अनुसार बनाए गए हैं, जिससे वह अंग उस कार्य का उत्तमता के साथ संपादन कर सके।

शरीरांग-वैज्ञानिकों ने व्याख्या की सुविधा के लिये शरीर को निम्नलिखित संस्थानों में विभाजित किया है।

(१) अस्थि-संस्थान—इस संस्थान में शरीर की सब अस्थियाँ सम्मिलित हैं। इसको आधार-संस्थान भी कहते हैं, क्योंकि यह सारे शरीर का आधार है। शरीर के दूसरे अंग किसी-न-किसी प्रकार इसके द्वारा आश्रय पाते हैं। शरीर की सारी मांसपेशियाँ अस्थियों पर लगी हुई हैं। वह एक अस्थि से निकलती हैं और दूसरी अस्थि

के किसी स्थान पर लगती हैं। जब ये मांसपेशियाँ संकोच करती हैं, तो अस्थियाँ उठती हैं और मांसपेशियों की क्रिया होती है। इस प्रकार हमारे शरीर में गति होती है। जब हम एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं, तो टाँग की बोसियों मांसपेशियाँ काम करती हैं। कोई टाँग की अस्थि को ऊपर को खेंचती है, कोई आगे बढ़ाती है और कोई नीचे को खेंचती है। दूसरी मांसपेशी इधर-उधर को हटाती हैं। हमारे शरीर की एक-एक गति कितने ही पेशियों से मिलकर होती है, जो अस्थियों को आवश्यकतानुसार गति देती हैं। इन मांसपेशियों की क्रिया का आधार अस्थियाँ ही हैं। यदि अस्थि न हों, तो मांसपेशियाँ क्रिया नहीं कर सकतीं। जब कभी हाथ व पाँव की अस्थि टूट जाती है, तो वह अंग बेकार हो जाता है। हम इन भिन्न-भिन्न क्रियाओं का और उनकी गूढ़ता का कभी विचार भी नहीं करते, क्योंकि हमारे लिये वे इतनी साधारण हो गई हैं।

(२) संधि-संस्थान—जहाँ अस्थियाँ आपस में मिलती हैं, वे स्थान संधि कहलाते हैं। गति इन्हीं स्थानों से होती है। जब पेशी संकोच करती हैं, तो अस्थि इन्हीं स्थानों पर मुड़ती है। इस कारण ये बहुत ही विशेष स्थान हैं। किसी भी संधि में कुछ विकार आ जाने से मनुष्य अपंगु बन जाता है। संधियों के रोग भी बड़े कठिन होते हैं। उनके ठीक होने में बहुत समय लगता है। इसका कारण यह है कि संधियों की रचना बड़ी अद्भुत है। उनके भीतर बहुत से भाग रहते हैं, जिनका आगे चलकर वर्णन किया जायगा।

(३) मांस-संस्थान—इस संस्थान में शरीर की सारी मांस-पेशियों की गणना है। इसको प्रेरक-संस्थान भी कहा जाता है, क्योंकि शरीर की गति पेशियों ही पर निर्भर रहती है। यह उसी मांस के बने होते हैं, जिसको मांसाहारी अपने भोजन में प्रयोग करते हैं।

प्रत्येक मांसपेशी की एक विशेष क्रिया होती है, जो वह अपने संकोच के समय करता है, जिससे अस्थियाँ ऊपर उठती हैं व आगे की ओर बढ़ती हैं व इसी प्रकार की अन्य क्रियाएँ करती हैं। इस प्रकार हमारी प्रत्येक क्रिया, जैसे हाथ से किसी वस्तु को उठाना, चलना, दौड़ना, भोजन करना इत्यादि बहुत-से पेशियों की क्रियाओं का परिणाम होती है। प्रत्येक क्रिया यौगिक-क्रिया होती है। जब बीसियों मांसपेशियाँ मिलकर क्रिया करती हैं, तब कहीं हमारा एक काम होता है। इस संस्थान की विशेषता इस बात से समझी जा सकती है कि अस्थियों के स्वस्थ होने पर भी कभी-कभी मांसपेशियाँ शिथिल हो जाती हैं। यदि किसी बीमारी में किसी मनुष्य को कुछ काल तक बिस्तरे पर पड़ा रहना पड़ता है, तो मांसपेशी के दुर्बल होने के कारण वह अपने अंगों के द्वारा साधारण कर्मों को भी भली भाँति करने में असमर्थ होता है। अतएव जितने भी दैनिक साधारण काम हैं, सब मांसपेशियों ही पर निर्भर रहते हैं।

(४) वात या नाड़ी-संस्थान—शारीरिक-साम्राज्य का संचालक अथवा मनुष्य में मनुष्यत्व को उत्पन्न करनेवाला और Lord of Creation की पदवी से आभूषित करवानेवाला, मस्तिष्क इस संस्थान का केंद्र है। साथ में वे सब तार व तार-गृह जो मस्तिष्क से किसी प्रकार भी संबंध रखते हैं, इस संस्थान में सम्मिलित हैं। उस संस्थान का पूर्ण उल्लेख आगे किया जायगा। यहाँ यह कहना पर्याप्त है कि शरीर की सब मुख्य क्रियाएँ, हृदय का चलना, श्वास-कर्म का होना, क्षुधा का लगना, नेत्रों का देखना, कानों का सुनना, नासिका का सूँघना सब मस्तिष्क के ऊपर निर्भर रहती हैं। यदि मस्तिष्क से हृदय को जानेवाले तार को काट दिया जाय, तो हृदय बंद हो जायगा। फुफ्फुसवाले तार को यदि

विच्छिन्न कर दिया जाय, तो श्वास-कर्म का होना बंद हो जायगा। इसी प्रकार अन्य अंग भी मस्तिष्क पर निर्भर हैं, और वह भी दूसरे अंगों पर निर्भर रहता है। यदि हृदय से रुधिर आना बंद हो जाय, तो मस्तिष्क भी जीवित नहीं रह सकता।

(५) रक्त-वाहक-संस्थान—यह संस्थान सारे शरीर का पोषण करनेवाला है। भोजन से जो रस बनता है, उसको यह संस्थान प्रत्येक अंग को बाँट देता है। हृदय इस संस्थान का मुख्य केंद्र है। धमनी और शिरा ले जानेवाली व ले आनेवाली नलिकाएँ हैं। यह संस्थान अपना कोई भी समय आलस्य में नहीं खोता, प्रत्येक समय अपना कार्य किया करता है। एक मिनट में ७२ बार अंगों को हृदय द्वारा रसद भेजी जाती है। उसमें से जो कुछ भाग वह ले लेते हैं, वह उनको दे दिया जाता है जो कुछ वह अशुद्ध समझकर छोड़ देते हैं अथवा यदि पहले का सामान कुछ अशुद्ध हो गया हो, तो उस सबको वह लौटा देते हैं। यही क्रम एक मिनट में ७२ बार होता है।

(६) श्वासोच्छ्वास-संस्थान—इस संस्थान का कार्य रक्त की शुद्धि और शरीर को आवश्यक ऑक्सीजन का पहुँचाना है, क्योंकि ऑक्सीजन के बिना शरीर में कुछ कार्य नहीं हो सकता। यह सारा कार्य केवल दो फुप्फुसों को, जिनको फेफड़ा भी कहते हैं, करना होता है। प्रत्येक मिनट में वह १८ बार वायु को भीतर लेते और बाहर निकालते हैं। दोनों फुप्फुस हृदय के दोनों ओर वक्ष में स्थित हैं।

(७) पोषक-संस्थान व पाचक-संस्थान—भोजन को पचाना और उससे रस बनाकर सारे शरीर का पोषण करना इस संस्थान का काम है। इसलिये ऊपर कहे हुए दोनों नाम इसके लिये उपयुक्त हैं। यह बहुत लंबा-चौड़ा संस्थान है। सारा उदर इस संस्थान के अंगों से, जिनका नाम आमाशय क्षुद्रांत्रियाँ अथवा बृहत् अंत्रियाँ इत्यादि

हैं, भरा हुआ है। इस संस्थान की प्रयोगशाला बड़ी ही विचित्र है। नाना भाँति की रासायनिक क्रियाएँ यहाँ होती रहती हैं, जिनके प्रभाव से जो कुछ भी वहाँ पहुँचता है, सब द्रवीभूत हो जाता है।

(८) मूत्र-वाहक-संस्थान—नाम से यह संस्थान एक बहुत ही तुच्छ अंग मालूम होता है, क्योंकि इसका काम केवल मूत्र को बनाना और त्यागना है। मूत्र शरीर की एक निकृष्ट वस्तु है। ऐसी वस्तु को, जो अंग बनाता है व शरीर से त्यागता है, वह अवश्य ही एक निकृष्ट अंग है। साधारणतया धारणा ऐसी ही है। किंतु यह बिलकुल ही असत्य विचार है। यह संस्थान भी वैसा ही उपयोगी और विशेषता रखनेवाला है जैसा कि हृदय व पाचक संस्थान व फुप्फुस। मूत्र के द्वारा शरीर की सब निकृष्ट वस्तुओं का त्याग होता है। मूत्र शरीर को उन विषैले पदार्थों से, जो उसको हानि पहुँचानेवाले होते हैं, मुक्त कर देता है। कुछ रोग ऐसे होते हैं जिनमें मूत्र बनना कम हो जाता है। उन रोगों में रोगी की दशा बहुत ख़राब हो जाती है, बहुधा रोगी नहीं बचते। जिन विषैले पदार्थों को हम मूत्र के द्वारा त्याग देते हैं वे ऐसे हानिकारक होते हैं कि शरीर में रहने पर वे मनुष्य का प्राण ले लेते हैं।

(९) उत्पादक-संस्थान—मूत्र-संस्थान और इस संस्थान का बहुत कुछ भाग एक ही है, किंतु वह मुख्य भाग नहीं है। स्त्री और पुरुषों में यह संस्थान भिन्न होते हैं; क्योंकि दोनों के कार्य भिन्न हैं; बल्कि यों कहना चाहिए कि स्त्री और पुरुष की संज्ञा ही इस संस्थान पर निर्भर करती है।

(१०) विशेष ज्ञानेंद्रियाँ—हमारे यहाँ पाँच ज्ञानेंद्रियाँ मानी जाती हैं। नेत्र, कर्ण, जिह्वा, नासिका और त्वचा। इन सब

इंद्रियाँ की रचना और उनके कार्य बड़े ही विचित्र हैं। इनका संक्षेपतः वर्णन आगे चलकर किया जायगा।

नेत्रों का काम देखना है। इसकी रचना ऐसी है, जैसी फ़ोटोग्राफ़ी के केमरे की होती है। जो कुछ उसके सामने आता है, उस वस्तु की नेत्र के एक पटल पर छाया बन जाती है। इस छाया का अर्थ लगानेवाला मस्तिष्क है। नेत्र केमरे से अधिक कोई काम नहीं करते। जैसे कि चित्र लेने के लिये फ़ोटोग्राफ़र की आवश्यकता है, उसी प्रकार नेत्र में बने हुए छाया को समझने के लिये भी मस्तिष्क की आवश्यकता है। वस्तुतः नेत्र नहीं देखते, मस्तिष्क देखता है; किंतु नेत्रों के द्वारा देखता है। उसी प्रकार श्रवण का काम भी मस्तिष्क करता है; किंतु कर्णों के द्वारा करता है।

कर्ण-यंत्र भी बड़ा ही विचित्र है। इसके तीन भाग हैं। इसमें ऐसा प्रबंध है कि जो ध्वनि कर्ण के बाहर जाती है, उससे उत्पन्न हुई शब्द की लहरें कर्ण के सबसे भीतरी भाग तक पहुँचने में बीस गुणा कम हो जाती हैं। यदि उन लहरों की तीव्रता पूर्ववत् ही रहती, तो कान की झिल्लियाँ फट जातीं।

नासिका का काम सूँघने का है। यह काम भी यथार्थ में मस्तिष्क ही करता है; क्योंकि नाक के भीतर जो पतली-पतली नाड़िएँ फैली हुई हैं, उनके द्वारा गंध का ज्ञान होता है। जिन रोगों में उन नाड़ियों में विकार आ जाता है, उनमें घ्राणशक्ति भी जाती रहती है।

इसी प्रकार जिह्वा का काम स्वाद और त्वचा का काम स्पर्श-ज्ञान करना है। यह अंतिम शक्ति शरीर के चर्म की है।

यह सब भिन्न-भिन्न संस्थान अपना अपना कार्य किया करते हैं। जब तक किसी विशेष अंग में कोई विकार नहीं उत्पन्न होता, उस समय तक वह बराबर अपना काम करता रहता है। शरीर के भलाई के

लिये प्रत्येक संस्थान समान रूप से विशेष महत्त्व का है और प्रत्येक संस्थान का हित दूसरे संस्थानों पर निर्भर करता है। मस्तिष्क के विकार का प्रभाव हृदय पर पड़ सकता है। यदि वह नाड़ी जो मस्तिष्क से हृदय को जाती जिस पर हृदय की गति निर्भर करती है, काट दी जाय तो हृदय बंद हो जायगा। इसी प्रकार मस्तिष्क का दूसरे अंगों के साथ भी संबंध है। किंतु यदि हृदय से मस्तिष्क को रुधिर जाना बंद हो जाय, तो भी वही परिणाम निकलेगा जो मस्तिष्क और हृदय के संबंध को विच्छिन्न करने से निकला था। इसी प्रकार हृदय फुप्फुसों का पोषण करता है और फुप्फुस रक्त को शुद्ध करते हैं। यदि हृदय से फुप्फुस को रक्त जाना बंद हो जाय, तो फुप्फुस और शरीर की मृत्यु हो जायगी; किंतु यदि फुप्फुस रक्त को शुद्ध करना छोड़ दे, तो भी वही परिणाम होगा। वृक्क शरीर के रुधिर से सारे दूषित अवयवों को चुन लेता है और मूत्र द्वारा शरीर से बाहर निकाल देता है। हृदय द्वारा उसका पोषण होता है। उसको रक्त मिलता है और रक्त द्वारा उसको भोजन मिलता है। किंतु यदि वह अपना काम छोड़ दे, शरीर से दूषित वस्तुओं को न निकाले, तो थोड़े समय के पश्चात् शरीर के सब अंगों को कार्य छोड़ना पड़ेगा।

इस भाँति शरीर के सब अंग एक दूसरे के आश्रित हैं और प्रत्येक अंग एक दूसरे के भलाई के लिये अपना कार्य करता है। कोई अंग भी स्वार्थ के साथ काम नहीं कर सकता, क्योंकि उसके कुकर्म का स्वयं उस ही पर बुरा प्रभाव पड़ता है। एक की भलाई में सबकी भलाई है और एक के हानि में सबकी हानि है। यह नहीं हो सकता कि यदि एक अंग को कष्ट हो, तो दूसरे चैन की बंसी बजाए। यदि शरीर में एक स्थान पर फोड़ा हो जाता है, तो उससे सारे शरीर में कष्ट होता है।

आधार और प्रेरक-संस्थान

आजकल जो बहुत बड़े-बड़े छः व सात खंड के मकान बनाए जाते हैं, उनका पहले लोहे के गार्टरों से ढचर तैयार कर लिया जाता है। उसके पश्चात् उन लोहे के गार्टरों के चारों ओर पत्थर, चूने इत्यादि से दीवारें बनाते हैं। इस प्रकार एक बहुत ही सुदृढ़ मकान तैयार हो जाता है। इसी प्रकार शरीर का ढचर अस्थियों का बना हुआ है, जिसके ऊपर मांसपेशी, चर्म इत्यादि लगे हुए हैं। इस प्रकार शरीर का आधार अस्थियाँ हैं। यदि एक मृत शरीर को लेकर उस पर से मांस इत्यादि सब दूर कर दिए जायँ, तो केवल अस्थियों का कंकाल रह जायगा। यदि मृत शरीर को पृथ्वी में गाड़ दिया जाय, तो भी कुछ समय के पश्चात् अस्थियों के अतिरिक्त शरीर का प्रत्येक भाग सड़कर पृथ्वी में मिल जायगा।

अस्थियाँ बहुत दृढ़ होती हैं। वे साधारण भार से न झुकती हैं, न टूटती हैं। उनके तोड़ने के लिये बहुत अधिक शक्ति की आवश्यकता है। यदि ऐसा न होता, तो संसार के सारे कार्यों में बहुत बाधा पड़ती। इस कड़ेपन का विशेष कारण कुछ लवण होते हैं, जो

चूने के मेल से बनते हैं। सबसे अधिक भाग केलशियम फ़ोस्फ़ेट का होता है। इसके साथ में केलशियम के कुछ और भी लवण होते हैं, जैसे कार्बोनेट (Carbonate)। इस प्रकार सारे शरीर की अस्थियों को दृढ़ता देनेवाला विशेष पदार्थ चूना ही है। यदि हम एक अस्थि को हाइड्रोक्लोरिक अम्ल (Hydrochloric Acid) में भिगो दें, तो सारा चूना अम्ल में गलकर अस्थि से बाहर निकल आएगा, जिससे अस्थि बिलकुल कोमल हो जायगी। उस समय उसे जिधर चाहें मोड़ सकते हैं। वह केवल एक रस्सी के टुकड़े की भाँति रह जायगी, जिसकी गाँठ बाँधी जा सकती है।

शरीर का प्रत्येक भाग 'प्रोटोप्लाज़्म' के छोटे-छोटे टुकड़ों से, जिनको सेल कहते हैं, बना हुआ है। तदनुसार यह अस्थियाँ भी सेलों की बनी हुई हैं, जिनके बीच में एक संयोजक वस्तु के तंतु रहते हैं। इस प्रकार यह सेल संयोजक तंतु द्वारा, जिसको सौत्रिक तंतु कहते हैं, आपस में बँधे हुए हैं और इनके बीच में चूने के लवण समाए हुए हैं। अस्थि के सौ भागों में ६६ भाग इन लवणों के रहते हैं। इनके अतिरिक्त अस्थि के भीतर कुछ वसा इत्यादि का भाग भी पाया जाता है।

यह चूना जिसका इतना बड़ा भाग अस्थि में पाया जाता है, भोजन ही से शरीर को मिलता है। कुछ रोग जैसे रिकटेस (Rickets) जिनमें शरीर की अस्थियाँ नरम पड़ जाती हैं, इस चूने की कमी के कारण उत्पन्न होते हैं। बच्चे के लिये यह लवण विशेषकर बहुत ही आवश्यक है। भोजन की भिन्न-भिन्न वस्तु में चूने के लवण उपस्थित रहते हैं।

यह चूना, जिससे अस्थि बनी है, कहाँ से आया? यह तो स्पष्ट है कि अस्थि को तो वह भोजन से मिला और भोजन में पृथ्वी से

आया। किंतु पृथ्वी में यह कहाँ रहता है और वह किस प्रकार उत्पन्न हुआ? इसकी वही लंबी-चौड़ी कथा है, जो पहले वर्णन की जा चुकी है। पृथ्वी के आदि में बड़े बड़े ज्वालामुखी पर्वतों ने कार्बोनिक अम्ल को भीतर से निकालकर बाहर फेंका। उनसे जो लावा बाहर निकला, उससे बड़ी-बड़ी चट्टानें बन गईं, जिसको Igneous Rocks कहते हैं। इन चट्टानों में चूना बहुत था; किंतु उसका रूप दूसरा था। कदाचित् वह कार्बोनेट के रूप में था। कार्बोनिक अम्ल ने, जो बहुत अधिक संख्या में उपस्थित था, क्योंकि वह ज्वालामुखी पर्वतों से बराबर निकल रहा था, इस चूने के कार्बोनेट को घोल दिया, और वह वहाँ से बहकर सामुद्रिक जल में आ गया।

उस समय समुद्र में सहस्रों स्वरूप के जंतु उपस्थित थे। उन्होंने इस वस्तु को संग्रह करना आरंभ किया और उससे अपने चारों ओर एक घोंघा (Shell) तैयार कर लिया, जो उनके शरीर को सुरक्षित रक्खे। जब ये जंतु मरते थे, तो वे समुद्र के तल में जाकर जमा हो जाते थे। इस प्रकार इन जंतुओं के बड़े ढेर जमा हो गए। कुछ समय में इन जंतुओं का शरीर तो गल जाता था, किंतु चूने का ढेर वहीं रह जाता था। इस प्रकार कुछ समय में, समुद्र में चूने के पर्वत बन गए। जब पृथ्वी के भीतर कुछ हलचल हुई, भूचाल आए जिससे कहीं कुछ नीचे के भाग ऊपर आ गए और कहीं समुद्र बन गया, तो उस समय चूने के पर्वत भी समुद्र से ऊपर आ गए। योरप, अफ़रीका और मध्यएशिया का अधिकतर भाग इसी प्रकार बना हुआ है। किसी समय यह भाग समुद्र के नीचे था; किंतु भूचाल से वह ऊपर आ गया। इंगलैंड की, चूने की चट्टानें, आल्प्स पर्वत, हिमालय, सिनाई पर्वत इत्यादि सब सामुद्रिक चूने से बने हुए हैं।
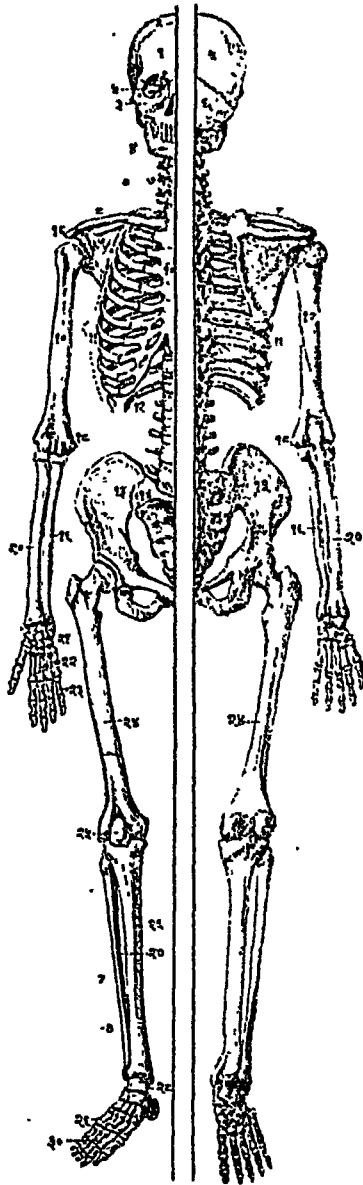
चित्र नं० ४—नर-कंकाल का चित्र, दक्षिणार्ध आगे की ओर का और वामार्ध पीछे की ओर का दृश्य है ।

१—ललाटास्थि

२—पार्श्वास्थि

३—कपोलास्थि

४—ऊर्ध्व हन्वस्थि

५—नेत्रगुहा

६—पश्चादस्थि

७—ग्रीवा के कशेरुक

८—अक्षक

९—स्कंधास्थि व
अंसफलक

१०—वक्षास्थि

११—पर्शुका

१२—स्वतंत्र पर्शुका

१३—जघनास्थि

१४—त्रिकास्थि

१५—अनुत्रिकास्थि

१६—अंसफलक का अंसतुड
प्रवर्धन

१७—प्रगंडास्थि

१८—कूर्पर संधि

१९—अंतः प्रकोष्ठास्थि

२०—बहिः प्रकोष्ठास्थि

२१—मणिबंध प्रांत

२२—करभास्थि

२३—हाथ की अंगुल्यस्थियाँ

२४—उर्वस्थि

२५—जान्वस्थि

२६—अंतर्जंघास्थि

२७—बहिर्जंघास्थि

२८—कूर्चास्थियाँ

२९—प्रपादास्थियाँ

३०—पाँव की अंगुल्यस्थियाँ

इस प्रकार इसके लाखों वर्ष के पश्चात् जब मनुष्य पृथ्वी पर आया, तो उस समय चूने से मिला हुआ बहुत जल उपस्थित था। इसके अतिरिक्त चट्टानों में चूने का अथाह समूह था। इन चट्टानों में और पृथ्वी में स्फुर का भी कुछ भाग उपस्थित था, जैसा कि इस समय भी है। अतएव उनके संयोग से कैलशियम फ़ोस्फ़ेट बन गया और भोजन-पदार्थों के द्वारा हमारे शरीर के अवयवों को बनाने को पहुँच गया।

आधुनिक व्यवच्छेदकों के अनुसार हमारे शरोर में २०६ अस्थियाँ होतो हैं। कुछ स्थानों की अस्थियाँ बड़ी और लंबो होती हैं, और कुछ अस्थियाँ चिपटी होती हैं। मस्तिष्क को चारों ओर से ढकनेवाली अस्थियाँ चपटी होती हैं; किंतु अत्यंत दृढ़ होती हैं। खोपड़ी के भीतर कुछ बहुत छोटी अस्थियाँ भी पाई जाती हैं। वे इतनो हलकी होती हैं कि फूँक मारने से उड़ सकती हैं। बाहु और टाँगों की अस्थियाँ लंबी होती हैं। कूर्पर या कलाई की अस्थियाँ भी छोटी-छोटी होती हैं।

व्याख्या के लिये नर-कंकाल को कई भागों में विभाजित कर दिया गया है। निम्न-लिखित नामों से उनको संबोधन किया जाता है—

१. कपर या खोपड़ो—खोपड़ो २२ अस्थियों से मिलकर बनती है। इसकी बनावट बिलकुल एक संदूक़ के सदृश है, जिसके भीतर जाने का कोई मार्ग नहीं है। इनमें से आठ अस्थियाँ आपस में मिलकर एक संदूक़ के सदृश कोष्ठ बना देती हैं। शेष अस्थियाँ इस कोष्ठ के आगे की ओर लगी रहती हैं। यह अस्थियों का संदूक़ मस्तिष्क को सुरक्षित किए हुए हैं। इधर-उधर इसमें कई छिद्र हैं जिनमें होकर मस्तिष्क से नाड़ियाँ बाहर निकलती हैं। नीचे की ओर

एक बड़ा छिद्र है, जिसके द्वारा मस्तिष्क का एक बड़ा भाग, जिसको सुषुम्ना कहते हैं, बाहर निकलता है और कशेरुकों द्वारा बनी हुई नली में होता हुआ पृष्ठ-वंश के अंतिम भाग तक चला जाता है।

चित्र नं० ५—कर्पर या खोपड़ी

१—पार्श्वास्थि

२—ललाटास्थि

३—शंखास्थि

४—अधोहन्वस्थि

५—पश्चादस्थि

६—कपोलास्थि

७—ऊर्ध्व हन्वस्थि

८—नासास्थि
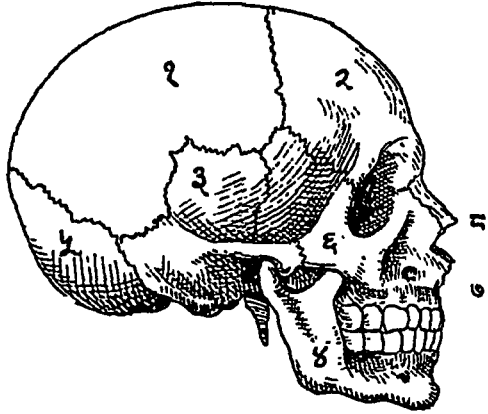
खोपड़ी की कुछ अस्थियाँ तो बिलकुल चिपटी और सपाट हैं और कुछ बहुत ही खुरदरी हैं और उनमें बहुत से प्रवर्द्धन हैं।

२. पृष्ठ-वंश—इसको साधारणतया रीढ़ की अस्थि कहते हैं। इसके २६ भाग हैं। प्रत्येक भाग को कशेरुक कहते हैं। ये कशेरुक खोपड़ी को सबसे पीछे की अस्थि के नीचे से आरंभ होते हैं। कशेरुक के गात्र और पाश्चात्य भाग के बीच में एक छिद्र रहता है, जिसको सुषुम्ना छिद्र कहते हैं। कशेरुकों के गात्र हमारे आगे की ओर और उनके पाश्चात्य भाग पीछे की ओर रहते हैं। पृष्ठ-वंश में कशेरुक एक दूसरे के ऊपर स्थित हैं और बंधनों के द्वारा एक दूसरे से बँधे हुए हैं। उनके इस प्रकार रहने से

चित्र नं० ६—पृष्ठ-वंश का चित्र.

ग्रीवा का प्रथम कशेरुक

ग्रीवा का दूसरा कशेरुक

पीठ का प्रथम कशेरुक

कटि का प्रथम कशेरुक

अ
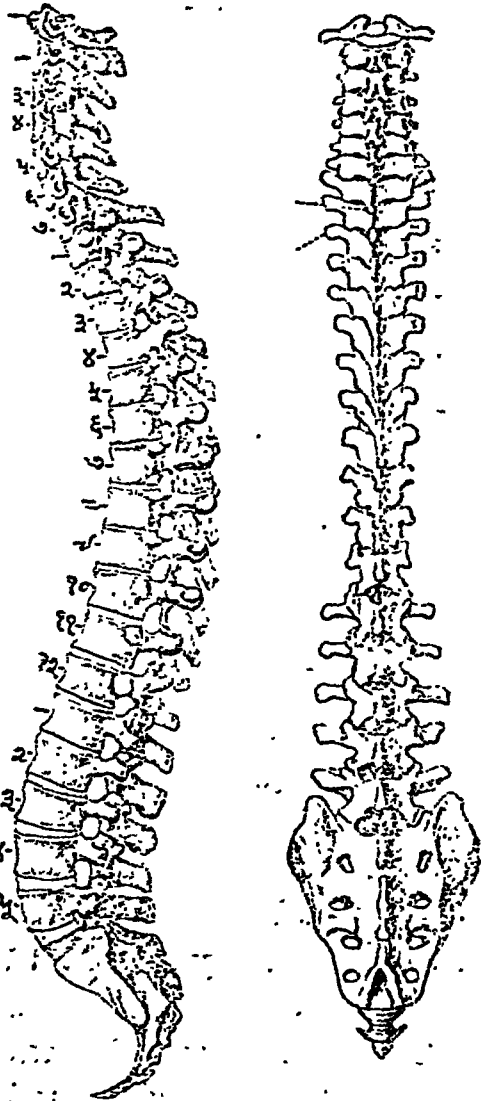
अ—पृष्ठ-वंश का पार्श्व-दृश्य   ब—पृष्ठ-वंश का पीछे का दृश्य

सब कशेरुकों के सुपुम्ना छिद्र आपस में मिल जाते हैं और उससे एक लंबी नली बन जाती है, जिसमें सुपुम्ना रहती है। सुपुम्ना के दोनों ओर से नाड़ियाँ निकलती हैं, जो प्रत्येक दो कशेरुकों के मिलने के स्थानांतर में होती हुई दाएँ और बाएँ दोनों ओर से निकलकर शरीर के भिन्न स्थानों को चली जाती हैं।

चित्र नं० ७—ग्रीवा का एक कशेरुक
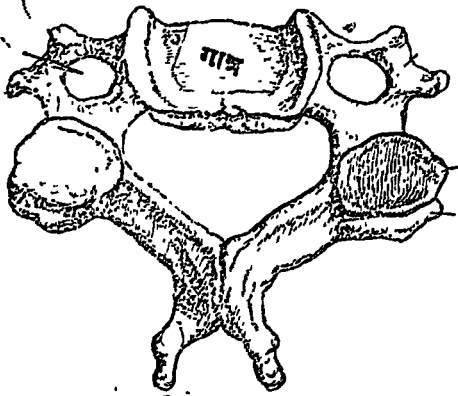
स्थानों के अनुसार कशेरुकों के रूप में भी कुछ अंतर आ गया है। इस रूपांतर के अनुसार उनको पाँच प्रांतों में बाँट दिया गया है। सबसे पहिले ग्रीवा के कशेरुक, जो खोपड़ी के नीचे से आरंभ होते हैं, संख्या में ७ हैं। ये दूसरे देश के कशेरुकों की अपेक्षा छोटे और नाज़ुक होते हैं। प्रथम और दूसरे कशेरुकों का रूप सभी से भिन्न होता है।

दूसरा प्रांत वक्ष का है। इसमें बारह कशेरुक होते हैं, जो आपस

चित्र नं० ८—ग्रीवा का प्रथम कशेरुक
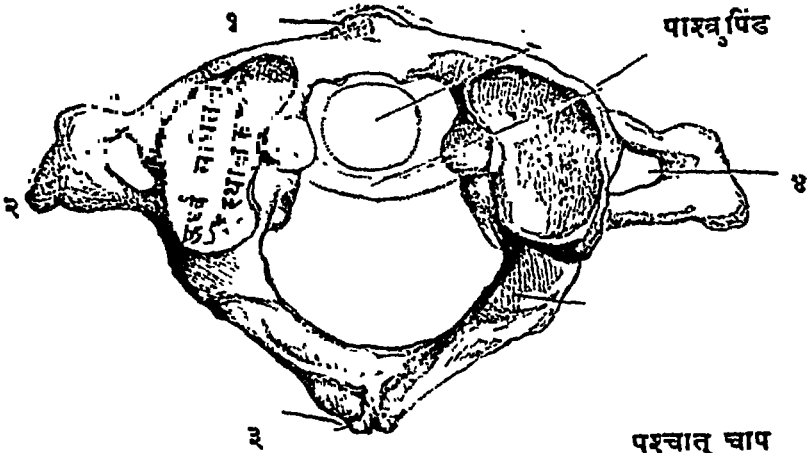
१ पूर्व अर्बुद, २पार्श्व प्रवर्द्धन,३पश्चात् अर्बुद, ४पार्श्व प्रवर्द्धनका छिद्र में एक दूसरे से संधि किए रहते हैं। इन संधि-स्थानों ही से नाड़ियाँ निकलती हैं।

चित्र नं० ९—ग्रीवा के दूसरे कशेरुक का पार्श्व-दृश्य
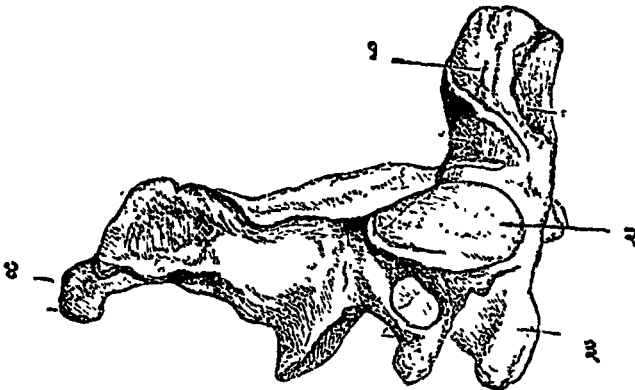
१ दंत प्रवर्द्धन, २ ऊर्ध्व संधितल(स्थालक),३ गात्र, ४ पश्चात् प्रवर्द्धन

इसके पश्चात् तीसरा प्रांत कटि का आता है, जिसमें पाँच कशेरुक हैं। ये कशेरुक सबसे बड़े और दृढ़ होते हैं और इनके पाश्चात्य प्रवर्द्धन भी भली भाँति उभरे रहते हैं।

कटि के कशेरुकों के नीचे दो अस्थियाँ और होती हैं जिनको त्रिकास्थि और गुदास्थि अथवा अनुत्रिकास्थि कहते हैं। त्रिकास्थि वस्तुतः पाँच कशेरुकों के संयोग से बनी हुई है। यह नहीं कहा जा सकता कि किस कारण से यह सब कशेरुक आपस में मिल गए। किंतु उनके मिलने के चिह्न बहुत ही स्पष्ट हैं। अस्थि

चित्र नं० १०—वक्ष का कशेरुक
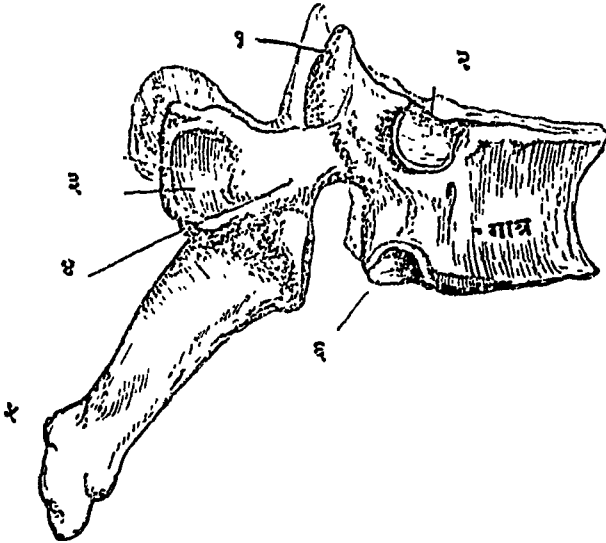
१ ऊर्ध्वसंधि-प्रवर्द्धन, २ पर्शुका के सिर का स्थालक तल, ३ पर्शुका के अर्बुद का स्थालक, ४ पार्श्व अथवा बाहुक प्रवर्द्धन, ५ कंटक, ६ अधः स्थालक

की तनिक-सी परीक्षा करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। अस्थि के अगले और पिछले दोनों पृष्ठों पर चार उभरी हुई रेखाएँ मालूम होती हैं। येही पाँचों कशेरुकों के मिलने के स्थान हैं। इन रेखाओं के दोनों ओर चार-चार छिद्र हैं, जैसे कि कशेरुकों के दोनों ओर रहते हैं, जिनमें होकर नाड़ियाँ निकलती हैं। इस अस्थि के छिद्रों के बाहर के भाग प्रवर्द्धनों के संयोग से बने हैं। वस्ति गह्वर के पिछले भाग के बनाने में यह अस्थि भाग लेती है।

चित्र नं० ११—पीठ के कशेरुक का पार्श्व-दृश्य
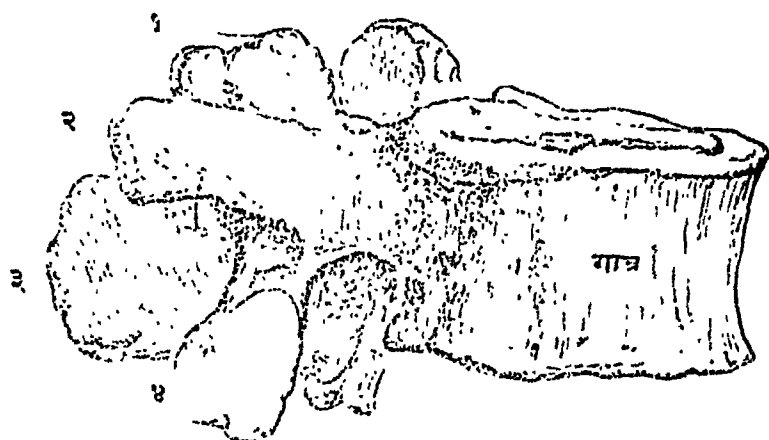
१ ऊर्ध्व संधि प्रवर्द्धन, २ वाहुक प्रवर्द्धन, ३ कंटक, ४ अधो संधि प्रवर्द्धन

त्रिकास्थि के नीचे गुदास्थि व अनुत्रिकास्थि रहती है, जो वास्तव में चार छोटी अस्थियों के जुड़ने से बनी है। ये सब अस्थियाँ व कशेरुक, उन जंतुओं में जिनमें पूँछ होती है, पृथक् रहते हैं।

त्रिकास्थि—वस्ति की ओर का पृष्ठ

ऊर्ध्व संधि-प्रवर्द्धन

प्रथम पीठ के कशेरुक गात्र

द्वितीय

तृतीय

चतुर्थ

पंचम
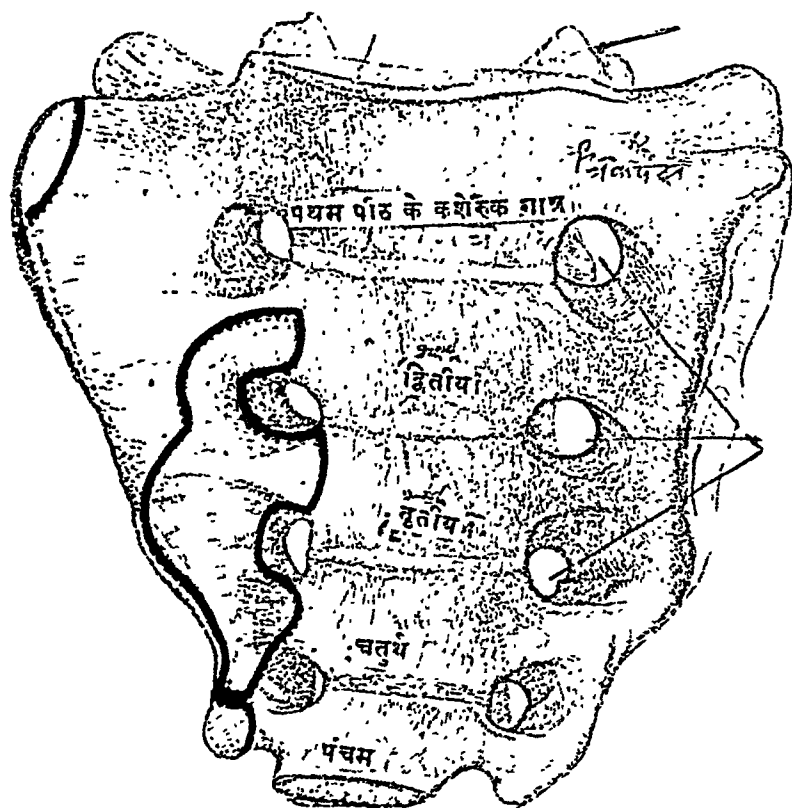
पूर्वनाड़ी-छिद्र

गुदास्थि के साथ संधि

पृष्ठ-संख्या ७०

चित्र नं० १२—श्रोणिचक्र
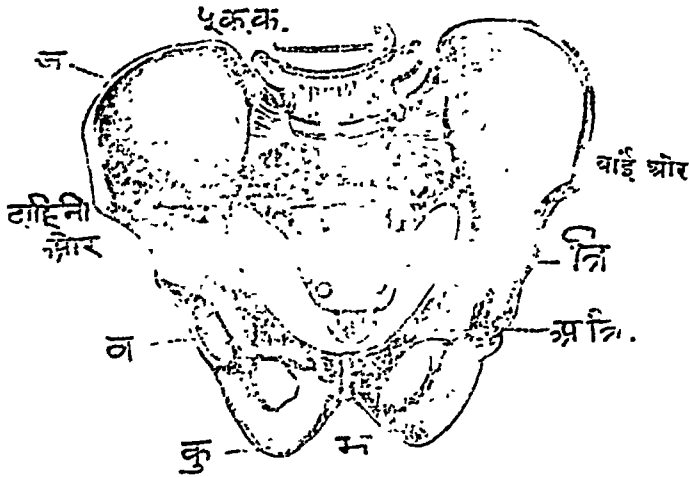
त्रि—त्रिकास्थि

अ. त्रि.—अनुत्रिकास्थि

ज—जघनास्थि

कु—कुकुंदरास्थि

भ—भगास्थि

व—वंक्षणोदूखल

५ क. क.—पाँचवाँ कटि प्रांत का कशेरुक

इनके जुड़ने का कारण यह है कि विकास-क्रम के अनुसार जब किसी भाँति के अन्य पशुओं से मनुष्य बना, तो पूँछ जाती रही। अतएव ये अस्थियाँ भी निरर्थक हो गईं। यह प्रकृति का नियम है कि जो

चित्र नं० १२—गुदास्थि
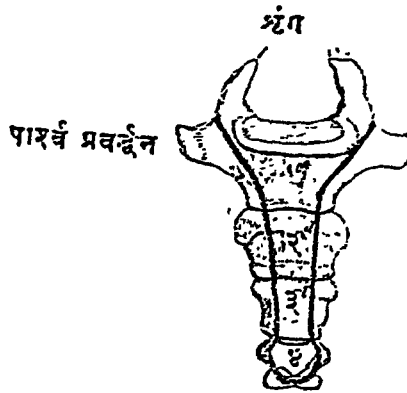
वस्तु प्रयोग में नहीं आती अथवा यदि वह निरर्थक होती है, तो उसका नाश हो जाता है। अतएव ये अस्थियाँ अपने आकार में भी क्षीण हो गई हैं और आपस में मिलकर मनुष्य में अपनी पुरानी दशा का केवल चिह्न-मात्र रह गई हैं।

ये सब कशेरुक और त्रिकास्थि इत्यादि आपस में जुड़ी रहती हैं और कुछ झिल्लियों के बंधन इनको आपस में मिलाए रहते हैं। इस प्रकार इनकी जो संधियाँ बनती हैं, वे दृढ़ और साथ में कुछ चलायमान होती हैं अर्थात् उनमें कुछ गति भी हो सकती है।

कुछ बंधन इनके आगे रहते हैं। पीछे की ओर भी कई बंधन होते हैं, जो प्रवर्द्धन इत्यादि पर लगे रहते हैं। ये सब बंधन सब कशेरुकों को दृढ़ता के साथ आपस में बाँधे रहते हैं, जिससे सब कशेरुक अपने स्थान पर स्थित रहें, और निर्दिष्ट स्थान से हटने न पावें। कशेरुकों का स्थान-च्युत हो जाना अथवा इनका संधि-भंग होना जीवन के लिये घातक हो सकता है।

(३) ऊर्ध्व शाखाएँ—स्कंधास्थि, अक्षक, प्रगंडास्थि, दोनों प्रकोष्टास्थियाँ, कलाई और हस्त-तल व उँगलियों की अस्थियाँ सब मिलकर ३२ अस्थियाँ हैं। प्रत्येक ओर की ऊर्ध्वशाखा ३२ अस्थियों से मिलकर बनती है। उनमें पहिली पाँच अस्थियाँ तो बड़ी होती हैं, किंतु कलाई और हाथ की उँगलियाँ छोटी होती हैं। कलाई आठ अस्थियों से बनती है। हस्त-तल में ५ अस्थियाँ हैं। उँगलियों में १४ अस्थियाँ होती हैं। प्रत्येक उँगली में ३ और अँगूठे में २ अस्थियाँ होती हैं। उँगली को देखने से यह समझ में आ जायगा। उँगली का प्रत्येक पोरवा उँगली की एक अस्थि से बनता है।

(४) निम्न शाखाएँ—प्रत्येक निम्न शाखा में ३१ अस्थियाँ हैं। यहाँ अस्थियों के प्रबंध का वही क्रम है, जो ऊर्ध्व शाखा में है। किंतु अक्षक के स्थान में कोई पृथक् अस्थि नहीं है। पाँव की अस्थियाँ हाथ की अस्थियों से अधिक बड़ी, मोटी और घनी होती हैं।

(५) वक्षस्थल—में २५ अस्थियाँ होती हैं; २४ पर्शुकाएँ और एक वक्षास्थि। ये पर्शुकाएँ एक ओर पृष्ठ-वंश के कशेरुकों से लगी रहती हैं और दूसरी ओर वक्षास्थि से इनकी संधि होती

चित्र नं० १४—उच्च और निम्न शाखाओं की अस्थियाँ
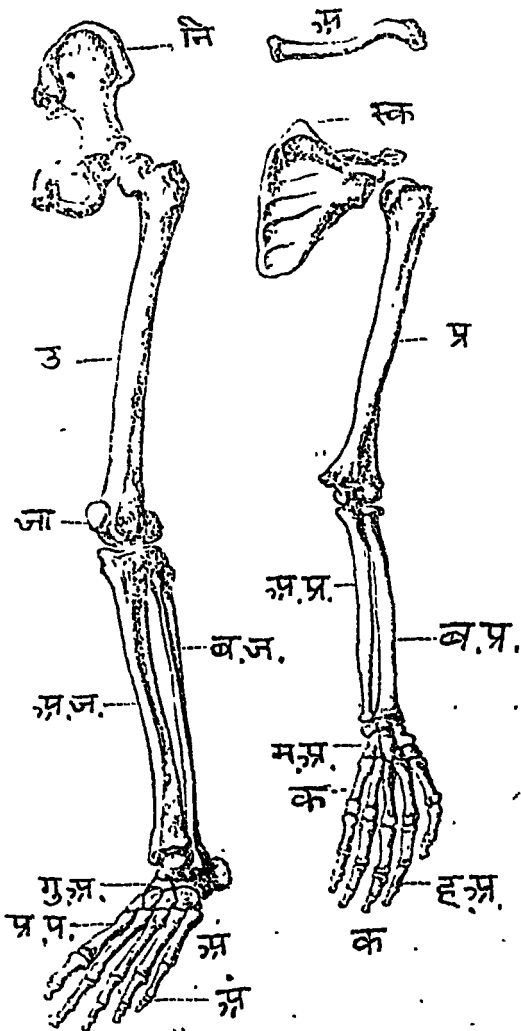
अ

नि—नितंबास्थि

उ—उर्वस्थि

जा—जान्वस्थि

अं.ज.—अंतर्जंघास्थि

ब.ज.—बहिर्जंघास्थि

गु.अ.—गुल्फ प्रांत की अस्थियाँ

प्र.प.—प्रपादास्थियाँ

अं—अंगुल्यास्थियाँ

क

अ—अक्षकास्थि

स्क—स्कंधास्थि

प्र—प्रगंडास्थि

अं.प्र.—अंतः प्रकोष्ठास्थि

ब.प्र.—बहिः प्रकोष्ठास्थि

म.अ.—मणिबंध की अस्थियाँ

क—करभास्थियाँ

ह.अ.—हाथ की अंगुल्यास्थियाँ

हैं। ऊपर की दस पर्शुकाओं का अर्थात् दोनों ओर की २० पर्शु-

चित्र सं० १९—दाहिनी और बाईं पर्शुका का कशेरुक के साथ संबंध
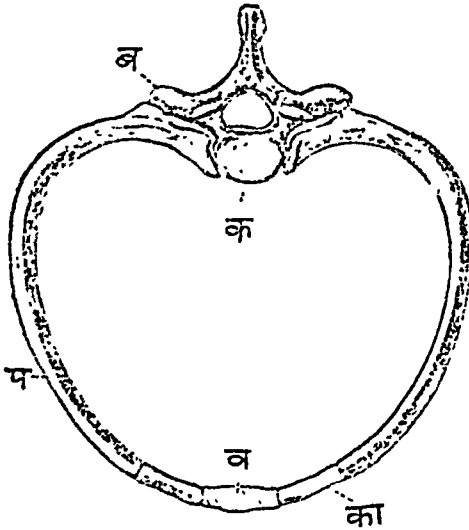
क—कशेरुक का गात्र

ब—बाहुक प्रवर्द्धन

प—पर्शुका

का—कारटिलेज

व—वक्षास्थि

काओं का इस प्रकार प्रबंध होता है। नीचे की दो पर्शुकाएँ जो बहुत छोटी होती हैं, वे केवल पीछे की ओर पृष्ठ-वंश से जुड़ी

रहती हैं। आगे की ओर वक्षास्थि से उनका कुछ भी संबंध नहीं

चित्र नं० १६—चार पर्शुकाएँ अंतर्पर्शुका पेशियों के साथ दिखाई गई हैं
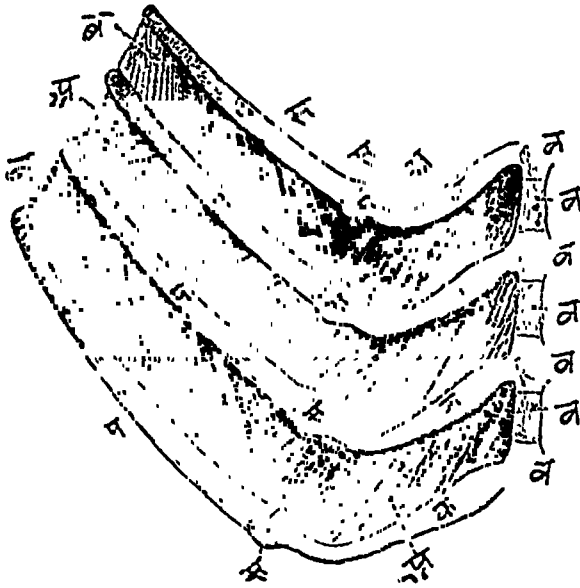
प—पर्शुका

क—कारटिलेज

स—पर्शुका और कारटिलेज का संगम

व—वक्षास्थि

ब—बहिस्थ अंतर्पर्शुका पेशी

अ—अंतरथ अंतर्पर्शुका पेशी

दूसरी और तीसरी पर्शुकाओं की बहिस्थ पेशी हटा दी गई है। बीच में पेशियों के सूत्रों की दिशा विशेष ध्यान से देखने योग्य है।

हैं। ये पर्शुकाएं ऊपर से बहुत मोटी और बलवती पेशियों से ढकी रहती हैं। इस प्रकार पर्शुका और पेशियों से एक सुरक्षित बक्स बन जाता है, जिसके भीतर हृदय और फुफ्फुस रहते हैं।

चित्र नं० १७—संपूर्ण वक्ष का कंकाल
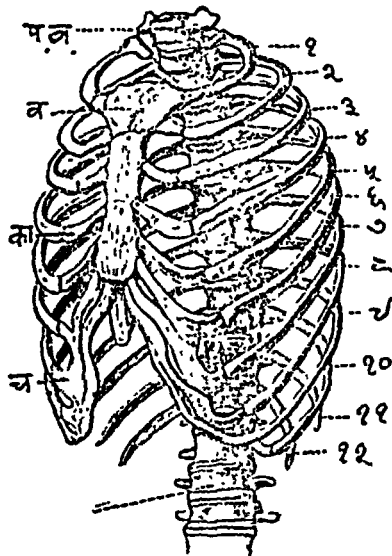
प.व.—पृष्ठ-वंश

१-१२—पर्शुकाएँ

व—वक्षास्थि

का—पर्शुकीय कारटिलेज

च—नीचे की पर्शुकाओं के संयुक्त कारटिलेज

पर्शुकाएँ लचकीली होती हैं । कुछ थोड़ा-सा दबाव पड़ने से ये

चित्र नं० १८—वक्षास्थि और पर्शुका
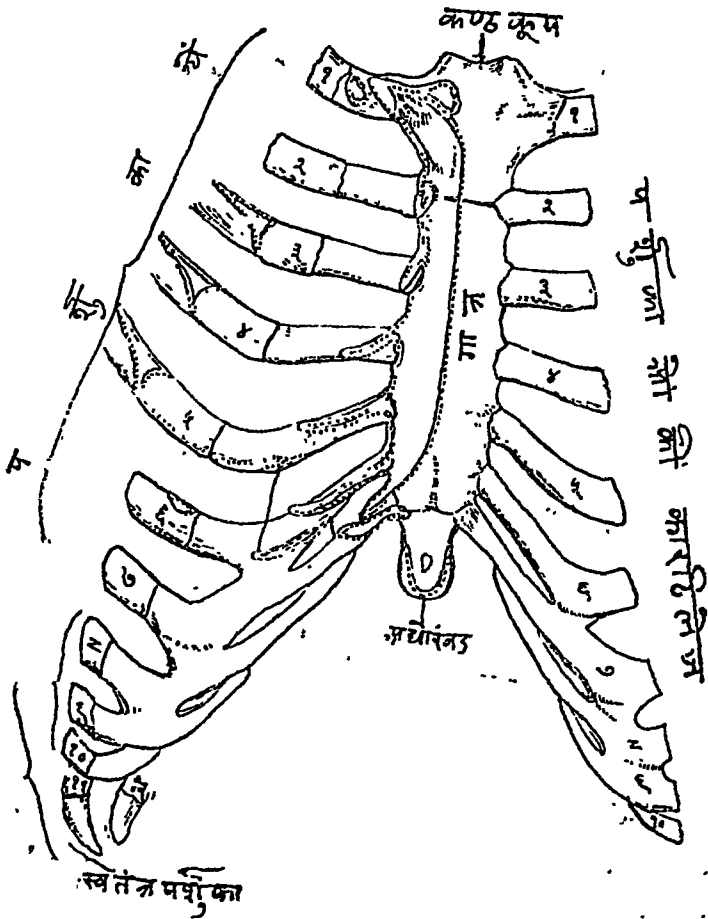
भीतर की ओर लचक जाती हैं । पर्शुकाओं का यह गुण बड़े काम का है। इस भाग की ऐसी स्थिति है कि बहुधा इस पर कुछ

भार आन पड़ता है। यदि इनमें—यह गुण न हो तो ये बहुत ही सहज में टूट जाया करें।

(६) ग्रीवा में श्वास-प्रणाली और स्वर-यंत्र के ऊपर हाथ से दबाकर देखने से एक अस्थि मालूम की जा सकती है। यह कंठकास्थि है।

चित्र नं० १६—पर्शुका
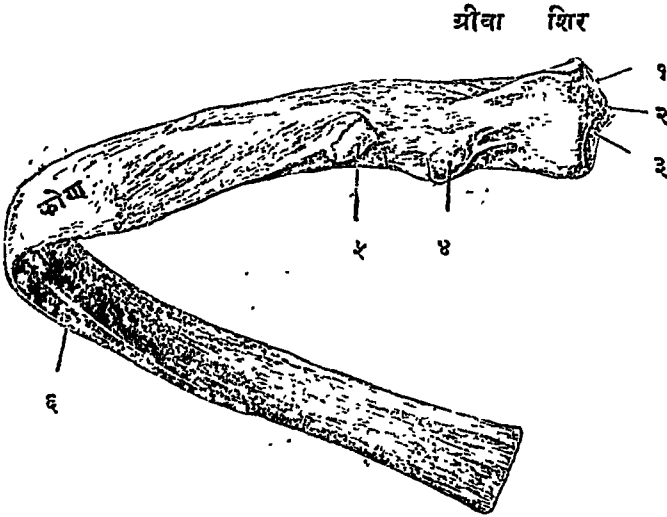
१ स्थालक, २ तोरणिका, ३ स्थालक, ४ पिंडक का स्थालक भाग, ५ पिंडक का स्वतंत्र भाग, ६ परिखा।

चित्र नं० २०—कंठकास्थि
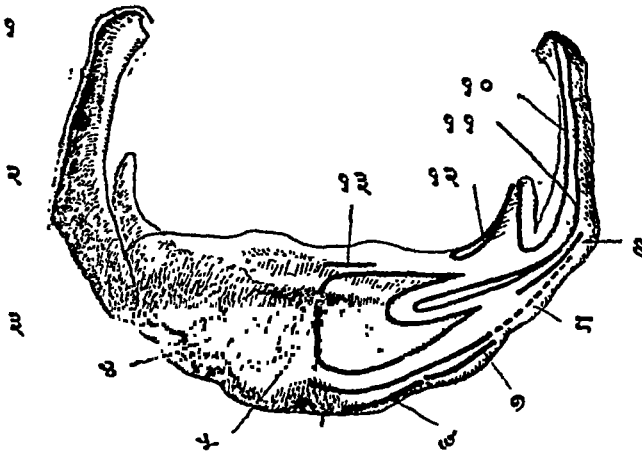
१ बृहद्शृंग, २ लघुशृंग. ३ गात्र, ४,५,६,७.८,९,१०,११,१२,१३, भिन्न-भिन्न पेशियों के चिह्न

(७) इन सब अस्थियों के अतिरिक्त प्रत्येक कर्ण में तीन छोटी-छोटी अस्थियाँ होती हैं। इस प्रकार दोनों ओर ६ अस्थियाँ हुईं।

ये सब ऊपर बताई हुई अस्थियाँ २०६ होती हैं। कुछ ऐसे स्थान हैं जहाँ अस्थियाँ तो नहीं है, किंतु एक कड़ी वस्तु है, जिसको कारटिलेज कहते हैं। नासिका में ऊपर की ओर अस्थि है, किंतु नीचे का भाग जो बहुत कड़ा नहीं है, कारटिलेज का बना हुआ है। कर्ण का बाह्य भाग कारटिलेज ही का बना हुआ है। स्वर-यंत्र में कारटिलेज कई स्थानों में पाया जाता है।

कारटिलेज का विशेष गुण यह है कि उससे अंग में आकार भी आ जाता है और साथ में वह अस्थि की भाँति कड़ा भी नहीं

चित्र नं० २१—मुद्गर

चित्र नं० २२—नेहाई

गात्र

मुद्गर संधिस्थल

लघु प्रवर्द्धन

बंधन के लगने का स्थान

संधिस्थल के नीचे अस्थि का उभार

पोषक धमनी का छिद्र

दीर्घ प्रवर्द्धन जो रकाब से लगता है

चित्र नं० २३—रकाब

शिर

ग्रीवा

चाप

मूल
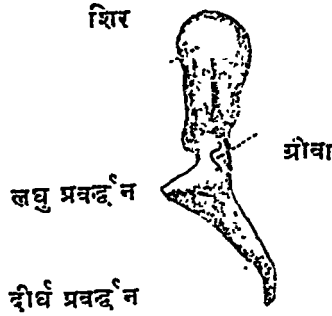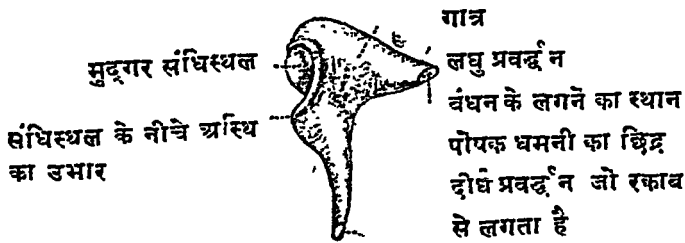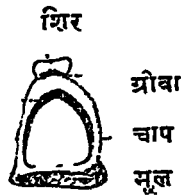
होता। उसको इच्छानुसार इधर-उधर को मोड़ा भी जा सकता है। छोड़ने पर वह फिर अपने पुराने आकार में आ जाता है। शरीर में जितनी संधियाँ हैं उन सबों में यह कारटिलेज पाया जाता है। इसकी स्थिति दो अस्थियों के बीच में होती है, जिससे दोनों अस्थियाँ रगड़ से बची रहें। संधियों की अस्थियों में जो गढ़े बन जाते हैं, जिसमें दूसरी अस्थि का सिरा रहता है, उसके चारों ओर भी कुछ कारटिलेज लगा रहता है।

गर्भावस्था में, भ्रूण के शरीर में, अस्थियों के बनने से पूर्व उनके स्थान में कारटिलेज रहता है। पाँच व छः सप्ताह के भ्रूण के शरीर में अस्थि नहीं होती। वहाँ बहुत-से स्थानों में कारटिलेज ही पाया जाता है। ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों कारटिलेज भी अस्थि के रूप में परिवर्तित होता जाता है। कारटिलेज के सेलों के बीच में चूने के लवण एकत्रित होने लगते हैं, जिससे उसमें कठिनता आ जाती है। छठें, सातवें या आठवें सप्ताहों में बहुत-से स्थानों में अस्थि बन जाती है। इस प्रकार कारटिलेज से अस्थि बनने की विधि को 'अस्थि-विकास' कहते हैं, और वह स्थान जहाँ कारटिलेज के भीतर अस्थि बनना आरंभ होता है, 'अस्थि-विकास-केंद्र' कहलाता है। सब अस्थियों का बनना विकास-केंद्रों ही से आरंभ होता है और फिर चारों ओर को फैलता है। धीरे धीरे सब अस्थियाँ इसी प्रकार बन जाती हैं। जो अस्थियाँ लंबी होती हैं, उनमें अस्थि-विकास गात्र से आरंभ होता है। बहुधा अस्थियों में एक से अधिक केंद्र होते हैं। प्रत्येक अस्थि में चाहे वह कितनी ही छोटी क्यों न हो, कम-से-कम अस्थि-विकास का एक केंद्र अवश्य होता है।

ये अस्थि-विकास के केंद्र नियत समय पर उदय होते हैं। प्रत्येक

चित्र नं० २४—कारटिलेज की सूक्ष्म रचना
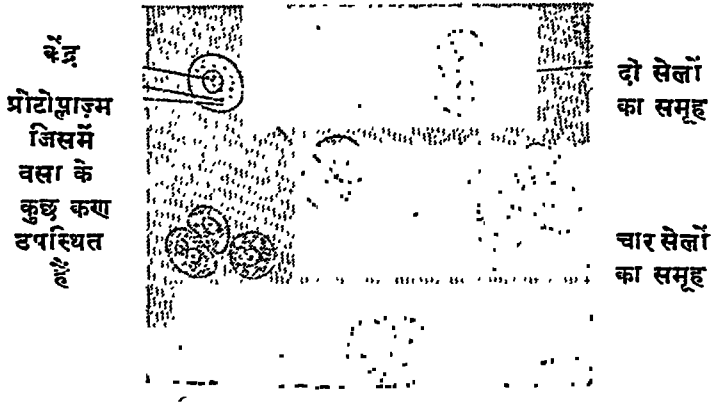
अस्थि के प्रत्येक केंद्र के लिये एक विशेष समय नियत है, जब वह केंद्र बनना आरंभ होगा। इसके द्वारा बहुधा आयु के निश्चय करने में भी विकास-केंद्र से सहायता ली जाती है। शरीर में कुछ ऐसी अस्थियाँ हैं, जिनमें केंद्र का विकास अठारहवें व पचीसवें वर्ष में होता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि केलशियम फ़ोस्फ़ेट, कार्बोनेट इत्यादि के मिलने से अस्थि बनती है। पर यदि इन वस्तुओं को इसी निष्पत्ति में, जिसमें वह अस्थि में पाई जाती है, आपस में मिला दिया जाय और एक साँचे में ढालकर अस्थि-सदृश वस्तु बनाई

चित्र नं० २५—अस्थि की आंतरिक रचना। चौड़ाई का परिच्छेद। अस्थि के चौड़ाई के ओर से परिच्छेद काटा गया है, जिसमें तीन हेवर्शियन नलिकाएँ दिखाई देती हैं। उनकी चारों ओर चक्र के रूप में घेरे हुए अस्थि के स्तर हैं, जिनमें लेक्यूनी विद्यमान हैं। उनसे अत्यंत सूक्ष्म नलिका, जो केनलीक्यूली कहलाती है, निकलती दिखाई देती है।
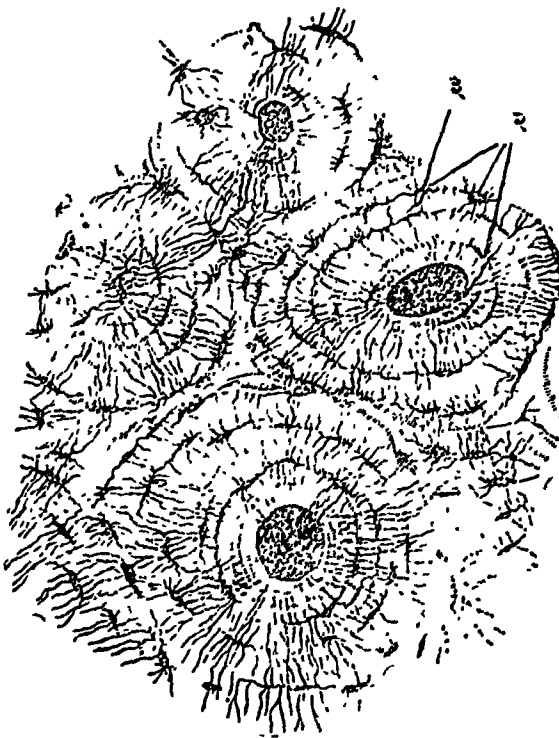
१ हेवर्शियन नलिका (Haversian Canal)
२ लेक्यूनो (Lacunae)
३ केनलीक्यूली (Canaliculi)

जाय, तो वह देखने में अस्थि के समान भले ही हो, पर वास्तव में अस्थि नहीं होगी। अस्थि एक जीवित वस्तु है, जिसमें जीवन के सब लक्षण उपस्थित हैं। उसकी रचना अद्भुत है। यदि हम एक लंबी अस्थि को काटकर देखें, तो हमें मालूम होगा कि प्रकृति ने उसे इस प्रकार बनाया है कि वह अत्यंत दृढ हो; अधिक-से-अधिक भार सहन कर सके; फिर भी बहुत भारी न हो।

चित्र नं० २६ – अस्थि की आंतरिक रचना, लंबाई का परिच्छेद
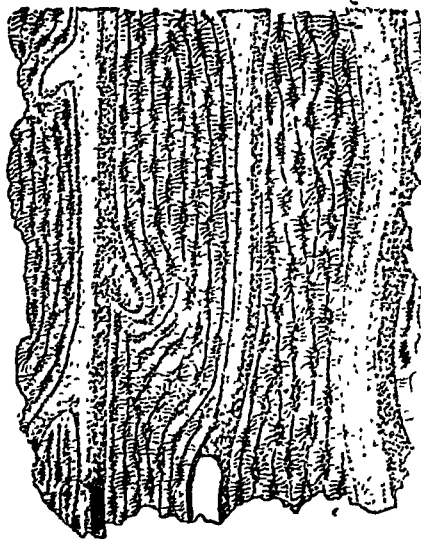
चित्र में तीन हेवर्शियन नलिकाएँ दीखती हैं। उनके बीच में लेकुनी स्थित हैं, जिनसे सूक्ष्म नलिकाएँ निकल रही हैं।

एक लंबी अस्थि के काटने पर हम देखेंगे कि वह बीच में खोखली है। यह खोखली नली उसमें एक सिरे से दूसरे सिरे तक वर्तमान है। इस स्थान में अस्थि-मज्जा रहती है। इस नली के चारों ओर अस्थि के परत व स्तर चक्ररूप में स्थित हैं। अर्थात् जो आकार बीच की नली का है, उसी आकार में चूने और दूसरे पदार्थों के परत भी स्थित हैं। अस्थि की रचना बाहर की ओर तो घनी है, किंतु नली की ओर विच्छिन्न अर्थात् छीदी है। अस्थि के दोनों सिरों की रचना भी इसी प्रकार विच्छिन्न होती है। हम चाहे जिस अस्थि को काटकर उसकी परीक्षा करें, उसकी रचना इसी प्रकार की मिलेगी। प्रत्येक अस्थि घने और विच्छिन्न भाग की बनी हुई दिखाई देगी।

प्रकृति ने अस्थि को इस प्रकार बनाकर दो अभिप्राय पूरे किए हैं। उसने जितना भी हो सका है, कंजूसी से काम लिया है। यदि अस्थियाँ ठोस होतीं, तो उनके बनने में अधिक वस्तु का व्यय होता और फिर उनमें बोझ भी अधिक होता। दूसरे घने और विच्छिन्न भाग में अस्थि को विभक्त करके और उसके परतों को एक केंद्रीय क्रम में रचकर भी प्रकृति ने अपनी वस्तु को बचा लिया है और साथ में अस्थि की दृढ़ता बढ़ा दी है। एक-केंद्रीय रचना सदा बहुत भार सहन कर सकती है। बाहर की ओर जहाँ आघात इत्यादि की अधिक संभावना होती है, अस्थि घनी बना दी गई है।

इस प्रकार अस्थि के भीतर बहुत-से छिद्र मिलते हैं, जिनके आकार भिन्न होते हैं। ये सब छिद्र अस्थि के परतों के बीच में उपस्थित हैं। कोई अस्थि की लंबाई की ओर हैं और कोई चौड़ाई की ओर।

यदि संसार की अन्य वस्तुओं से अस्थि की तुलना की जाय, तो अस्थि बहुत दृढ़ निकलेगी। बेलूत नाम के वृक्ष की लकड़ी, जिसको

अँगरेज़ी में Oak कहते हैं, बहुत दृढ़ होती है। किंतु अस्थि उससे दुगुनी दृढ़ होती है। शीशम व टीक (Teak) से तो अस्थि कई गुणा अधिक मज़बूत होती है। विच्छिन्न (Spongy) अस्थि का एक वर्ग ,च जंघा की अस्थि के नीचे के भाग से काटा गया, जिसकी तौल केवल २७ रत्ती थी। उसको पृथ्वी पर उसी भाँति रख दिया गया, जिस प्रकार वह अस्थि साधारण अवस्था में मनुष्य के शरीर में रहती है और उस पर ४०० पौंड (५ मन) का बोझ रख दिया गया, पर वह अस्थि का भाग ज्यों-का-त्यों ही बना रहा।

भ्रूणावस्था में शरीर में कुछ समय तक केवल कारटिलेज रहता है। उसके पश्चात् कारटिलेज से अस्थि का विकास होता है। उस कारटिलेज के चारों ओर एक झिल्ली रहती है, जिसको Perichondrium कहते हैं। यद्यपि कारटिलेज ही में चूना एकत्रित होना आरंभ होता है और वहाँ ही अस्थि सबसे पहिले बनती है, किंतु अस्थि बनानेवाली यही झिल्ली है। यहीं अस्थि-निर्माता सेलों का निवासस्थान है।

यहीं से वह अपना काम आरंभ करते हैं। भ्रूणावस्था के सातवें सप्ताह में जंघा के बीच के भाग में अस्थि का बनना आरंभ होता है। अस्थिजनक सेल पहले बाहर की ओर बारीक-बारीक सूत्रों को बनाते हैं; तत्पश्चात् उन पर चूने का स्तर चढ़ा देते हैं। यह सूत्र बीच की एक नली के चारों ओर एक केंद्रीय क्रम से स्थापित किए जाते हैं। अस्थि की आंतरिक रचना को देखने ही से उसका सहज में अनुमान किया जा सकता है।

ये सेल बड़ी दक्षता से अस्थि को बनाते हैं। जहाँ अस्थि के शिर, गात्र, प्रवर्द्धन इत्यादि बनने चाहिए, वे वहीं बनते हैं। इस

कार्य में तनिक भी भूल नहीं होती। इन सेलों में यह अद्भुत शक्ति है। उन पर किसी नाड़ियों का प्रभाव नहीं है। मस्तिष्क से उनका कोई संबंध नहीं रहता। पूर्णतया स्वतंत्र रहते हुए भी सब सेल एक समान कार्य करते हैं।

यदि अस्थि कहीं से टूट जाय, पर अस्थि के ऊपर की झिल्ली, जिसको अस्थ्यावरण (Periosteum) कहते हैं, का कुछ भाग भी बच जाय, तो उससे अस्थि फिर बन जाती है। इस झिल्ली में अस्थिजनक सेल रहते हैं, जो अस्थि के भंग होते ही तुरंत अपना काम आरंभ कर देते हैं, और नीचे की अस्थि को नए प्रकार से बना देते हैं।

इस प्रकार अस्थि, जो देखने में बहुत ही साधारण जान पड़ती है, रचना में उतनी ही गूढ़ और अद्भुत है, जितनी कि वह मशीन है, जिसका वह एक भाग है। उसमें न केवल अस्थि के सेल ही हैं, किंतु बहुत-सी धमनी, शिरा, नाड़ी इत्यादि भी हैं। उनको भी जीवन के लिये पोषण की आवश्यकता होती है, जो उनको रक्त से मिलता है। बिना उचित पोषण के वे सेल, जो अद्भुत दक्षता के साथ काम करते हैं, भूखों मरने लगते हैं और परिणाम-स्वरूप उनका कार्य बिगड़ जाता है।

रिकेट्स (Rikets), जिसका नाम पहिले भी आ चुका है, अस्थियों का एक रोग है। यह रोग बच्चों को होता है। सब अस्थि नरम हो जाती है, जिससे उनकी आकृति विकृत हो जाती है। टाँगें बाहर की ओर धनुष के समान मुड़ जाती हैं, दूसरे अंगों में भी इसी प्रकार विकार आ जाता है। बच्चा खड़ा नहीं हो सकता। इसका कारण पूर्णतया अभी तक नहीं मालूम है। साधारणतया यही माना जाता है कि चूने की कमी इसका कारण है। किंतु अकेला

यही कारण नहीं हो सकता। अस्वच्छ जीवन, गंदगी, शुद्ध वायु का न मिलना इत्यादि इस रोग के बहुत बड़े सहायक कारण हैं। इसी प्रकार का दूसरा रोग Osteo-malacia है। यह रोग स्त्रियों को होता है। पूर्व में अस्थियाँ ठीक होती हैं, किंतु किसी कारण से तरुणावस्था में अस्थियों में से उनका चूना निकल जाता है और वे नरम हो जाती हैं। जो व्यक्ति ऐसे रोगों से पीड़ित होता है, वह न चल-फिर सकता है, न कुछ काम ही कर सकता है। उसका सारा शरीर विकृत हो जाता है।

इन रोगों के विरुद्ध एक दूसरा रोग है, जिसको Acromegaly कहते हैं। इस रोग में अस्थियाँ छोटी होने व कुछ खोने के स्थान में उलटी बढ़ने लगती हैं; रोगी की अस्थियों में वृद्धि प्रारंभ हो जाती है। मुख, हाथ, पाँव, कपोलास्थियाँ और खोपड़ी की अस्थियों पर अन्य की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है। सिर बहुत बड़ा हो जाता है। मुख लंबा और चौड़ा होकर विकृत दिखाई देने लगता है। कपोलास्थियाँ ऊपर की ओर उठ जाती हैं। नीचे का जबड़ा चौड़ा हो जाता है। हाथ और उँगलियों की अस्थियाँ मोटी और बड़ी हो जाती हैं। पाँव भी बड़ा हो जाता है। बेचारे रोगी को प्रतिमास नई टोपी और नए जूते खरीदने पड़ते हैं।

इस रोग का कारण भी वैसा ही अद्भुत है, जैसा कि स्वयं रोग है। मस्तिष्क में नीचे की ओर एक छोटी-सी ग्रंथि होती है, जिसको पीयूष-ग्रंथि (Pituitary gland) कहते हैं। यह नासिका के जड़ के पास भीतर की ओर रहती है। इस ग्रंथि को ही रोग का कारण माना है। जब कभी यह ग्रंथि बढ़ जाती है व इसमें कोई फोड़ा हो जाता है, तो यह रोग उत्पन्न हो जाता है। वैज्ञानिकों ने यह पता लगाया है कि इस ग्रंथि से एक प्रकार का रस निकलता है, जो रक्त

में मिल जाता है, अथवा शरीर उसको शोष लेता है। यह इस ग्रंथि का आंतरिक उद्रेचन (Internal Secretion) कहलाता है।

यह रस किसी भाँति शरीर के अस्थि-संस्थान की वृद्धि पर प्रभाव डालता है। यह समझना कठिन है कि एक छोटे-से ग्रंथि के कारण, जो मस्तिष्क में स्थित है, छः फ़िट दूरी पर पाँव की एड़ी की अस्थि किस प्रकार बढ़ सकती है, अथवा टाँग की अस्थियाँ किस प्रकार विकृत हो सकती हैं। पर यह देखा जाता है कि जब भी यह रोग होता है, तभी यह ग्रंथि बढ़ी हुई मिलती है, अथवा जब भी यह ग्रंथि बढ़ती है व इस ग्रंथि में कोई अर्बुद उत्पन्न हो जाता है, तो यह रोग उत्पन्न होकर शरीर को विकृत कर देता है। जब हम यह सोचते हैं कि हमारे शरीर का अस्थि-संस्थान इस मटर के दाने के बराबर ग्रंथि के कितना आधीन है, तो हमें कुछ ज्ञान होता है कि शरीर भी एक कैसी गूढ़ समस्या है।

संधियाँ

जिन स्थानों पर अस्थियाँ एक दूसरे से मिलती हैं, वे संधि कहलाते हैं। बाहु की प्रगंडास्थि और स्कंधास्थि जहाँ मिलती हैं, वह स्कंध-संधि या कंधे का जोड़ कहलाता है। कलाई पर प्रकोष्ठास्थियों के निचले सिरे और कलाई की छोटी-छोटी अस्थियाँ मिलती हैं। कलाई का जोड़ कहा जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक दो अस्थियों के मिलने से एक संधि बन जाती है।

संधियाँ कई प्रकार की हैं। उन संधियों को, जहाँ पर गति चारों ओर को भली भाँति हो सकती है, चलसंधि कहते हैं। अचलसंधि में गति बिलकुल नहीं होती। शिर की अस्थियाँ जहाँ आपस में मिलती हैं, वह अचलसंधि बनाती हैं; क्योंकि उनमें किसी प्रकार की गति नहीं होती। प्रगंडास्थि और स्कंधास्थि के मिलने से चल-संधि बनती है, क्योंकि उसमें स्वतन्त्रता से गति हो सकती है। कुछ ऐसी संधियाँ हैं, जिनमें बहुत ही कम गति होती है—जैसे कशेरुकों की संधि। इनको अल्पचेष्ट संधि कहते हैं।

संधियों की बनावट बड़ी गूढ़ होती है, क्योंकि इनको जो कार्य

करना पड़ता है, वह भी बहुत ही विशेष होता है। सारे अंगों की उपयोगिता इन्हीं पर निर्भर रहती है। जहाँ दो अस्थियाँ चल-संधि बनाती हैं, वहाँ संधि बनानेवाली दोनों अस्थियों के सिरे एक झिल्ली से बँधे रहते हैं। इनको संधिबंध या बंधन कहते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत-से स्थानों में झिल्ली दोनों अस्थियों के सिरों पर एक थैली के आकार में लगी रहती है। दोनों सिरे इस थैली के भीतर रहते हैं। इसके भीतर संधि-बंधन दोनों अस्थियों को जोड़े रहते हैं। इस थैली को संधि-कोष कहते हैं। कहीं-कहीं पर इस कोष में छिद्र होते हैं, जिनके द्वारा संधिभंग (Dislocation) के समय अस्थि उनमें होकर बाहर आ जाती है। संधि-बंधन रस्सियों का काम करते हैं। ये अस्थियों को आपस में जोड़े रहते हैं। उनको अपने स्थान से हटने नहीं देते।

संधि-कोष के भीतर एक चमकती हुई झिल्ली रहती है, जो स्नैहिक कला कहलाती है। इस कला से एक चिकना तरल पदार्थ बनता रहता है, जो संधियों में वही काम करता है, जो मशीनों में तेल करता है। इसके कारण अस्थियों पर लगी हुई कारटिलेज सदा गीली रहती है। इस कला में शोथ आ जाने से संधि दरद करने लगती है। वहाँ सूजन हो आती है और गति रुक जाती है।

भिन्न-भिन्न संधियों के आकार भी भिन्न हैं। जबड़े और कोहनी की संधियाँ ऐसी हैं, जैसे किवाड़ और उसकी कीली होती हैं। कीली पर किवाड़ स्वतन्त्रता से आगे और पीछे की ओर घूम सकते हैं। ये Hinge Joints कहलाती हैं। एक विशेष स्थान पर नीचे की अस्थि लगी रहती है, जैसे कि एक कील पर कोई वस्तु टाँग दी गई हो। इन संधियों में अस्थि किवाड़ की भाँति केवल आगे और पीछे की ओर घूम सकती है। दूसरे प्रकार की संधि उदूखला

जानुसंधि की आंतरिक रचना
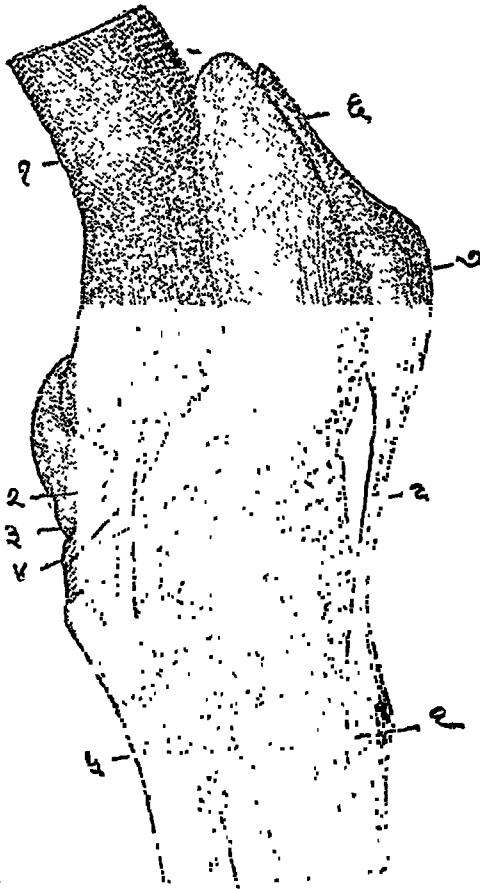
१ उर्वस्थि २ वहिर्जंघिकाबंधनी ३ जानुपृष्ठिका की कंडरा ४ वहिस्थ अर्धचंद्र तरुणास्थि ५ वहिर्जंघास्थि ६ ऊरु-प्रसारणी चतुष्टय की कंडरा ७ जान्वस्थि ८ जानुकपाल बंधनी ९ अंतर्जंघास्थि

स्कंध-संधि का परिच्छेद
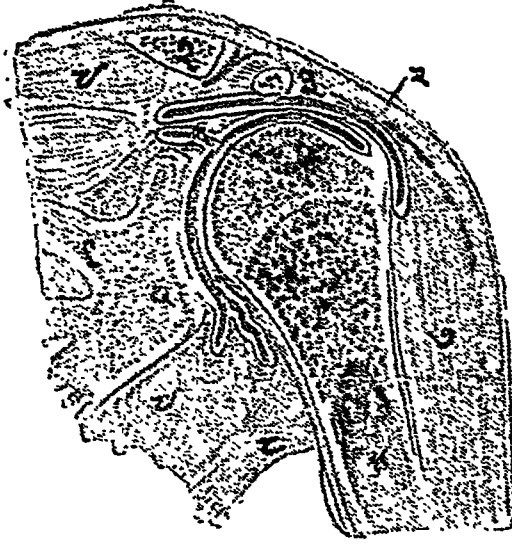
१. अंसफलक।

२. अक्षक।

३. अंसफलक का अंसतुंड प्रवर्धन।

४. प्रगंडास्थि।

५,६. स्वाचा (bursa)

७. अंसच्छदा पेशी।

८. अंसधारिका बृहती।

९. अंसांतरिका।

पृष्ठ-संख्या ९३

(Ball and Socket Joint) संधि कहलाती है । इस संधि में एक अस्थि के किसी सिरे पर एक गोल गड्ढा बन जाता है। उस पर बंधन, कोष और कारटिलेज लगकर वह और भी गहरा हो जाता है। दूसरी अस्थि का एक सिरा, जो इस स्थान पर संधि बनाता है, बिलकुल गोल हो जाता है और वह प्रथम अस्थि के गड्ढे में रहता है। स्कंध-संधि ऐसी ही है। स्कंधास्थि का किनारा गोल और चपटा होता है, जिसमें कुछ गड्ढा रहता है । इस भाग के चारों ओर किनारों पर कारटिलेज का एक परत रहता है, जिससे गड्ढा और भी गहरा हो जाता है । प्रगंडास्थि का ऊपरी सिरा, जो एक गेंद के समान ऊपर से गोल होता है, इस गड्ढे के भीतर रहता है। ऊपर से बहुत-से बंधन लगे रहते हैं । ऐसी संधियों में गति खूब होती है। बाहु को जिधर चाहें उधर घुमा सकते हैं। जंघा की अस्थि और नितंबास्थि की भी संधि ऐसी ही है।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी संधियाँ हैं, जहाँ एक अस्थि दूसरे पर हलकी-सी इधर-उधर की गति कर सकती है। कलाई की छोटी-छोटी अस्थियाँ बहुत कम गति कर सकती हैं। यह प्रतरा-संधि कहलाती है।

सारे शरीर में चलसंधियों की संख्या २६६ है। आयुर्वेद के लेखकों का मत कुछ भिन्न है। वह केवल २१० संधियाँ मानते हैं।

इन संधियों पर जो क्रिया होती है, अस्थियों में गति होती है, वह मांसपेशियों के कारण होती है। बहुत-से कसरत दिखानेवाले लोग अद्भुत काम करते हैं। उनके काम करने के समय हम देख सकते हैं कि इन संधियों में कैसी-कैसी अद्भुत और आश्चर्यजनक गतियाँ कैसी सुगमता से होती हैं। उनमें किसी भाँति की कोई अड़चन ही नहीं मालूम होती।

मांसपेशी

यद्यपि शरीर की रचना का आधार अस्थियाँ ही हैं; किंतु सारी गति मांसपेशियों द्वारा होती है। अस्थियाँ मांसपेशियों से चारों ओर से आच्छादित हैं। क़साई के दुकान पर जो बहुधा मांस के लाल रंग के टुकड़े रक्खे रहते हैं और जिनको मांसाहारी अपने भोजन के लिये पकाते हैं, वे मांसपेशियों ही के टुकड़े होते हैं।

यदि किसी मनुष्य की अस्थियों के ढाँचे को, जिससे उसके शरीर की सब मांसपेशियाँ अलग कर दी गई हों, सामने खड़ा कर दें अथवा किसी एक्स-रे (X-Ray)मशीन की प्लेट के द्वारा किसी मनुष्य को देखें, तो उसको कदापि नहीं पहिचान सकते। एक्स-रे की प्लेट में उसके शरीर की सब अस्थियों की छाया दिखाई देगी; किंतु मांसपेशी और दूसरे कोमल अंगों की कोई छाया नहीं दिखाई देगी। ऐसे फ़ोटो को देखकर मनुष्य की आकृति का कुछ भी अनुमान नहीं किया जा सकता।

शरीर की सारी आकृति, मुख की सुंदरता, अंगों की सुडौल रचना इत्यादि को बनानेवाली मांसपेशियाँ ही हैं। दृढ़ मांसपेशियों-

वाला मनुष्य एक शक्तिशाली मशीन है, जो बड़े-बड़े कार्य बहुत समय तक कर सकता है। जिस मनुष्य की मांसपेशियाँ मज़बूत और सुगठित होती हैं, उसका शरीर देखने में भी भला मालूम होता है। रोम के प्राचीन निवासी मांसपेशियों की वृद्धि पर बहुत ध्यान देते थे। उनकी जो मूर्त्तियाँ पाई जाती हैं, वे सुदृढ़ पेशियों का उदाहरण हैं। वे शरीर के उत्तम गठन ही को सौंदर्य समझते थे। जो अपोलो, डायना इत्यादि की मूर्त्तियाँ मिलती हैं, वे प्रत्येक सुदृढ़ मांसपेशी को झलकाती हैं।

रोमनिवासियों का मांसपेशियों पर इतना ध्यान देने का कारण यह था कि मांसपेशी ही शारीरिक शक्ति का भंडार है। मनुष्य की शारीरिक परिश्रम करने की शक्ति इन्हीं पर निर्भर रहती है। यदि पेशी दृढ़ है, तो मनुष्य कठिन-से-कठिन काम भी कर सकता है। निर्बल पेशीवाला मनुष्य न किसी का सामना कर सकता है और न कोई कठिन कार्य ही कर सकता है। उसे किसी से युद्ध करने का साहस नहीं होता; क्योंकि वह प्रत्येक समय पिट जाने के डर में रहता है। उसका साहस जाता रहता है। आत्मविश्वास उसका कम हो जाता है। पुराने समय में शारीरिक शक्ति सबसे मुख्य थी। प्राण, मान, धन, राज्य, सब शारीरिक शक्ति ही पर निर्भर रहते थे। यद्यपि आजकल इस शक्ति का इतना अधिक महत्त्व नहीं है; किंतु निर्बल पेशीवाला मनुष्य आज भी साधारण जीवन-संग्राम में विजयी नहीं हो सकता।

शरीर की मांसपेशियाँ मुख्यतया दो प्रकार की हैं। एक हमारी इच्छा के अधीन हैं और दूसरी बिलकुल स्वतंत्र हैं। उन पर हमारा किसी प्रकार का अधिकार नहीं है। वे अपनी ही इच्छा के अनुसार कार्य किया करती हैं; हमारा सुनती ही नहीं। जो इच्छा

के अधीन हैं, उनको ऐच्छिक (Voluntary) कहते हैं। जो इच्छा के अधीन नहीं हैं, वे अनैच्छिक (Involuntary) कहलाती हैं। जितनी भी मांसपेशियाँ अस्थियों पर लगी रहती हैं और जिनसे गति होती है, वे सब ऐच्छिक हैं।

हृदय मांसपेशियों का बना हुआ है। इस कोठरी की दीवारें जिन मांसपेशियों को बनी हुई हैं, वे सदा कार्य किया करती हैं, तनिक देर को भी चुप होकर नहीं बैठतीं। एक मिनट में ७२ बार संकोच करती हैं। यदि हम चाहें, तो उनको बंद नहीं कर सकते और न इनकी गति घटा-बढ़ा ही सकते हैं। इसी प्रकार अंत्रिएँ जिन मांस-पेशियों की बनी हुई हैं, वे भी अनैच्छिक हैं। उनमें भी बराबर गति होती रहती है, जो हमारी इच्छा से बिलकुल स्वाधीन हैं। हम उसे न रोक सकते हैं, न घटा-बढ़ा सकते हैं।

मांसपेशी स्वयं रचना-विहीन नहीं होती। यदि हम एक मांस के टुकड़े को उसकी लंबाई की ओर चीरें, तो वह भिन्न-भिन्न भागों में विभक्त होता हुआ चला जायगा। यदि हम बराबर चीरते ही जायँ, तो अंत में हम बहुत छोटे-छोटे मांस के सूत्रों पर पहुँच जायँगे। एक मांसपेशी ऐसे ही सहस्रों सूत्रों का बंडल होता है, जिनके

चित्र नं० २७—पेशी के सूत्रों का एक गट्ठा, जो चौड़ाई से काटकर दिखाया गया है। यह सब सूत्र एक दूसरे से भिन्न किए जा सकते हैं।
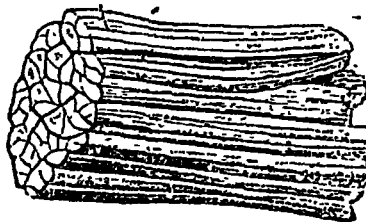
मिलने से वह बनता है। ये सूत्र लगभग एक इंच के लंबे होते हैं। आपस में ये सूत्र एक संयोजक वस्तु के द्वारा जुड़े रहते हैं, जो आसानी से एक दूसरे से पृथक् किए जा सकते हैं। वस्तुतः एक मांसपेशी इन्हीं सूत्रों का समूह होता है और मांसपेशियों की सब क्रियाएँ इन्हीं सूत्रों की क्रियाएँ होती हैं।

मांसपेशी का सबसे बड़ा गुण संकोचन है। यह संकोचन उसी उत्तेजना का, जिसका वर्णन गत पृष्ठों में किया जा चुका है, परिणाम है। यह सूत्र प्रोटोप्लाज़्म के बने होते हैं। बाहर चारों ओर एक आवरण रहता है और भीतर प्रोटोप्लाज़्म में एक केंद्र रहता है। इस प्रकार इसके सब गुण प्रोटोप्लाज़्म ही के गुण समझने चाहिए।

मांसपेशियों के सूत्रों के बीच में रक्त की नलिकाएँ, धमनी, शिरा इत्यादि, व रसवाहनी नलिकाएँ और नाड़ियों के सूत्र रहते हैं। रक्त-नलिकाएँ इन सूत्रों का पोषण करती हैं। रस-नलिकाएँ रस पहुँचाती हैं और नाड़ियाँ मस्तिष्क से संबंध स्थापित करती हैं। प्रत्येक मांस-सूत्र में नाड़ी का एक सूत्र जाता है और भीतर सूत्र-

चित्र नं० २८—अंतस्थल, कंडरा का एक भाग
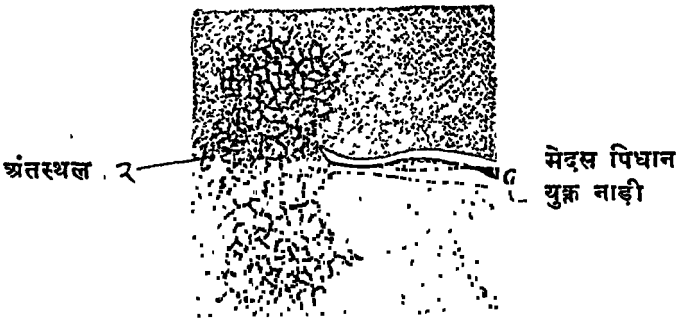
वस्तु में जाकर फिर बहुत से भागों में विभक्त हो जाता है। इस स्थान पर मांस-सूत्र के भीतर नाड़ी-सूत्र के चारों ओर कुछ प्रोटो-

चित्र नं० २६—एक स्तनधारी पशु के मांस-सूत्र की आंतरिक रचना; जैसा बहु-शक्तिशाली सूक्ष्म-दर्शक यंत्र के द्वारा देखा गया। (Schafer)
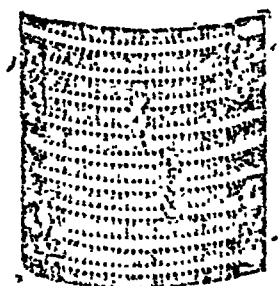
प्लाज्म के दाने एकत्रित हो जाते हैं। यह स्थान अंतस्थल कहलाते हैं। मस्तिष्क से पेशी को जितनी सूचनाएँ जाती हैं वे इन्हीं स्थानों के द्वारा जाती हैं। जैसा आगे चलकर मालूम होगा ऐच्छिक मांसपेशियों की क्रियाएँ मस्तिष्क ही पर निर्भर रहती हैं।

इन सूत्रों को सूक्ष्म-दर्शक यंत्र के द्वारा देखने से उनकी आंतरिक रचना बड़ी अद्भुत देख पड़ती है। उसमें बहुत-सी रेखाएँ दिखाई पड़ती हैं, जो सूत्र के आरपार रहती हैं। उसकी लंबाई में ऐसी कोई रेखा नहीं दिखाई पड़ती। ये रेखाएँ सूत्र को बहुत-से खंडों में विभक्त कर देती हैं। यंत्र द्वारा देखने से कुछ खंड तो प्रकाशमय दिखाई देते हैं और कुछ खंडों में बिलकुल प्रकाश नहीं दिखाई देता। इनकी स्थिति का भी एक निश्चित क्रम प्रतीत होता है। प्रकाशहीन खंड के नीचे प्रकाशमय खंड रहता है और प्रकाशमय खंड के नीचे फिर प्रकाशहीन खंड दिखाई देता है। इन

प्रकाशहीन खंडों के दोनों ओर कुछ छोटे-छोटे बिंदु दिखाई देते हैं, जो आपस में बहुत ध्यान से देखने से बड़ी पतली रेखाओं द्वारा

चित्र नं० ३०—मानुषिक मांसपेशी का सूत्र × ८००, ब. सूत्र सूत्राणुओं में विभाजित कर दिया गया है ।
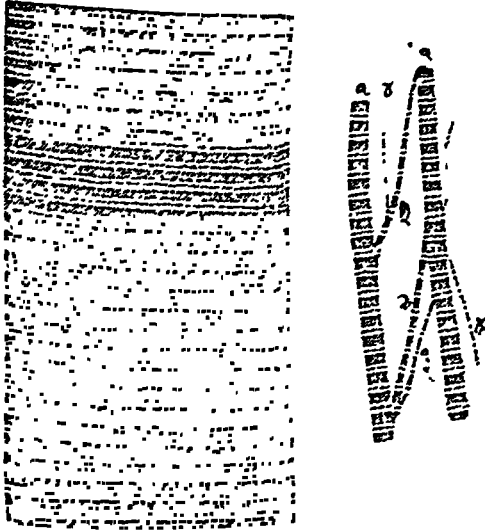
१. सूत्राणुओं के समूह २. प्रथम से छोटे समूह ३. द्वितीय से छोटे समूह ४. अत्यंत सूक्ष्म व केवल एक सूत्राणु जो समूह से भिन्न कर दिया गया है (Sharpy)

चित्र नं० ३१—मांसपेशी-सूत्र जो दबा कर तोड़ दिया गया है । सूत्रावरण दोनों भागों को जोड़े हुए है ।
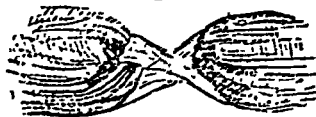
मिले हुए मालूम होते हैं । यह सारा दृश्य एक अद्भुत शृंखला के समान दिखाई देता है । इससे भी अद्भुत बात यह है कि यह शृंखला के समान दृश्य केवल ऐच्छिक मांसपेशियों में दिखाई देता है । अनैच्छिक पेशियों में कोई भी ऐसी रचना नहीं मालूम होती । केवल यही नहीं, जो मांसपेशियाँ जितनी अधिक शीघ्रता से काम कर सकती हैं उनमें यह शृंखला उतनी ही अधिक स्पष्ट होती है । हमारी मांसपेशी एक सेकेंड में १० व १२ बार संकोच कर सकती है, किंतु एक मक्खी व मच्छर की पेशी एक सेकेंड में ३०० बार संकोच करती है । उनके मांसपेशियों में यह शृंखला बहुत ही स्पष्ट होती है । कदाचित् पेशी की कार्य-शक्ति का इस शृंखला से कुछ संबंध है । अभी तक इसके बारे में इससे अधिक ज्ञान नहीं प्राप्त कर सके हैं ।

अनैच्छिक मांसपेशी भी ऐच्छिक की भाँति छोटे २ सेल हैं, जो प्रोटोप्लाज़्म, केंद्र और आवरण से बने हुए हैं । इनका आकार छोटा होता है । उनमें किसी भाँति की कोई शृंखला दिखाई नहीं देती । कुछ ऐसी भी अनैच्छिक मांसपेशी हैं जिनमें यह शृंखला दिखाई देती है, जैसे हृदय । यद्यपि हृदय की पेशी पूर्णतया अनैच्छिक हैं, किंतु इनमें शृंखला दिखाई देती है । इन सेलों का

चित्र नं० ३२—अनैच्छिक मांसपेशी का एक सूत्र दिखाया गया है ।
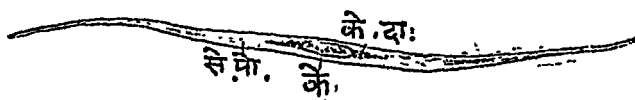
के—केंद्र

के. दा.—केंद्र के पास दानेदार प्रोटोप्लाज़्म

से. प्रो.—सेल का प्रोटोप्लाज़्म

आकार लंबूतरा होता है अर्थात् दोनों सिरों पर लंबा हो जाता है। उनकी लंबाई $\frac{१}{८००}$ इंच के लगभग होती है। यह आपस में एक दूसरे से मिले रहते हैं; क्योंकि एक सेल से दूसरे सेल में पतली २ रेखाएँ जाती हुई दिखाई देती हैं, जो कदाचित् बहुत बारीक नलिकाएँ हैं। इनके द्वारा एक सेल की वस्तु का दूसरे सेल की वस्तु से संबंध रहता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अनैच्छिक मांसपेशी में दो प्रकार की नाड़ियाँ आती हैं। एक वह जो उसकी क्रिया को बढ़ाती है और दूसरी वह जो उसकी क्रिया को घटाती है। इनकी क्रिया ऐच्छिक पेशियों की अपेक्षा बहुत धीमी होती है।

इस प्रकार हम ऐच्छिक और अनैच्छिक मांसपेशी में भेद करते हैं। किंतु हम यह नहीं भूल सकते कि बहुत-सी दशाओं में ऐच्छिक भी अनैच्छिक पेशियों की भाँति कार्य करती हैं। अनैच्छिक मांस-पेशियों की क्रियाएँ धीरे-धीरे, किंतु लगातार होती रहती हैं। हमको उसकी तनिक भी ख़बर नहीं रहती। हृदय की धड़कन हमको कभी प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार अँत्रियों की गति जो प्रत्येक समय हुआ करती है, उसका भी हमको कुछ ज्ञान नहीं होता; किंतु हम हाथों व पाँवों से जो कार्य लेते हैं, उसका हमको ज्ञान रहता है। इसी भाँति कभी-कभी ऐच्छिक पेशियों की क्रिया भी हमारी इच्छा के बिना ही होने लगती है। यदि हम किसी मनुष्य के घुटने के ठीक नीचे एक हलका-सा आघात दें तो हम देखेंगे कि उस मनुष्य की टाँग एकदम ऊपर को उठ जायगी, यद्यपि उस मनुष्य की ऐसा करने की कुछ इच्छा नहीं थी। यदि हम पाँव के तलवे में खुजली करें, तो पाँव की उँगलियाँ तुरंत ही नीचे की ओर मुड़ने लगती हैं। कुचले के विष से मनुष्य के शरीर के सारे पेशियों में कंपनाएँ होने लगती हैं। इसी प्रकार

टिटेनस (Tetanus) रोग में देह की सब पेशियों में संकोचन होने लगता है। साधारणतया हमारे पेशियों में प्रत्येक समय धीमी-धीमी कंपनाएँ होती रहती हैं। हम बहुधा उनका अनुभव नहीं करते और न उनको देख ही सकते हैं; किंतु वे बराबर हुआ करती हैं।

हम दिन-रात जो क्रियाएँ करते रहते हैं, उनमें हमको यह ध्यान नहीं होता और न हम यह विचारते हैं कि कौन-कौन सी पेशी काम कर रही हैं। हम केवल मस्तिष्क में यह विचारते हैं कि हमको अमुक काम करना है। तुरंत ही वे पेशियाँ, जो उस काम करने के लिये नियुक्त हैं, काम करना आरंभ कर देती हैं और वह काम हो जाता है। हमारी सब क्रियाएँ बहुत-से पेशियों से मिलकर होती हैं। ऐसा हमारा कोई काम नहीं है, जो केवल एक मांसपेशी कर सके। हम जब खड़े होते हैं, तो उस समय शरीर की बहुत-सी पेशियाँ काम करने लगती हैं। अपने को कुछ समय तक सीधा खड़े रखना, यदि उन सब क्रियाओं का विश्लेषण किया जाय, जो इस कर्म में होती हैं, एक अद्भुत कर्म है। इसमें बहुत-सी पेशियों के समूह काम करते हैं। कोई किसी भाग को आगे की ओर झुकाता है, दूसरा दूसरे भाग को पीछे की ओर खींचता है; तीसरे समूह की क्रिया किसी और भाग को स्थिर रखने की होती है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न पेशियों की क्रिया द्वारा भिन्न-भिन्न भाग स्थिर रहते हैं।

किंतु इन सब क्रियाओं का हमको तनिक भी ज्ञान नहीं होता। हम नहीं जानते कि कौन-कौन सी पेशी काम कर रही है। प्रत्येक पेशी का संकोच और विस्तार हमारी इच्छा से नहीं होता। यदि यह सारा कार्य हमको करना पड़ता; प्रत्येक क्रिया में उससे संबंध रखने वाली पेशी को बताना पड़ता कि अमुक समय पर अमुक पेशी संकोच और विस्तार करे, तो हमारे लिये तनिक-सा भी कार्य करना असंभव

था। इस यंत्र की कलें और पुर्ज़े इतने गूढ़ हैं कि हम ठीक प्रकार उनका संचालन नहीं कर सकते। किसी भी गूढ़ क्रिया में हमको इसका ज्ञान नहीं होता कि कौन-कौन सी पेशियाँ अब कार्य कर रही हैं। हम केवल यह विचारते हैं कि अमुक कार्य होना चाहिए, हमारा ध्यान केवल परिणाम की ओर रहता है, शेष सारा कार्य पेशियों द्वारा स्वयं हो जाता है। हम इस यंत्र को एक बार चला अवश्य देते हैं और उससे कह देते हैं कि अमुक कार्य होना चाहिए। इसके पश्चात् हमको कुछ मालूम नहीं कि क्या-क्या कार्य होता है, किस भाँति होता है और कौन करता है? हमारे सामने केवल परिणाम आ जाता है। मैं अपने चित्त में विचारता हूँ कि इस समय मुझे रेल के स्टेशन जाना है। मेरे ध्यान में स्टेशन के मार्ग, मेरे जाने इत्यादि का एक चित्र खिंच जाता है। एकाएक मेरे टाँगों की पेशियाँ मेरे शरीर को उस मार्ग पर खींच कर ले चलती हैं। मैं मार्ग में अखबार को हाथ में लेकर पढ़ता जाता हूँ अथवा किसी और विषय की पुस्तक में तन्मय हो जाता हूँ, मुझे ध्यान भी नहीं रहता कि मुझे किस ओर जाना है। कदाचित् कभी-कभी सिर उठाकर मैं इधर-उधर देख लेता हूँ। बस, इतना ही पर्याप्त है। मैं ठीक अपने मार्ग पर बढ़ा चला जाता हूँ। कहीं भूल नहीं करता और अंत में अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता हूँ। यह अद्भुत कार्य कैसे हुआ, किसने किया? क्रिया को करनेवाला कोई तीन सौ के लगभग पेशियों का समूह था। करवानेवाला मेरा मस्तिष्क था जो बराबर पेशियों को आज्ञा भेज रहा था, पर मुझे उसका कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ कि भीतर-भीतर यह सब क्या क्रिया हो रही है। मैंने एक कर्म की पूर्ति चाही थी, बस मेरा चाहना पर्याप्त था। मेरे शरीर के पुर्ज़ों ने सारा काम ठीक कर दिया।

शरीर की सब मांसपेशियाँ मस्तिष्क के अधीन होती हैं। वहाँ से आज्ञा आने पर उनमें तुरंत ही संकोच होता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है। प्रत्येक पेशी में एक नाड़ी आती है और पेशी के प्रत्येक सूत्र में नाड़ी का एक सूत्र जाता है। इसी नाड़ी के सूत्र द्वारा मस्तिष्क से सूचना पेशी तक पहुँचती है। इस सूचना का क्या स्वरूप होता है? वह कोई रासायनिक वस्तु है या विद्युत् का प्रवाह होता है? इस बात का अभी तक ठीक निर्णय नहीं हो सका है। पेशी का संकोच रासायनिक वस्तुओं से भी हो सकता है। विद्युत् का भी यही प्रभाव होता है, क्योंकि ये वस्तुएं पेशी के प्रोटोप्लाज़्म में उत्तेजना उत्पन्न कर देती हैं।

मांसपेशी का गुण संकोच करने का है। जिस समय उसमें संकोच होता है, तो वह बीच में से मोटा और आकार में छोटा

चित्र नं० ३३—बाहु के द्विशिरस्का पेशी के संकोच से अग्रबाहु किस प्रकार ऊपर को उठता है, यह चित्र में दिखाया गया है।
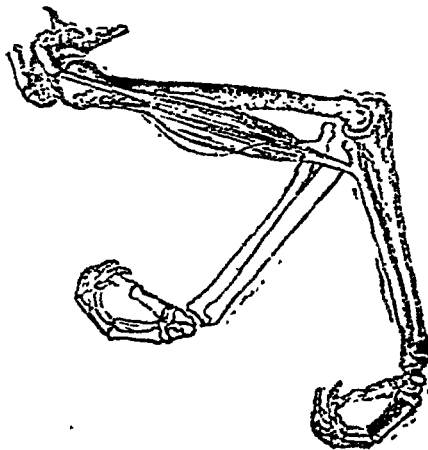
हो जाता है। उसकी लंबाई तो कम हो जाती है, किंतु स्थूलता उसमें अधिक आ जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि वह नीचे की ओर से ऊपर को खींचता है। इससे नीचे की अस्थि, जिस पर वह पेशी लगा हुआ है, ऊपर को ओर उठती हुई चली आती है।

मस्तिष्क से पेशी को हलकी-हलकी उत्तेजनाएँ आती रहती हैं। एक मिनट में ३०-४० के लगभग आती हैं, किंतु वह इतनी हलकी होती हैं कि उनसे उत्पन्न हुआ संकोच देखा नहीं जा सकता। कदाचित् ये उत्तेजनाएँ पेशी को कार्य करने के लिये प्रत्येक समय तय्यार रखती हैं। साधारण संकोच जो देखे जा सकते हैं पेशी में एक मिनट में १०-१२ से अधिक नहीं होते। प्रत्येक संकोच में १/१० सेकेंड लगता है। यह संकोच का शक्ति भिन्न-भिन्न पशु-पक्षियों इत्यादि में भिन्न है। मक्खी के पर की पेशी एक सेकेंड में ३०० वार संकोच कर सकती है। मधुमक्खिका के पर एक सेकेंड में ४४० वार हिल सकते हैं। यह विचारना कि पेशी उत्तेजना पहुँचते ही तुरंत संकोच करने लगता है, ठीक नहीं है। उसे कम से कम १/१०० सेकेंड संकोच के लिये तय्यार होने में लगता है। यह गुप्तकाल कहलाता है। ४/१०० सेकेंड तक संकोच की अवस्था रहती है। संकोच करने के पश्चात् पेशी फिर विस्तार करती है, अर्थात् उसी अवस्था में आ जाता है, जिसमें संकोच करने से पूर्व थी। यह विस्तार अवस्था ४/१०० सेकेंड के लगभग रहती है।

यदि हम पेशी में इससे अधिक वार संकोच उत्पन्न करना चाहें, अर्थात् एक मिनट में १० से अधिक वार उत्तेजना भेजें तो पेशी में संकोच अवश्य होगा, किंतु वह वैसी ही संकुचित अवस्था में कुछ समय तक रह जायगा। उसको संयुक्त संकोच कहते हैं। जब हम

हाथ से किसी भारी वस्तु को उठाते हैं तो हमारे बाहु के पेशियों में संकोच होता है। जिससे वह सिकुड़कर बाहु के सामने की ओर उठा हुआ दिखाई देता है। ऐसे समय में पेशी में संयुक्त संकोचन होता है; क्योंकि जो उत्तेजनाएँ उसके पास आ रही हैं, उनकी गति एक मिनट में १० से अधिक है।

पेशी जो कार्य करती है, उसे सदा पूर्णतया करती है। कभी हतोत्साह होकर नहीं करती। उसमें जब संकोच होता है तो वह पूर्ण होता है, अर्थात् जितनी शक्ति से पेशी संकोच कर सकती है, उतना करती है। किंतु इसमें भ्रम उत्पन्न हो सकता है; क्योंकि हम देखते हैं कि हम किसी वस्तु को धीरे से भी पकड़ सकते हैं और बल-पूर्वक भी ग्रहण कर सकते हैं। वास्तव में बात यह है कि जैसा पहले कहा जा चुका है, मांसपेशी में बहुत-से सूत्र होते हैं। इन सूत्रों के संकोच से पेशी का संकोचन होता है। जब हम धीरे से किसी वस्तु को थामते हैं तो थोड़े सूत्रों का संकोचन होता है; किंतु यदि ज़ोर से थामते हैं तो अधिक सूत्र संकोच करते हैं। जितनी अधिक शक्ति के साथ पेशियाँ काम करती हैं, उतने ही अधिक सूत्र काम करते हैं। यहाँ तक कि आवश्यकता के समय पर पेशी के सारे सूत्र काम करते हैं। सूत्र सदा पूर्ण संकोच करता है, आधा संकोच कभी नहीं करता।

मांसपेशी में रासायनिक परिवर्तन

मांसपेशी के भीतर रासायनिक क्रियाएँ होती रहती हैं। जिस समय पेशी में संकोच होता है, उस समय ये क्रियाएँ और भी बढ़ जाती हैं। पहले यह कहा गया है कि मांसपेशी को क्रिया करते समय अधिक भोजन की आवश्यकता पड़ती है, जो शर्करा के रूप में उसे मिलता है। जो शर्करा व कारबोहाइड्रेट हम खाते हैं, वह यकृत में ग्लायकोजिन के स्वरूप में और पेशी में शर्करा के रूप में संग्रह हो जाते हैं। पेशी को क्रिया करते समय शर्करा की आवश्यकता होती है। जब स्वयं उसका भंडार समाप्त हो जाता है, तो वह यकृत से माँगता है। वहाँ से ग्लायकोजिन शर्करा का रूप धारण करके पेशी के पास आती है और उसे शक्ति प्रदान करती है।

संकोच करते समय पेशी शर्करा को ख़र्च करती है। शर्करा के जलने से उष्णता व शक्ति उत्पन्न होती है। इस कारण पेशी को क्रिया करते समय अधिक ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है; क्योंकि रासायनिक क्रियाओं में यह गैस बहुत बड़ा भाग लेती है। कार्बन-डाइ-ओक्साइड अधिक मात्रा में बनती है, जिसको वहाँ से रक्त हटा

देता है। इस संकोच की क्रिया से पेशी में एक अम्ल बन जाता है, जिसका नाम Sarco-Lactic Acid है। यह अम्ल पेशी के तंतुओं के टूटने-फूटने से बनता है। पेशी इस क्षति की पूर्ति उस शर्करा के द्वारा पूरी करती है, जो उसे यकृत से मिलती है व जिसको पाचन-प्रणाली से रक्त लाता है। इस प्रकार पेशी में शर्करा के जलने से और पेशी की क्रिया से उष्णता उत्पन्न होती है। यह उष्णता गति व क्रिया उत्पन्न करती है। उष्णता एक प्रकार की शक्ति है, गति भी एक प्रकार की शक्ति है। विद्युत्, रासायनिक आकर्षण इत्यादि सब शक्ति के भिन्न-भिन्न रूपांतर हैं। वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि सब भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियों का एक दूसरे में परिवर्तन हो सकता है। एंजिन में पानी डालते हैं और उसके नीचे आग जला देते हैं, जिससे जल भाप के रूप में आ जाता है। उससे एंजिन चलने लगता है। यह उष्णता का गति में परिवर्तन होने का कितना बड़ा उदाहरण है। आजकल सैकड़ों प्रकार की कलें, ट्रामवे, रेलगाड़ियाँ इत्यादि बिजली से चलाई जाती हैं। यहाँ विद्युत्-शक्ति का गति के रूप में परिवर्तन कर दिया जाता है। मोटरकार में पेट्रोल के परमाणुओं की रासायनिक शक्ति को स्वतंत्र करके उसको गति में बदल दिया जाता है। इस प्रकार ये शक्तियाँ एक दूसरे के रूप में परिवर्तित हो सकती हैं। इसी प्रकार मांसपेशी में उत्पन्न हुई उष्णता पेशी को क्रिया करने की शक्ति देती है।

संसार में जितने भी एंजिन बने हैं, उन सबसे अधिक मितव्ययी मनुष्य का शरीर है। साधारण एंजिनों में जितनी उष्णता उत्पन्न होती है, उसका केवल ४% काम में आता है। ९६% उष्णता व्यर्थ नष्ट होती है। जो अब बहुत उत्तम एंजिन बनाए गए हैं, उनमें १२% उष्णता का कार्य के रूप में प्रयोग किया जाता है,

किंतु मांसपेशी इससे कहीं अधिक उत्तमता से काम करती है। इसकी उष्णता का २८% भाग कार्य के रूप में परिणत होता है। शेष भाग भी व्यर्थ नहीं जाता, वह शरीर की उष्णता को बनाए रखने के काम में आता है । शारीरिक उष्णता के कम होने से शरीर की मृत्यु हो जाती है।

श्रम

मांसपेशी को यदि बहुत देर तक उत्तेजित किया जाय, तो उसमें संकोच की शक्ति न रह जायगी। कुछ देर तक संकोच करने के पश्चात् उसका संकोच धीमा और दीर्घ हो जायगा, और कुछ अधिक समय के पश्चात् पेशी संकोच करना बिलकुल बंद कर देगी। हम लोग जब किसी काम को बहुत समय तक परिश्रम के साथ करते रहते हैं, तो अंत में थक जाते हैं और फिर हममें कार्य करने की शक्ति नहीं रहती। हम श्रमित हो जाते हैं। पेशी में भी यही होता है, वे थक जाती हैं। थकने के पश्चात् फिर उसको चाहे जितनी ताड़ना की जाय, वह काम नहीं करती। यह उसका श्रम कहलाता है। श्रम का क्या कारण है और उसका स्थान कहाँ है ?

जिन मांसपेशियों को शरीर से पृथक् कर लिया जाता है और उसके पश्चात् लगातार उत्तेजना से उनको श्रमित किया जाता है, उनके श्रम के दो कारण हैं। संकोचावस्था में मांसपेशी में रासायनिक क्रियाएँ होती हैं। इन क्रियाओं से कुछ ऐसी वस्तुएँ बनती हैं, जो पेशी के लिये हानिकारक हैं। इनमें सारकोलेक्टिक अम्ल मुख्य है। यह एक विष के समान क्रिया करता है और पेशी की शक्ति घटा देता है। श्रम का दूसरा कारण यह होता है कि मांसपेशी को भोजन नहीं मिलता, जो उसकी शक्ति के लिये

आवश्यक है। इन दोनों कारणों से शरीर से पृथक् पेशी शीघ्र हो श्रमित हो जाती है।

जब पेशी शरीर में रहती है, तो भी वह संकोच करती है। कभी-कभी उसे विशेष काम करने के लिये बहुत अधिक समय तक संकोच करना पड़ता है। किंतु वहाँ पर पेशी इतनी शीघ्र नहीं थकती। कारण, शरीर में पेशी में रक्त का सदा प्रवाह होता रहता है। इस प्रवाह से संकोच में उत्पन्न हुए विषैले पदार्थ बह जाते हैं, इस प्रकार पेशी उन विषैले पदार्थों के प्रभाव से बच जाती है। दूसरे, रक्त पेशी के लिये प्रत्येक समय भोजन लाया करता है। इस प्रकार दोनों कारणों का वहाँ अभाव हो जाता है।

यदि शरीर से पृथक् पेशी को संकोच के पश्चात् किसी पोषक द्रव्य से धो डाला जाय, तो उसका श्रम बहुत ही जल्दी जाता रहेगा। यदि किसी पेशी में लेक्टिक अम्ल प्रवेश कर दिया जाय, तो उसमें बहुत जल्दी श्रम उत्पन्न हो जायगा।

प्रयोगों से पता लगाया गया है कि श्रम का विशेष स्थान अंतस्थल हैं। यदि श्रम उत्पन्न होने के पश्चात् भी स्वयं पेशी को उत्तेजित किया जाय तो पेशी संकोच करने लगती है। नाड़ी में श्रम नहीं उत्पन्न होता।

पेशी के श्रम के कारण केवल रासायनिक विषैले पदार्थ ही नहीं हैं। मस्तिष्क और नाड़ी-मंडल भी इसमें काफ़ी भाग लेते हैं। श्रम से जो विषैले पदार्थ बनते हैं, वे रक्त में मिलकर मस्तिष्क में पहुँचते हैं और वहाँ मस्तिष्क को श्रमित करते हैं। यदि एक श्रमित मनुष्य का रक्त एक भले चंगे मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट कर दिया जाय, तो शीघ्र ही उसे भी श्रम मालूम पड़ने लगेगा। यह सदा देखने में आता है कि मानसिक कार्य करने से जो श्रम

उत्पन्न होता है, उसका प्रभाव केवल मस्तिष्क ही पर नहीं होता, पेशियों पर भी होता है। मस्तिष्क के श्रम ही के कारण पेशी श्रमित हो जाती है।

इटली के एक वैज्ञानिक ने श्रम के संबंध में बहुत-से प्रयोग किए थे। उसने अपने प्रयोगों द्वारा यह दिखाया है कि श्रम का पूर्ण रूप से उत्तरदायी नाड़ी-मंडल है। उसने एक यंत्र बनाया था, जिसका नाम Ergograph है। इसके द्वारा उँगलियों के पेशियों की शक्ति नापी जाती है। उसने इसके द्वारा दिखाया है कि मस्तिष्क के श्रमित होने के पश्चात् पेशी अपना काम ठीक प्रकार से नहीं कर सकती। उसने एक महाशय से लेक्चर दिलवाया और लेक्चर के पूर्व और पश्चात् देखा कि वह कितना बोझ उठा सकते थे। वक्तृता से पूर्व उन्होंने डेढ़ छटाँक का बोझ अपने हाथ की बीच की उँगली से अड़तालीस बार उठाया, और वक्तृता के पश्चात् उसी बोझ को केवल अड़तीस बार उठा सके।

इस प्रकार शारीरिक श्रम से मानसिक श्रम उत्पन्न होता है और मानसिक श्रम से शारीरिक श्रम। श्रम से जो वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, वे केवल रक्त द्वारा दूर हो सकती हैं। श्रम को दूर करने के लिये विश्राम और भोजन की आवश्यकता है। मालिश से श्रम जल्दी दूर होता है, क्योंकि रक्त का प्रवाह बढ़ जाता है। रक्त द्वारा विषैले पदार्थ दूर हो जाते हैं और अधिक पोषक पदार्थ पहुँच जाते हैं।

श्रम को दूर करने का सबसे उत्तम समय वह है, जब श्रम अत्यधिक नहीं हुआ है। श्रम के बहुत अधिक होने पर पूर्व की अपेक्षा बहुत अधिक विश्राम की आवश्यकता है। यदि १० मिनट तक संकोच करने पर उत्पन्न हुए श्रम को दूर करने के लिये १९ मिनट

के विश्राम की आवश्यकता है, तो २० मिनट के संकोच से उत्पन्न हुआ श्रम एक घंटा व इससे भी अधिक समय तक विश्राम करने से दूर होगा। शरीर व मस्तिष्क के श्रमित होने पर भी काम करना कोई उत्तम नियम नहीं है। इससे शरीर और मस्तिष्क दोनों को हानि होती है।

श्रम आदत पर बहुत कुछ निर्भर करता है। कुछ मनुष्य मानसिक परिश्रम अधिक कर सकते हैं, पर शारीरिक परिश्रम उतना नहीं। कुछ लोग शारीरिक परिश्रम के अभ्यस्त होते हैं, पर मानसिक कार्य करने से शीघ्र ही थक जाते हैं। कुछ लोग दूसरों से अधिक परिश्रम कर सकते हैं। यह सब जैसा छोटी अवस्था में स्वभाव बना लिया जाय, उस पर निर्भर करता है। व्यायाम का सिद्धांत ही यह है।

व्यायाम के द्वारा पेशियों को कार्य करने की आदत पड़ जाती है। धीरे-धीरे यह आदत बढ़ाई जा सकती है। व्यायाम के समय पेशियों में संकोचन होता है, जिससे वे फूल जाती हैं। रक्त का प्रवाह उनमें अधिक होने लगता है। यह रक्त उनको पोषक पदार्थ प्रदान करता है, जिससे उनकी शक्ति बढ़ती है। विशेष क्रम के अनुसार किए हुए व्यायाम के द्वारा पेशियों की कार्य-शक्ति बहुत बढ़ाई जा सकती है। व्यायाम से पेशियों का आकार बढ़ता है। वे बड़ी हो जाती हैं और साधारणतया बड़ी पेशी बलवान् होती हैं। बहुत बड़ी पेशी उन मनुष्यों के लिये आवश्यक है, जिनका व्यवसाय ही अपने बल का परिचय देना है। साधारण मनुष्य को बड़ी पेशियों की इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी कि कार्यदक्ष पेशियों की, जो अपने काम को उत्तमता से पूरा कर सकें। मनुष्य के पेशियों की उत्तमता पाशविक बल में इतनी नहीं है, जितनी कि दक्षता में।

मृत्यूत्तर-संकोच (Rigor Mortis)—मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् मांसपेशियों में कुछ परिवर्त्तन हो जाता है। मृत्यु के कुछ घंटे बाद पेशियों के सूत्र कड़े पड़ जाते हैं, क्योंकि सूत्र के भीतर का प्रोटोप्लाज़्म जम जाता है। सूत्र अपारदर्शी हो जाता है। उसमें सारकोलेक्टिक अम्ल की मात्रा बढ़ जाती है। इस अवस्था को मृत्यूत्तर संकोच कहते हैं। इसका मुख्य कारण सारकोलेक्टिक अम्ल है, जो श्रम का भी मुख्य कारण है।

यह अवस्था एक ही बार सारे शरीर में नहीं फैलती। सबसे पहले गर्दन और मुँह की पेशियों का संकोच होता है। उसके पश्चात् ऊर्ध्वशाखा, वक्ष, उदर और निम्न-शाखाओं की पेशियाँ क्रम से संकुचित होती हैं। सब मांसपेशियाँ कठिन हो जाती हैं। उनके उत्तेजित्व इत्यादि का गुण जाता रहता है और वह सिकुड़कर छोटी होजाती हैं।

कुछ समय तक यही दशा रहने के बाद धीरे-धीरे पेशियाँ फिर ढीली पड़नी आरंभ होती हैं। संकोच जाता रहता है। जिस क्रम में वह आरंभ होता है उसी क्रम में वह समाप्त भी होता है।

हमारे शरीर में कुल ५१९ मांसपेशियाँ हैं; शरीर के प्रत्येक सौ भागों में ४२-४३ भाग मांस के हैं। इन मांसपेशियों ही पर गति निर्भर करती है। इनकी क्रिया मस्तिष्क के संबंध पर निर्भर है। हम पहले देख चुके हैं कि प्रत्येक पेशी के सूत्र में नाड़ी का एक सूत्र जाता है। इन नाड़ियों के द्वारा मस्तिष्क से सूचना व उत्तेजना पेशियों तक पहुँचती है। उनके संबंध ही पर पेशियों का जीवन निर्भर रहता है।

ये नाड़ियाँ कई प्रकार की होती हैं। कुछ ऐसी होती हैं जो पेशियों में गति उत्पन्न करती हैं। वे संचालक कहलाती हैं। दूसरी ऐसी होती हैं जो चर्म से भिन्न-भिन्न प्रकार की सूचनाएँ

मस्तिष्क को ले जाती हैं। यदि शरीर में कोई कीड़ा कहीं काट लेता है तो मस्तिष्क को तुरंत ही सूचना पहुँच जाती है। यह सांवेदनिक नाड़ी कहलाती है। एक तीसरे प्रकार की नाड़ियाँ ऐसी होती हैं कि यदि उनको काट दिया जाय तो पेशियाँ अपना भोजन नहीं ग्रहण कर सकतीं और दुबली होकर बिलकुल सूख जाती हैं। इन नाड़ियों को पोषक नाड़ियाँ कहते हैं।

नाड़ियाँ बहुत लंबे सूत्रों की बनी हुई होती हैं। उन पर जहाँ तहाँ नाड़ी सेल होते हैं। एक नाड़ी एक सेल से आरंभ होकर दूसरे सेल तक जाती है, जहाँ से दूसरे सूत्र आरंभ हो जाते हैं। इस प्रकार शरीर के किसी भी भाग से मस्तिष्क तक पहुँचने में इस प्रकार के कई जंक्शन पड़ते हैं, जहाँ सूचनाओं को एक सूत्र से दूसरे सूत्रों में जाना होता है। ये जंक्शन अथवा संगम-स्थान अधिकतर सुषुम्णा में स्थित हैं, जिसके द्वारा मस्तिष्क को नाड़ियों के सूत्र जाते हैं।

चर्म से उत्तेजना या सूचना सांवेदनिक नाड़ी में होती हुई सुषुम्णा तक पहुँचती है। सुषुम्णा से दूसरा सूत्र आरंभ होता है। इस कारण यहाँ सुषुम्णा के पाश्चात्य शृंग में स्थित नाड़ी सेल के द्वारा सूचना को दूसरे सूत्र में जाना होता है। यह सूत्र सुषुम्णा के ऊपरी भाग तक जाते हैं जहाँ से दूसरे सूत्र में होती हुई सूचना मस्तिष्क तक पहुँचती है। मस्तिष्क में सूचना के पहुँचने पर वहाँ से संचालक नाड़ी द्वारा पेशी को आवश्यक कार्य करने की आज्ञा जाती है। संचालक-सूत्र सुषुम्णा के पूर्व शृंग द्वारा जाते हैं। यदि किसी अंग पर कोई जंतु बैठा हुआ है तो तुरंत ही उसकी सूचना सांवेदनिक नाड़ी द्वारा मस्तिष्क को पहुँचती है, जहाँ से संचालक नाड़ी द्वारा हाथ की मांसपेशियों को उस जंतु को हटाने की आज्ञा जाती है।

कभी-कभी समय की कमी से सूचना मस्तिष्क तक न पहुँच कर सुषुम्णा ही में सांवेदनिक से संचालक नाड़ी में चली जाती है। ऐसी क्रिया को प्रत्यावर्त्तक व परावर्त्तित क्रिया कहते हैं। कभी-कभी रास्ते में जाते हुए सामने से कुछ भुनगे आकर नेत्र में घुसने लगते हैं तो नेत्र के पलक तुरंत ही बंद हो जाते हैं। यह प्रत्यावर्त्तक क्रिया है।

मांसपेशी और नाड़ी के संबंध के विच्छिन्न हो जाने पर पेशी की संकोच करने की शक्ति जाती रहती है और वह स्वयं भी अकर्मण्य होने के कारण कुछ समय के बाद नष्टप्राय हो जाती है।

चित्र नं० ३४—प्रत्यावर्त्तक क्रिया का मार्ग
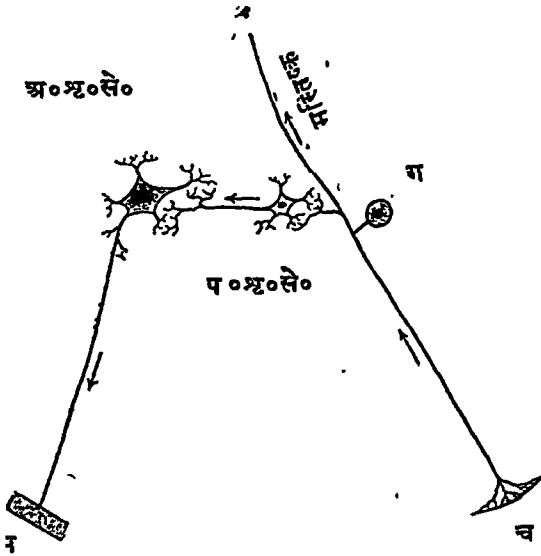
च. चर्म; ग. गंद; प० शृ० से०. पाश्चात्य शृंगसेल
अ० शृ० से०. अग्र शृंग सेल; म. मांसपेशी।

रक्त-वाहक-संस्थान

हृदय और उसका कार्य

मनुष्य के शरीर में हृदय एक अद्भुत वस्तु है। जब तक हृदय अपना काम किया करता है, नाड़ी चला करती है, तब तक कहते हैं कि मनुष्य जीता है। ज्यों ही हृदय का काम बंद हुआ, नाड़ी की गति रुकी, त्यों ही मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। अर्थात हृदय का बंद होना और शरीर की मृत्यु होना पर्यायवाची समझे जाते हैं। यद्यपि इसको विज्ञान के अनुसार ठीक नहीं कह सकते, किंतु साधारणतया यह माना जा सकता है। हृदय के बंद होते ही शरीर के सब अवयवों की मृत्यु तत्काल नहीं होती। शरीर के सब सेलों का जीवन उसी समय समाप्त नहीं हो जाता, कुछ सेलों में कई घंटे बाद तक जीवन रहता है। साधारणतया हृदय के कार्य के बंद होने के एक या दो मिनट के बाद फुस्फुस का कार्य बंद हो जाता है। मस्तिष्क एक बहुत ही कोमल अंग है, जो शुद्ध रक्त के तनिक सी देर तक न मिलने से अपना कार्य बंद कर देता है। इस प्रकार हृदय के अपना कार्य-क्रम छोड़ने के कुछ देर बाद

हृदय का पूर्व पृष्ठ

१. उत्तरा महाशिरा ।
२. दक्षिण फुस्फुसीय शिरा ।
३. बृहद् धमनी ।
४. दक्षिण अलिंद का शिखर ।
५. दक्षिण अलिंद ।
६. हार्दिकी शिरा ।
७. दक्षिण हार्दिकी धमनी ।
८. हार्दिकी शिरा पूर्वी ।
९. दक्षिण निलय ।
१०. हृदय का पूर्व पृष्ठ ।
११. हृदय का शिखर ।
१२. वाम निलय ।
१३. हार्दिकी शिरा कुल्या ।
१४. ,, धमनी ।
१५. दक्षिण निलय का वह भाग जहाँ से फुस्फुसीया धमनी प्रारंभ होती है ।
१६. वाम अलिंद का शिखर ।
१७, १८. फुस्फुसीया धमनी का प्रारंभ ।
१९. वाम उत्तरा फुस्फुसीया शिरा ।
२०. वाम फुस्फुसीया धमनी ।
२१. धमनी संयोजक ।
२२. महाधमनी की चाप ।

हृदय का पूर्व पृष्ठ

पृष्ठ-संख्या ११६
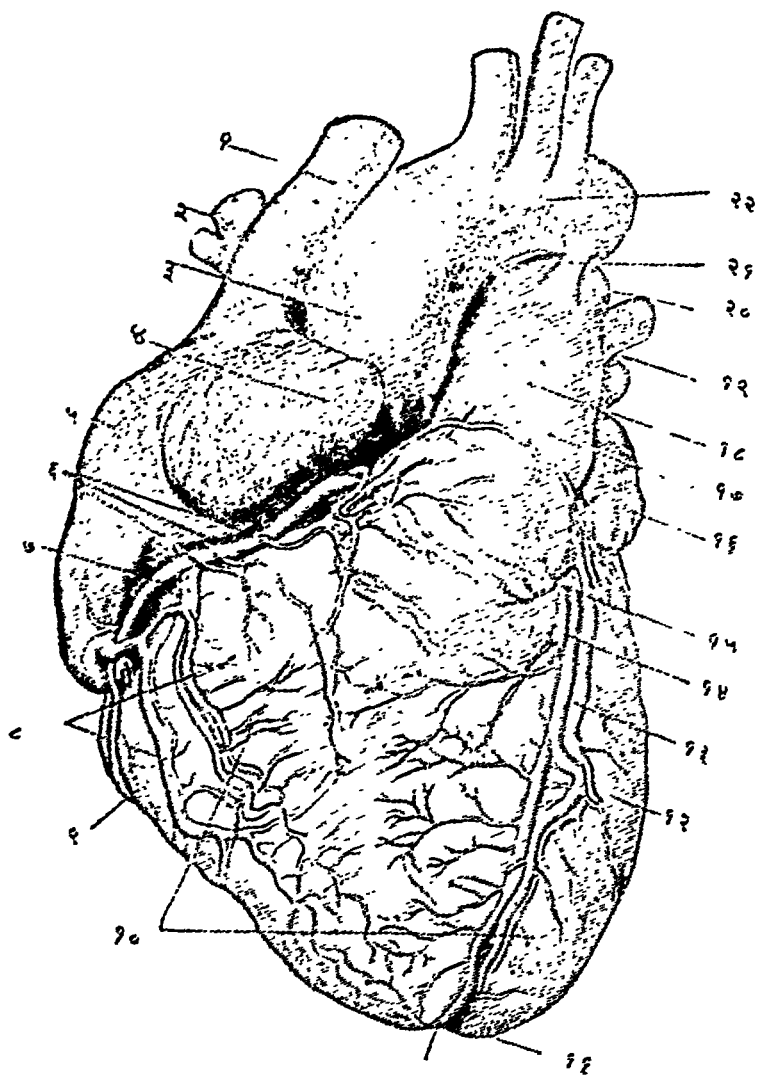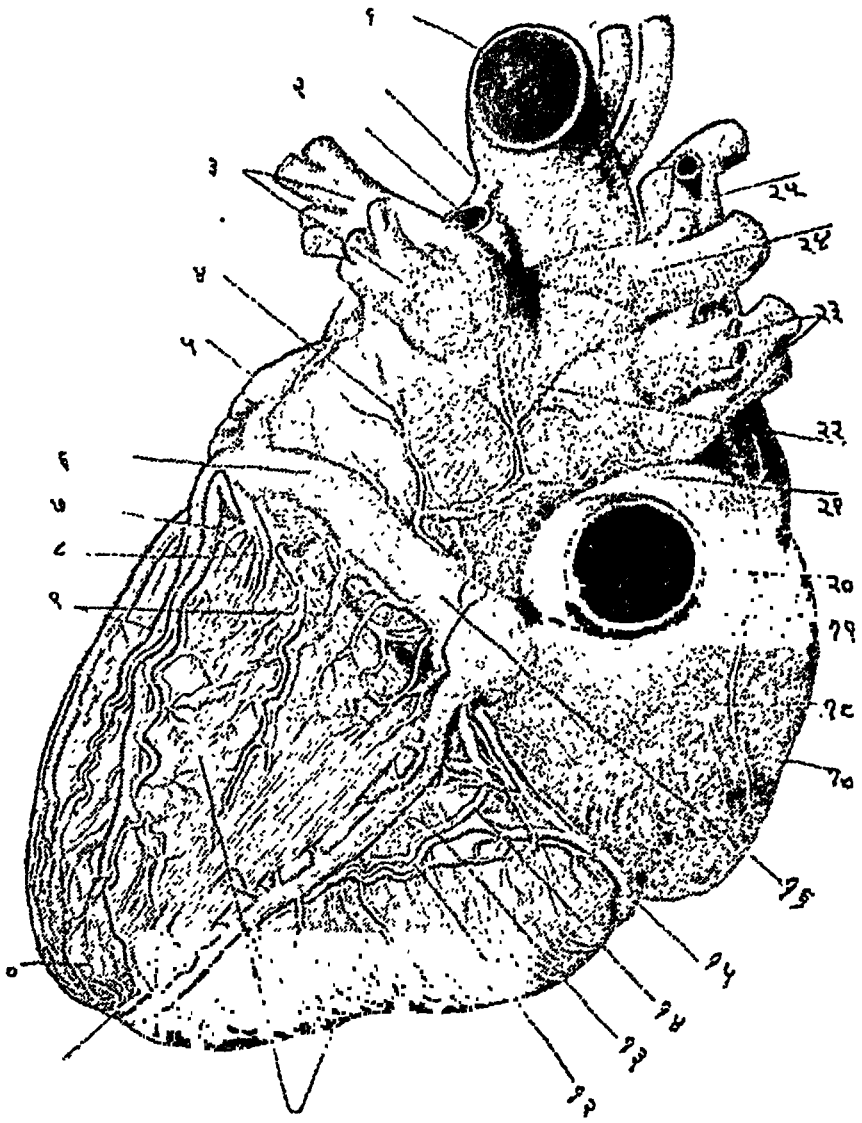
हृदय का पश्चिमी पृष्ठ

हृदय का पश्चिमी पृष्ठ

१. बृहद् धमनी ।
२. वाम फुस्फुसीया धमनी ।
३. ,, ,, शिरा ।
४. तिर्यक् शिरा ।
५. वाम अलिंद ।
६. हार्दिकी शिरा कुल्या ।
७. वाम हार्दिकी धमनी की शाखा ।
८. अलिंद और निलय के बीच की परिखा ।
९. हार्दिकी शिरा पश्चिमा ।
१०. हृदय का शिखर ।
११. निलय का पश्चिम पृष्ठ ।
१२. पाश्चात्य कोष्ठांतरिक धमनी ।
१३. मध्य हार्दिकी धमनी ।
१४. एक सूक्ष्म शिरा ।
१५. दक्षिण हार्दिकी धमनी ।
१६. हार्दिकी महाशिरा का अंतिम भाग ।
१७. दक्षिण अलिंद ।
१८. परिखा ।
२०. अधरा महाशिरा ।
२१. अलिंद और निलय के बीच की परिखा ।
२२. वाम अलिंद ।
२३. दक्षिण फुस्फुसीया शिरा ।
२४. ,, ,, धमनी ।
२५. उत्तरा महाशिरा

ही शरीर के सब मुख्य अंग अपना २ कार्य छोड़ देते हैं और हम कहते है कि शरीर की मृत्यु हो गई।

हृदय एक अद्भुत यंत्र है। शरीर में जितनी मांसपेशियाँ हैं, सब अद्भुत मशीन हैं; किंतु सबसे अधिक विचित्र हृदय है, जो न कभी विश्राम लेता है, न श्रमित होता है। बराबर दिन-रात अपना कार्य करता चला जाता है। यह एक मांसपेशियों का लाल रंग का थैला, मनुष्य की मुट्ठी के बराबर, आकार में एक बड़े क़लमी आम के समान, बाएँ ओर वक्ष में स्थित, सारी आयु भर संकोच और विस्तार किया करता है। एक बार फैलता है, फिर सिकुड़ता है। फिर फैलता है, फिर सिकुड़ता है, इसी प्रकार एक मिनट में ७२ बार फैलता और सिकुड़ता हुआ जीवन पर्यंत चला जाता है। इसकी काम करने की शक्ति असीम है। एक परिश्रमी मनुष्य एक घंटे में अपने शरीर की पेशियों से इतना काम ले सकता है कि वह अपने शरीर-भार को २००० फ़िट ऊँचा उठा सके। किंतु हृदय को जो काम करना पड़ता है, उससे वह अपने भार को ६००० फ़िट ऊँचा उठा सकता है। अर्थात् जितना काम हम कर सकते हैं, उससे आकार को ध्यान में रखते हुए हृदय छः गुना अधिक काम करता है। इस प्रकार वह अपने चौबीस घंटे के काम से ३२ टन भार एक फ़ुट उठा सकता है। यह हृदय का कार्य है, जिसे वह चुपचाप शांति के साथ दिन-रात किए जाता है। और इतने शांति के साथ करता है कि हमको उसका होना मालूम भी नहीं होता।

जब से जीवन आरंभ होता है तभी से हृदय का कार्य आरंभ होता है। जब वह इतना छोटा होता है कि कदाचित् उसका देखना भी कठिन है तभी से वह अपना कर्म करने लगता है। हारवे

(Harvey) ने, जिसने रक्त का परिभ्रमण और हृदय के कर्म का ठीक २ पता लगाया था, एक कबूतर के भ्रूण में हृदय की उत्पत्ति के पूर्ण क्रम को देखा है। उनका कहना है कि मैंने छोटे कबूतर के भ्रूण में उसके जीवन आरंभ होने के अर्थात् भ्रूणावस्था के चौथे व पाँचवें दिन पर हृदय को देखा है, जो एक दूरस्थ बादल के छोटे से टुकड़े की भाँति दिखाई देता था। इसको देखना तभी संभव है, जब अंडे के ऊपर का छिलका, जो चूने का बना होता है, अलग उतार कर अंडे को स्वच्छ पानी के भीतर रख दिया जाता है। ऐसा करने से भ्रूण के शरीर के बीच में उस बादल सदृश वस्तु के अंतर्गत एक लाल रंग का बिंदु दिखाई देता था, जो संकोच के समय दिखाई देना बंद हो जाता था, क्योंकि उसके भीतर का द्रव्य, जिसका कदाचित् रंग लाल था, बाहर निकल जाता था। संकोच के पश्चात् जब विस्तार होता था, तो वह बिंदु फिर दिखाई देने लगता था; क्योंकि वह द्रव्य उसमें फिर भर जाता था। उसका आकार एक पिन के सिरे से बड़ा नहीं था। इस प्रकार वह बिंदु अपने संकोच और विस्तार द्वारा जीवन के आरंभ का द्योतक था।

संकोच और विस्तार करना स्वयं हृदय की पेशी का गुण है। यद्यपि हृदय की पेशियों का नाड़ियों से संबंध रहता है, किंतु इनका संकोचन नाड़ियों से पूर्णतया स्वतंत्र होता है। वह नाड़ियों पर किसी भी भाँति निर्भर नहीं रहता। भ्रूणावस्था में जब हृदय का किसी भी नाड़ी से संबंध नहीं होता, हृदय की पेशी में तभी संकोच होने लगता है। यही नहीं, यदि एक कबूतर के भ्रूण का हृदय जो पूर्णतया बन चुका है उसके शरीर से पृथक् करके किसी उचित पोषक द्रव्य में रख दिया जाय, तो वह बराबर संकोच करता रहेगा।

यदि हम हृदय को इस प्रकार काटें कि उसमें जितनी भी नाड़ियाँ हैं वे सब कहीं न कहीं से कट जाय, जिससे कोई भी उत्तेजना नाड़ियों के द्वारा न आसके और फिर भी मांसपेशी को विद्युत् के द्वारा उत्तेजित करें, तो पेशी में फिर भी संकोच होने लगेगा। जिस प्रकार

चित्र नं० ३९—हृदय के मांस-सूत्र के सेल। (Schafer)
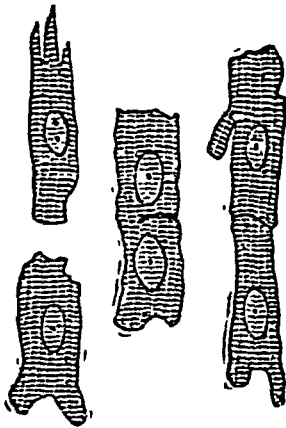
अग्नि का गुण प्रत्येक वस्तु को जो उसके पास ले जाई जाय, भस्म कर डालना है और जल का गुण शीतल करना है, इसी प्रकार हृदय की पेशी का गुण संकोच करना है। जब से जीवन आरंभ होता है तभी से हृदय जानता है कि उसको क्या कार्य करना है। थोड़े से सेल जो हृदय के पेशी को बनाते हैं, दूसरे सेलों की भाँति प्रोटोप्लाज़्म के बने हुए हैं। जब दूसरे अंगों के सेल अंग-कर्म के अनुसार शिथिल रहते हैं और किसी भाँति का कार्य नहीं करते हैं, हृदय के सेल संकोच करने लगते हैं और आयु पर्यंत बिना किसी विश्राम के संकोच

चित्र नं० ३६—वक्ष में बीच में हृदय और उसके दोनों ओर फुस्फुसों की स्थिति दिखाई गई है।
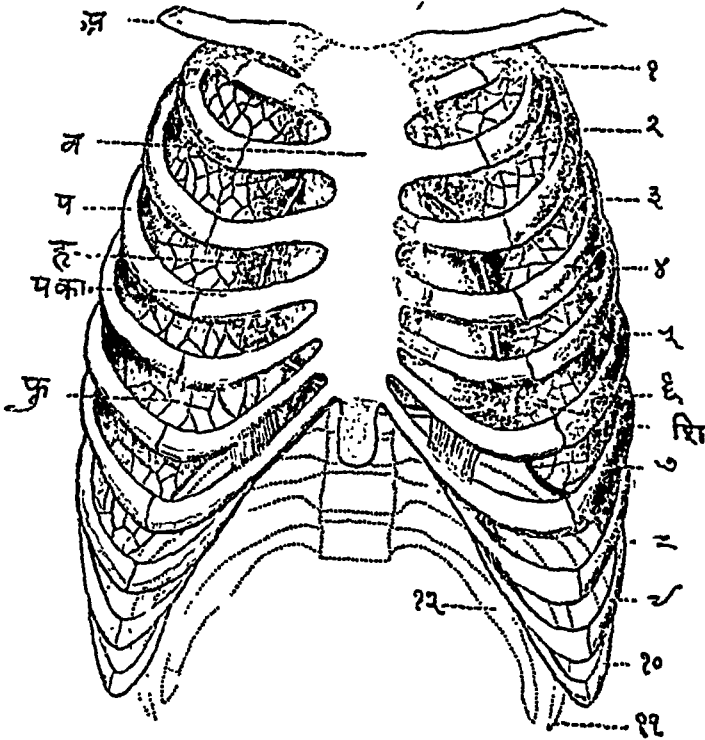
१-१२ पर्शुकाएँ
अ—अक्षक
व—वक्षास्थि
प—पर्शुका
ह—हृदयावरण जो सामने से काट दिया गया है
प. का.—पर्शुकीय कारटिलेज
फु—फुस्फुस
शि—हृदय का शिखर

और विस्तार किए जाते हैं। यदि ज़रा देर के लिये भी थे सेल आलस्य करके अपना कार्य छोड़ दें, तो मनुष्य के जीवन का दीप बुझ जाय। किंतु प्रकृति ने इन्हें आलस्य करना नहीं सिखाया है। यह शब्द उसके कोष के बाहर है। प्रकृति में सब कार्य अपने क्रम से उचित समय पर होते हैं। यह गुण तो केवल हमारे समाज ही ने धारण किया है।

हृदय शरीर में बाईं ओर स्थित है, इसके दोनों ओर दो फुस्फुस हैं। आगे की ओर वक्षास्थि और तीसरी, चौथी और पाँचवीं पर्शुकाएँ रहती हैं। हृदय के पीछे, पीठ के पाँचवें, छठें, सातवें और आठवें कशेरुकाओं के गात्र रहते हैं। हृदय और इन कशेरुकाओं के बीच में बृहद् धमनी और अन्न प्रणाली पड़े रहते हैं हृदय लगभग ५ इंच के लंबा और ३½ इंच चौड़ा (जहाँ सबसे अधिक चौड़ा है) है। जहाँ इसकी मोटाई सबसे अधिक है, वहाँ यह २½ इंच मोटा है। साधारणतया इसका बोझ ५ छटाँक के लगभग होता है।

हृदय मांस का बना हुआ एक थैला है, जिसके भीतर रक्त रहता है। इसके ऊपर एक झिल्ली चढ़ी रहती है, जिसको हृदयावरण (Pericardium) कहते हैं। यदि हृदय को भीतर से चीरकर देखा जाय, तो इसमें चार कोष्ठ व कोठिरियाँ दिखाई पड़ेंगी। वस्तुतः हृदय दो बड़ी दाईं और बाईं कोठरियों में विभाजित होता है। वे दोनों बड़ी कोठरियाँ फिर दो २ भागों में विभाजित हैं। इस प्रकार हृदय में चार कोष्ठ बन जाते हैं। ऊपर की कोठरियों में रक्त आता है। उनको अलिंद कहते हैं। नीचे के कोष्ठों से रक्त का सारे शरीर में वितरण होता है। वह रक्त को बाहर निकालते हैं। वह निलय कहलाते हैं।

चित्र नं० २७—हृदय, दाहिने अलिंद और निलय भित्ति काटकर दिखाए गए हैं।
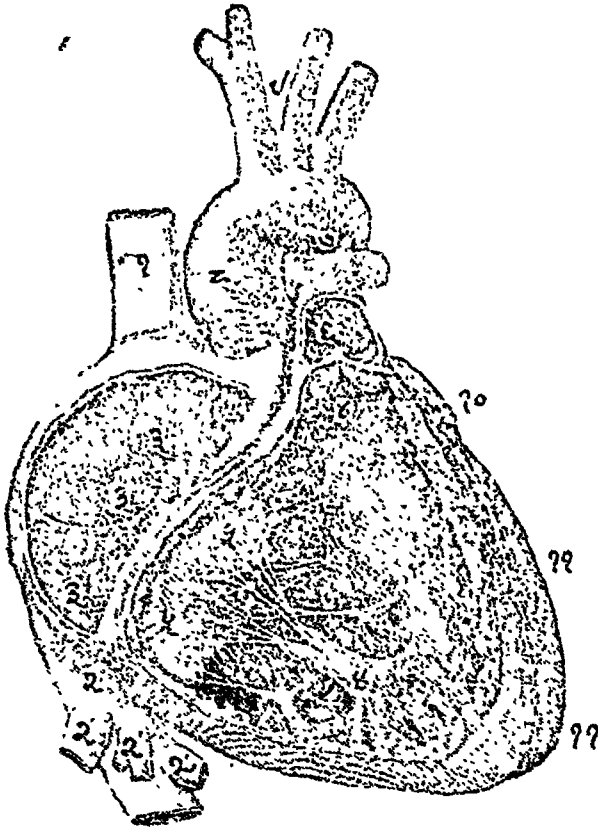
१. उत्तरा महाशिरा; २. अधरा महाशिरा; २. २. २. यकृतीय शिरा: ३. दाहिना अलिंद ३' अंडाकार खात; ३'' यकृतीय शिरा का छिद्र पास ही है। ४. ४. दाहिना निलय ४' एक बड़ी हृद्रज्जु। ५. ५. ५., त्रिकपर्दीय कपाट; ६. फुप्फुसीय धमनी, इस अंक के नीचे अर्द्धचंद्राकार कपाट दीखते हैं। ७. बृहद् धमनी; ८. बृहद् धमनी का ऊर्ध्वगामी भाग; ९. इस अंक के दाहिनी ओर कांडमूला और बाईं ओर महामातृका धमनी हैं; १०. बाएँ अलिंद का भाग; ११. ११. बायाँ निलय (Allen Thompson)

हृदय के कपाट बंद अवस्था में
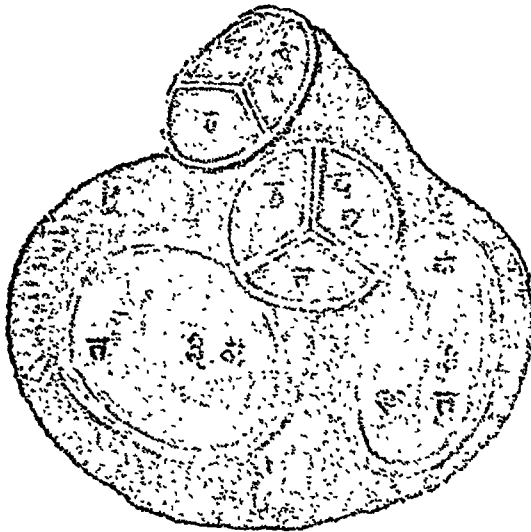
१. फुस्फुसीय धमनी के कपाट ; क, पूर्व ; द, दक्षिण ; ठ, वाम ।

२. बृहद् धमनी का अर्धचंद्राकार कपाट ; ठ, वाम ; द, दक्षिण ; त, पश्चिम ।

३. वाम अलिंद और निलय के बीच का द्विकपर्दीय कपाट ; त, पश्चिम ; क, पूर्व ।

४. दक्षिण ओर के अलिंद और निलय के बीच का त्रिकपर्दीय कपाट ; क, पूर्व ; ड, अंतस्थ ; त, पश्चिम ।

पृष्ठ-संख्या १२३

ऊपर के कोष्ठ नीचे के कोष्ठ में रक्त भेजते हैं और नीचे के कोष्ठों से सारे शरीर में रक्त जाता है। इन कोष्ठों का बड़ा ही विचित्र प्रबंध है। अलिंद और निलय के बीच में जो दीवारें हैं उनमें ऐसे द्वार हैं जिनके द्वारा रक्त प्रथम कोष्ठ से दूसरे कोष्ठ में जा सकता है। निलय और उन बड़ी नलिकाओं के बीच में भी, जिनमें निलय से रक्त जाता है, ऐसे ही द्वार हैं। इन द्वारों पर इस भाँति के किवाड़ लगे हुए हैं कि वे केवल एक ही ओर को खुलते हैं। रक्त उनके द्वारा अलिंद से निलय कोष्ठ में और निलय से रक्त नलिकाओं में, जिनको धमनी कहते हैं, जा सकता है, किंतु लौट नहीं सकता। यदि रक्त लौटने का उद्योग करता है तो ये किवाड़ बंद हो जाते हैं और रक्त को उधर जाने से रोक देते हैं। इन द्वारों को कोष्ठ-छिद्र कहते हैं और उन पर जो किवाड़ लगे हैं उनको कपाट कहते हैं। अँगरेज़ी भाषा में ये वाल्व (Valves) कहलाते हैं।

ये कपाट कई भागों के बने हुए हैं। जो कपाट दाहिने अलिंद और निलय कोष्ठ के बीच में है वह तीन कपर्दों से मिलकर बना है। यह कपर्द अँगरेज़ी कोटों के थैले के आकार की जेबों के समान होते हैं। बाईं ओर का कपाट दो कपर्दों का बना हुआ है। जो कपाट निलय और धमनियों के बीच में हैं वह अर्द्ध-चंद्राकार हैं।

हृदय पर एक आवरण चढ़ा रहता है जिसको हृदयावरण (Pericardium) कहते हैं।

इस प्रकार हृदय चार भागों में विभक्त है—१. दाहिना अलिंद २. दाहिना निलय ३. बायाँ अलिंद ४. बायाँ निलय कोष्ठ। इन सब कोष्ठों में कोई न कोई रक्त-नलिका आती है व उनसे जाती है। दाहिने अलिंद में जो नलिका आती है वह सारे शरीर के

चित्र नं० ३८—बायाँ अलिंद और निलय ऊपर की भित्ति का कुछ भाग काट दिया गया है।
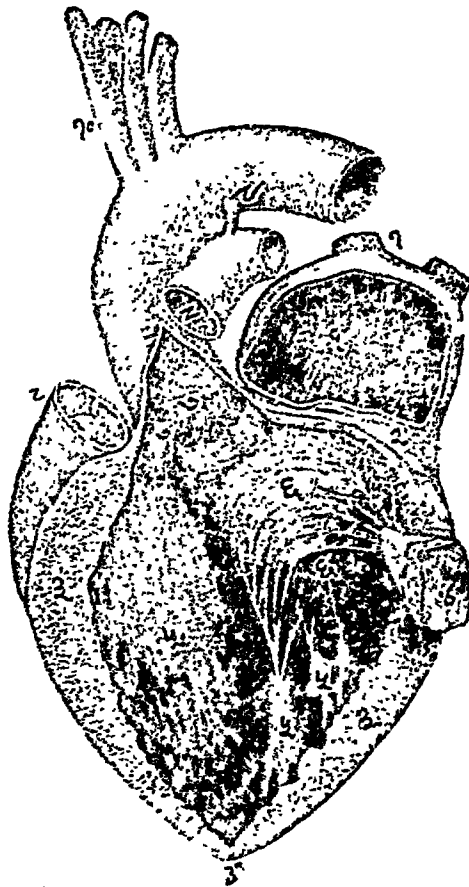
१. फुस्फुसीय शिराएँ १. बाईं ओर का निलय; २. कोष्ठ की भित्तियों का कुछ भाग; ३. ३ निलय की भित्तियाँ जो ३" शिखर के पास पतली हो जाती हैं ४. भित्ति का कुछ भाग जिसके साथ हृद्रज्जु लगी हुई है ५, ५, हृद्रज्जु की पेशी; ५'. बाए निलय का रिक्त स्थान ६,.६' द्विकपर्दीय कपाट; ७. बृहद् धमनी के भीतर, जिसको काटकर नीचे के त्रिकपर्दीय कपाटों को दिखाया गया है; ८, ८. फुस्फुसीय धमनी के कटे हुए भाग; ९ धमनीय नलिका का शेष (भ्रूण रक्त-संचालन, उत्पत्ति प्रकरण में देखो, १०. बृहद् धमनी की शाखाएँ।

अशुद्ध रक्त को लाती है। वह **महाशिरा** कहलाती है। दाहिने अलिंद से निलय में आया हुआ रक्त एक दूसरी नलिका द्वारा हृदय के बाहर जाता है। यह **फुस्फुसीय धमनी** कहलाती है, क्योंकि यह फुस्फुस को रक्त ले जाती है। बाएँ अलिंद में दोनों फुस्फुस से चार शिराएँ शुद्ध रक्त को लाती हैं। बाएँ निलय से यह शुद्ध रक्त बृहद् धमनी द्वारा सारे शरीर में भेजा जाता है। इस प्रकार जो नलिकाएँ हृदय से शुद्ध रक्त ले जाकर शरीर के सब अंगों में वितरण करती हैं वे **धमनी** कहलाती हैं। जो सारे शरीर के रक्त को, जिसमें शरीर के भिन्न २ भागों में रासायनिक क्रिया के होने से उत्पन्न हुए विषैले पदार्थ मिले रहते हैं, हृदय को फिर लौटाकर ले जाती हैं, वह **शिरा** कही जाती हैं। धमनी और शिरा के बीच में बहुत बारीक नलिकाएँ होती हैं। धमनी जहाँ अंत होती है वहाँ वह छोटे २ भागों में विभाजित हो जाती है। इस प्रकार एक धमनी से अनेकों छोटी २ धमनी तैयार हो जाती हैं। इन छोटी धमनियों से फिर और बहुत ही बारीक शाखाएँ निकलती हैं; यहाँ तक कि शाखाएँ इतनी पतली हो जाती हैं कि उनकी दीवारें केवल एक सेल मोटी रह जाती हैं। ये **केशिकाएँ** कहलाती हैं।

केशिकाओं की संख्या बहुत अधिक है। यह सारे शरीर में फैली हुई हैं। यदि केशिकाओं को निकालकर फैलाया जाय तो सहस्रों मील तक फैल सकती हैं। धमनियों का सारा रक्त केशिकाओं में होकर जाता है। इनकी दीवारों के बहुत पतले होने के कारण रक्त का रस इनके द्वारा छनकर बाहर के पेशी इत्यादि अंगों में पहुँचा करता है और उनको पोषण पहुँचाता रहता है। केशिका $\frac{1}{2000}$ इंच के लगभग मोटी होती है।

धमनी और शिरा दोनों की रचनाओं में थोड़ा भेद होता है। धमनियों की दीवारों के सूत्रों में मांशपेशियों के सूत्रों का अधिक भाग रहता है। उनमें लचक होती है जिससे वे चौड़ी हो सकती हैं और कुछ समय के पश्चात् आंतरिक भार के कम हो जाने पर फिर अपनी पूर्व दशा में आ जाती हैं। इस प्रकार वे भार को सहन कर सकती हैं।

चित्र नं० ३९—धमनी की आंतरिक रचना। चौड़ाई का परिच्छेद

(Transverse Section)
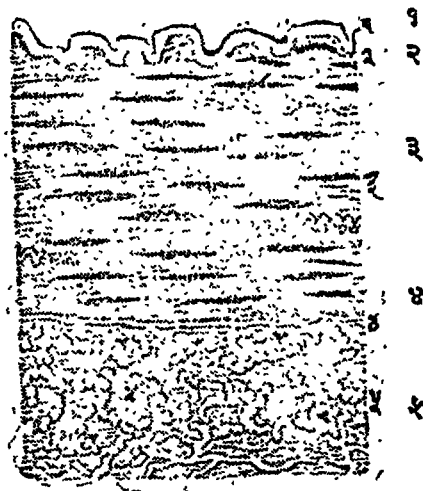
१. धमनी के भीतर की ओर की कला (आंतरिक कला)
२. आंतरिक स्थिति स्थापक कला
३. बीच का मांसपेशी का परत जिसमें कुछ स्थिति स्थापक तंतु वर्तमान हैं।
४. वाह्य स्थिति स्थापक कला
५. संयोजक तंतु का भाग

(Klien and Noble Smith)

जब हृदय संकोच करता है तो वहाँ से रक्त धमनियों में बड़े वेग से आता है जिससे आंतरिक भार बहुत बढ़ जाता है। उस समय धमनियाँ चौड़ी हो जाती हैं। जब वह रक्त आगे चला जाता है, तो धमनियाँ सिकुड़कर फिर अपनी पूर्व दशा में आ जाती हैं।

शिराओं में यह गुण नहीं होता। उनमें पेशी का भाग कम होता है। इस कारण वह आंतरिक भार को अधिक सहन नहीं कर सकतीं, उनमें रक्त की गति भी धीमी होती है। धमनियों में रक्त वेग और शक्ति के साथ बहता है और थोड़े २ समय के अंतर पर उनमें रक्त का एक रेला सा आता है। किंतु केशिकाओं में रक्त लगातार धीमी चाल से बहता रहता है; क्योंकि उनमें इस आघात को सहन करने की शक्ति नहीं होती। शिराओं में भीतर अधिक स्थान होता है अर्थात् धमनियों की अपेक्षा वह अधिक चौड़ी होती हैं।

रक्त संस्थान हृदय, धमनी, शिरा और केशिकाओं के समूह का नाम है, और इसका कार्य है रक्त को शरीर के प्रत्येक भाग में भेजना। जब हृदय में संकोचन होता है, उस समय हृदय से रक्त सब अंगों को जाता है और संकोच के पश्चात् जब हृदय विस्तार करता है, तो फिर रक्त हृदय में आता है। यह एक अद्भुत चक्र है जो कभी समाप्त ही नहीं होता। जो रक्तकण जहाँ से चलता है थोड़े समय के पश्चात् फिर वहीं आ जाता है। कहा जाता है कि पृथ्वी गोल है। यदि एक मनुष्य सीधा एक ही ओर को चला जाय तो अंत में वह उसी स्थान पर आ जायगा जहाँ से चला था। शरीर में भी ऐसा ही चक्र है। इस रक्त के शरीर में भ्रमण करने की अद्भुत घटना को तनिक अधिक ध्यान से देखना चाहिए।

चित्र नं० ४०—धमनी और शिरा दोनों का चौड़ाई का परिच्छेद दिखाया गया है।
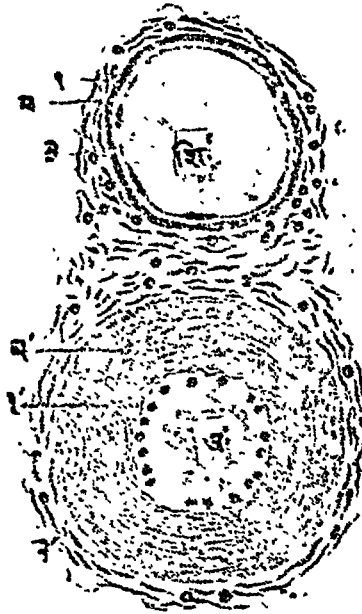
१, १, आंतरिक कला के सेल जो नलिकाओं के संकुचित होने के कारण, बड़े दिखाई देते हैं। २, २, मांसपेशी के सूत्र जो नलिकाओं को घेरे रहते हैं। ३, ३ संयोजक तंतु। शिरा की अपेक्षा धमनी में मांसपेशी का अधिक भाग है। (Klein and Noble Smith)

रक्त-परिभ्रमण—पहिले कहा जा चुका है कि महाशिराएँ रक्त को हृदय में ले आती है। यह रक्त अशुद्ध होता है, क्योंकि इसमें कार्बन-डाइ-ओक्साइड और कुछ दूसरे पदार्थ भी मिले रहते हैं। ओक्सीजन नहीं होती। हम यह भी देख चुके हैं कि महाशिरा दहिने

अलिंद में खुलती है। अतएव शरीर का सारा अशुद्ध रक्त महाशिरा के द्वारा हृदय के दहिने अलिंद में पहुँचता है। जब हृदय में संकोचन होता है, तो अलिंद और निलय के बीच का द्वार खुल जाता है। निलय इस समय ख़ाली होते हैं, और शिरा और अलिंद रक्त से भरे हुए होते हैं। संकोच से रक्त पर दबाव पड़ता है।

चित्र नं० ४१—चित्र में संकोच और विस्तार के समय हृदय के भिन्न कोष्ठों की दशा दिखाई गई है। चित्र अ में अलिंद संकोच कर रहा है, कपाट खुला हुआ है। चित्र ब में निलय संकोच कर रहा है, कपाट बंद है, और अलिंद विस्तृत है।

अलिंद

निलय
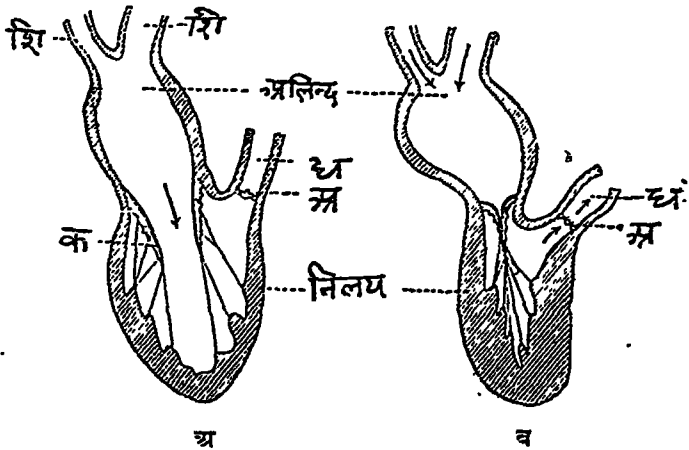
शि. महाशिरा

ध. बृहद् धमनी

क. अलिंद और निलय के बीच का कपाट

इसलिये वह कहीं बाहर निकलने का उद्योग करता है। इस समय निलय ख़ाली हैं और उधर का मार्ग भी खुला हुआ है। अतएव रक्त निलय में चला जाता है। संकोच के पश्चात् फिर हृदय का विस्तार होता है, जिस अवस्था में अलिंद में शिरा से फिर नया रक्त आ जाता है।

अलिंद के पश्चात् जब निलय संकोच करता है, तो अलिंद और निलय के बीच के कपाट बंद हो जाते हैं। स्वयं रक्त उन कपाटों को ऊपर उठाकर द्वार बंद कर देता है। इसके विरुद्ध फुस्फुसीय धमनी के दरवाज़े के कपाट खुल जाते हैं। इसलिये रक्त उधर ही को चल देता है।

जिस भाँति हृदय के भिन्न-भिन्न भाग संकोच करते हैं; उसी प्रकार धमनी के मांसपेशियों में भी संकोच होता है। इसी संकोच का यह प्रभाव होता है कि रक्त उन छोटी-छोटी धमनी और केशिकाओं में पहुँच जाता है, जो हृदय से ४ व ५ फ़ुट की दूरी पर स्थित हैं। हृदय के संकोच से रक्त में गति अवश्य आ जाती है, किंतु वह गति इतनी नहीं होती कि वह रक्त को अपने अंतिम निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचा सके। धमनियों की भित्तियों की मांस-पेशियाँ इस काम को पूरा करती हैं।

जब फुस्फुसीय धमनी में संकोच होता है, तो निलय और धमनी के बीच का द्वार बंद हो जाता है। रक्त कपाटों को ऊपर की ओर उठा देता है और वे मिलकर छिद्र को बंद कर देते हैं। इस कारण रक्त आगे की ओर बढ़कर फुस्फुसों में पहुँचता है।

फुस्फुसों का काम, पहिले बताया जा चुका है, रक्त की शुद्धि करना है। रक्त की शुद्धि इस प्रकार होती है कि उसमें सम्मिलित कार्बन-डाइ-ओक्साइड तो बाहर निकल जाता है और ऑक्सी-

चित्र नं० ४२—रक्त-परिभ्रमण के मार्ग का काल्पनिक चित्र
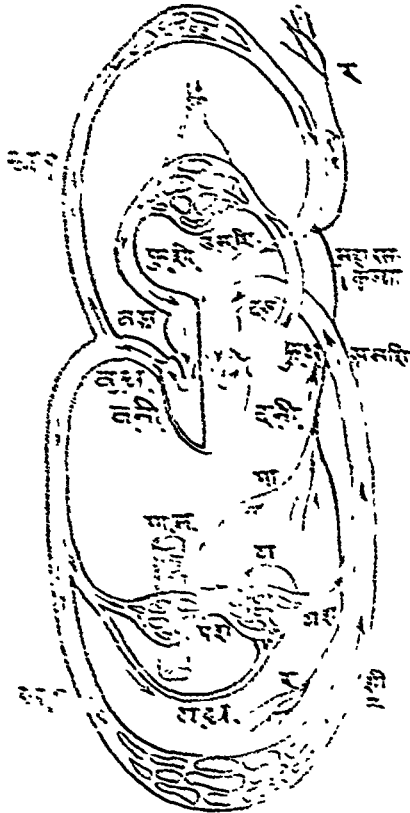
पा.न.—पाचन नलिका

द.अ.—दक्षिण अलिंद

द.नि—दक्षिण निलय

फु.ध.—फुफ्फुसीय धमनी

फु.शि.—फुफ्फुसीय शिरा

उ.म.शि.—उत्तर महा-शिरा

अ.म.शि.—अधरा महा-शिरा

र.—रसायनिया

पा.—पायसनियाँ

व.अ.—वाम अलिंद

व.नि.—वाम निलय

बृ.ध.—बृहद् धमनी

ध १—शरीर के ऊपरी भाग की धमनियाँ

ध २—शरीर के अधो-भाग की धमनियाँ

य.ध.—यकृतीय धमनी

शि. १—शरीर के ऊपरी भाग की शिराएँ

शि. २—शरीर के अधोभाग की शिराएँ

प्र.श.—प्रतीहारिणी शिरा

य.श.—यकृतीय शिरा

य.—यकृत

जन उसमें मिल जाती है। इस कार्बन-डाइ ओक्साइड को हम श्वास के द्वारा बाहर निकालते हैं। यदि हम उस वायु को, जो हम श्वास द्वारा भीतर ग्रहण करते हैं, उस वायु से तुलना करें जो श्वास द्वारा बाहर निकलती है, तो हमें पता लगेगा कि भीतर से बाहर आनेवाली वायु में भीतर जानेवाली वायु की अपेक्षा कार्बन-डाइ-ओक्साइड अधिक होता है और ऑक्सीजन कम होता है। भीतर जानेवाली वायु के ऑक्सीजन को रक्त ग्रहण कर लेता है और दूसरी विषैली गैस को उसमें मिला देता है। रक्त में यह अद्भुत क्रिया किस प्रकार होती है, इसका आगे चलकर वर्णन किया जायगा।

इस प्रकार ऑक्सीजन के संयोग से रक्त शुद्ध होता है। फुस्फुस रक्त को शुद्ध करके उसको फिर हृदय को लौटाते हैं। हम देख चुके हैं कि बाएँ अलिंद में फुस्फुसीय शिरा आकर खुलती है। वहाँ चार फुस्फुसीय शिराओं के छिद्र हैं। ये चारों फुस्फुसीय शिराएँ शुद्ध रक्त को बाएँ अलिंद में ले जाती हैं।

विस्तार के समय में अलिंद रक्त से भर जाता है। जब इस कोष्ठ में संकोच होता है, तो फिर वही घटना होती है जो दाहिने ओर हुई थी। अलिंद और निलय के बीच का छिद्र खुल जाता है और शिराओं के भरे होने के कारण रक्त उधर को न जाकर निलय में जाता है। इसके पश्चात् जब निलय का संकोच होता है, तो रक्त आगे को बढ़ता है। निलय और अलिंद के बीच का छिद्र बंद हो जाता है और धमनी और निलय के बीच का छिद्र खुल जाता है। अतएव रक्त बृहद् धमनी में प्रवेश करता है।

बाएँ निलय को सबसे अधिक कार्य करना पड़ता है। उसका

उत्तरदायित्व सबसे अधिक है। शरीर के सारे अंगों को उसे रक्त भेजना है। सारे शरीर का पोषण यहीं से होता है। बाँए निलय से बृहत् धमनी में सबसे पहले रक्त आता है, बृहत् धमनी से आगे चलकर शाखाएँ निकलनी प्रारंभ होती हैं। एक शाखा शिर को रक्त भेजती है, और दूसरी ऊर्ध्व शाखा का पोषण करती है। बृहत् धमनी बीच में भिन्न भिन्न अंगों को शाखाएँ देती हुई नीचे की ओर जाती है, जहाँ कटि-प्रांत में उसके दो भाग हो जाते हैं। प्रत्येक भाग एक निम्न शाखा में चला जाता है जहाँ वह प्रत्येक पेशी और अस्थि को शाखाएँ भेजता है। ये शाखाएँ अत्यंत सूक्ष्म शाखाओं में विभाजित होती जाती हैं और अंत में केशिकाओं का रूप धारण कर लेती हैं। इन केशिकाओं की दूसरी ओर से शिराओं का आरंभ होता है, जो रक्त को फिर हृदय में लौटाकर ले जाती हैं। इस प्रकार रक्त का परिभ्रमण हुआ करता है।

बृहत् धमनी, जिसमें हृदय से सब से पहिले रक्त आता है, एक काफ़ी मोटी नलिका है। ज्यों-ज्यों वह आगे चलती है, त्यों-त्यों उससे बहुत-सी शाखाएँ निकलती जाती हैं। यदि इन सब शाखाओं को मिलाकर एक नलिका बनाई जाय, तो बृहत् धमनी से कई गुणा बड़ी नलिका बन जायगी। यदि वह छोटी-छोटी शाखाएँ भी इनमें मिला दी जायँ, जिनमें धमनी अंत में विभाजित होती हैं, तो बृहत् धमनी से कई सौ गुणा मोटी नलिका बन जायगी। इन सबका परिणाम यह होता है कि रक्त ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों उसकी गति कम होती जाती है, क्योंकि उसको अधिक स्थान में होकर बहना पड़ता है। बृहद् धमनी में रक्त की गति ६० फुट प्रति मिनट होती है। यह गति धीरे-धीरे कम होती

जाती है । केशिकाओं में जाकर बहुत धीमी हो जाती है । वहाँ एक मिनट में रक्त केवल एक इंच चलता है अर्थात् धमनी की अपेक्षा ७२० गुणा उसकी गति कम हो जाती है । इस गति के कम होने से एक लाभ होता है । वह यह कि केशिका व लघु शाखाओं के चारों ओर के अंगों को रक्त से भोजन और ऑक्सीजन को शोषण करने का बहुत अच्छा अवसर मिलता है । धीरे-धीरे उनसे जितना हो सकता है वह पोषक पदार्थों को रक्त से खींच लेते हैं ।

परिभ्रमण का समय—प्रत्येक बार जब हृदय संकोच करता है, तो वह २$\frac{1}{4}$ छटाक रक्त बृहद् धमनी में भेजता है । इस रक्त के लिये बहुत-से मार्ग हैं । जितनी धमनी की शाखाएँ हैं, उतने ही मार्ग हैं । रक्त इनमें से कोई मार्ग ले सकता है । इस मार्ग में भ्रमण करके रक्त फिर हृदय में लौट आता है । सबसे छोटा मार्ग ग्रीवा की धमनी के द्वारा है । उसको हम ग्रीवा के दोनों ओर उँगली को दबाकर रखने से अनुभव कर सकते हैं, इस मार्ग के द्वारा रक्त को भ्रमण करने में १५ सेकिंड लगते हैं । पंद्रह सेकिंड में रक्त हृदय से चलकर मातृका धमनी के द्वारा जाकर फिर लौट आता है । दूसरे मार्ग इस से बहुत लंबे हैं । कुछ लोगों का अनुमान है कि रक्त साधारणतया ४५ सेकिंड में सारे शरीर में भ्रमण करके फिर हृदय को लौट आता है । इस प्रकार रक्त को कितना चलना पड़ता है, इसका अनुमान किया जा सकता है । रक्त के प्रत्येक बिंदु को चौबीस घंटे में कम-से-कम एक मील अवश्य चलना पड़ता है । इस प्रकार एक वर्ष में उसकी यात्रा ३६५ मील की होती है । एक मनुष्य जो ७० वर्ष जीवित रहता है, उसका रक्त २५,००० मील की यात्रा करता है ।

हृदय का यह चक्र रात दिन चला जाता है । बिना किसी

प्रकार का विश्राम लिए हुए हृदय बराबर अपना कर्म करता रहता है। इसको तनिक-सा विश्राम संकोच करने के बीच में मिल जाता है। पहिले अलिंदों का संकोच होता है, फिर निलयों का संकोच होता है। इस संकोच के पश्चात् विस्तार होता है, जिस समय हृदय फिर अपनी पूर्व दशा में आता है और कोष्ट रक्त से भर जाते हैं। इस विस्तार के समय ही हृदय को कुछ विश्राम मिलता है।

हृत्कार्य-चक्र—एक मिनट में हृदय ७२ बार संकोच और विस्तार करता है। इन्हीं संकोच और विस्तार की अवस्थाओं को मिलाकर हृत्कार्य-चक्र कहा जाता है। चक्र से यह अर्थ निकलता है कि यदि हृदय का किसी समय निरीक्षण किया जाय, तो उसमें कुछ न कुछ परिवर्त्तन होते मिलेंगे, यहाँ तक कि हृदय फिर अपनी उसी दशा में आ जायगा, जिसमें कि वह निरीक्षण के समय पर था। हृदय संकोच करता है फिर विस्तार करता है, फिर संकोच होता है, जिसके पश्चात् फिर विस्तार होता है। यही हृत्कार्य-चक्र है।

एक चक्र के पूरा होने में ·८ सेकिंड लगते हैं। पहिले दोनों ओर के अलिंदों का संकोच एक साथ होता है। उसके पश्चात् निलयों का संकोच होता है, उसके पश्चात् फिर विस्तार होता है। तत्पश्चात् चक्र फिर आरंभ हो जाता है। आवश्यकता पड़ने पर चक्र का समय बहुत घट जाता है। जब हम दौड़ते हैं व कुछ व्यायाम करते हैं, तो चक्र की संख्या बहुत बढ़ जाती है। हृदय की कार्य-गति साधारण गति से बहुत अधिक हो जाती है। हृदय में, साधारण दैनिक कार्य से तीन गुणा अधिक काम करने की शक्ति है। उस समय चक्र की सब घटनाओं का समय घट जाता है, किंतु विशेष कर विस्तार

का समय कम हो जाता है। हृदय अपने विश्राम-काल को घटा देता है।

हृदय की स्थिति का ज्ञान बहुत पुराना है। शताब्दियों से लोग हृदय की गाथा गाते आए हैं। कवियों ने हृदय में क्या-क्या कल्पना नहीं कर डाली। उनके लिये प्रत्येक भावना का स्थान हृदय था, प्रेम तो मानो हृदय का एक अंतरंग गुण था। इसी प्रकार जितनी भी विचार से संबंध रखनेवाली बातें थीं, वे सब उन्होंने हृदय के माथे मढ़ दी थीं। किंतु हृदय के कर्म का उचित ज्ञान किसी को नहीं था।

रक्त-परिभ्रमण की खोज और उसके प्रमाण—रक्त का चक्र में परिभ्रमण करना सबसे पहिले हारवे (Harvey) ने सन् १६२८ में मालूम किया था। उसके पूर्व इस विषय के संबंध में लोगों के बड़े विचित्र विचार थे। अरस्तू (Aristotle), जो एक नामी हकीम हुआ था, का विचार था कि हृदय सारे शरीर को गर्म करनेवाली एक भट्ठी है। भिन्न-भिन्न रक्त-नलिकाएँ इस भट्ठी में वायु लाती है, जिससे कि वायु बहुत ठंडी न होने पाए और यही वायु शरीर में भ्रमण करती है। उसका विचार था कि आमाशय में भोजन पचता था और पचकर हृदय में जाता था, जहाँ उसमें कुछ आवश्यक अवयव (Vital Spirits) मिल जाते थे और उनके मिलने से रक्त तैयार हो जाता था। जब हृदय में भोजन पहुँचता था, तो वहाँ की उष्णता से वह फैलता था और उसी से हृदय में विस्तार होता था। उसके मत के अनुसार हृदय के आकर्षण से रक्त में गति अवश्य होती है, किंतु वह गति क्रम-हीन होती है; अर्थात् कभी रक्त आगे को जाता है, और कभी पीछे की ओर।

अरस्तू के पश्चात् गैलेन (Galen) ने दूसरा मत प्रकाशित किया। उसने कहा कि हृदय में रक्त और वायु के मेल से एक विशेष प्रकार की वायु बन जाती है और वही हृदय को चलाती है। उसी से रक्त में इधर-उधर की गति होती है।

इसी प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने अपनी-अपनी मति के अनुसार हृदय के कार्य और रक्त-परिभ्रमण के चित्र खींच रक्खे थे। वह यह कहते थे कि हृदय और रक्त में कुछ संबंध अवश्य है; किंतु उसका ठीक स्वरूप उनको नहीं मालूम था। उनका यही विचार था कि रक्त इधर-उधर की गति करता है। यह विचार कि हृदय शरीर में चारों ओर रक्त भेजता है और स्वयं हृदय एक पंप की भाँति काम करता है, बहुत देर में उत्पन्न हुआ था। सन् १५७१ में एड्रीयास सीज़ल्पायनस (Adreas Caesalpinus) ने इस विषय का अनुसंधान करके अपना मत प्रकाशित किया। उसने बहुत ज़ोर से यह विचार प्रकट किया कि हृदय केवल एक पंप है, जो रक्त को शरीर में चारों ओर भेजता है। इससे आगे वह भी न बढ़ सका। उसको भी रक्त का ठीक मार्ग और हृदय-चक्र का पता न लगा।

इसके लगभग ५० वर्ष के बाद हारवे ने इस बात का अनुसंधान किया। हारवे ने पेडुवा विद्यालय (Padua University) से डाक्टर की पदवी सन् १६०२ में ली। उसके पश्चात् वह शरीर-शास्त्र का अध्यापक नियुक्त हुआ। उसने बहुत-से शवों को चीरा और भीतर की रचना भली भाँति देखी। न केवल मनुष्य ही के शरीर, किंतु जानवरों के शरीरों का भी इसने व्यवच्छेदन किया। घोड़े, मेंढक, छिपकली, भेड़, चिड़िया, कछुए, बैंघे, मछली, शार्क, केंचुए आदि सभी के शरीरों को उसने हृदय का अनुसंधान

करने के लिये चीरा । उन सब परिश्रमों के फल से उसको जो ज्ञान हुआ, उसे उसने इस प्रकार लिखा है कि हृदय और रक्त-नलिकाओं की जिस प्रकार की रचना देखी जाती व इसके संबंध में जो और बातें मालूम हुई हैं, उनसे यह मानना आवश्यक हो जाता है कि शरीर में रक्त चक्र में परिभ्रमण करता है। रक्त में प्रत्येक समय गति हुआ करती है, वह किसी भी समय स्थिर नहीं रहता । हृदय का काम केवल रक्त को शरीर में भ्रमण करवाना है। नलिकाओं के द्वारा हृदय रक्त को चारों ओर भेजता है और वह फिर लौटकर हृदय में आता है। हृदय का शरीर में इसके अतिरिक्त दूसरा और कोई कार्य नहीं है। हृदय में जो गति होती है, वह इसी अभिप्राय से होती है ।

जिस समय हारवे इस परिणाम पर पहुँचा था, उस समय तक सूक्ष्मदर्शक यंत्र नहीं बना था । इस कारण हारवे के काम की महत्ता और भी बढ़ जाती है । शारीरिक विज्ञान में कदाचित् इससे अधिक महत्त्व की खोज दूसरी नहीं हुई है। इस खोज के प्रकाशित होने के कुछ समय बाद, हारवे की मृत्यु के चार वर्ष पीछे, इटली के एक बड़े वैज्ञानिक ने सूक्ष्मदर्शक यंत्र की सहायता से हारवे के कथन का पूर्ण समर्थन किया । उसी ने सबसे पहले मेढ़क के फुस्फुसों में केशिकाओं का पता लगाया था । इस वैज्ञानिक का नाम मैल्पिघी (Malpighi) था।

हारवे को जिन प्रमाणों के कारण अपने सिद्धांत पर पहुँचना पड़ा था, वे ये थे—उसने देखा कि शरीर में हृदय के साथ दो प्रकार की नलिकाओं का संबंध है। यदि दोनों का कार्य समान ही है, तो दो प्रकार की रचनाओं की क्या आवश्यकता थी। अतः दोनों के कार्यों में कुछ भिन्नता अवश्य है ।

इसके अतिरिक्त हृदय और शिरा, दोनों में इस प्रकार के कपाट हैं कि वह रक्त को केवल एक ही ओर को जाने देते हैं। हृदय में इनका प्रबंध ऐसा है कि रक्त हृदय से केवल धमनियों की ओर जा सकता है। इसी प्रकार शिराओं में यह कपाट इस प्रकार से स्थित हैं कि रक्त हृदय की ओर ही आ सकता है, दूसरी ओर को नहीं जा सकता। इस प्रकार के प्रबंध से यह स्पष्ट है कि रक्त हृदय से धमनियों में आता है और धमनियों से केशिकाओं में होता हुआ शिराओं में जाता है। शिराओं में रक्त का प्रवाह हृदय की ओर होता है जैसा कि शिराओं के कपाटों से विदित है।

यह परिणाम तो हारवे ने शरीर की स्वाभाविक रचना से निकाला। इसके अतिरिक्त उसने कुछ प्रयोग भी किए, जो हम बहुत सहज में कर सकते हैं। शरीर के प्रत्येक स्थान में धमनी गहरी होती है और शिरा ऊपरी होती है। बहुधा चर्म के द्वारा नीले रंग की शिराएँ चमका करती हैं। यदि हम उँगली के अग्रभाग को एक तागे से कसकर बाँध दें, तो थोड़े समय में वह भाग फूल जायगा और नीला पड़ जायगा। यदि उसी भाग को एक बार भली प्रकार दबाकर उसके रक्त को ऊपर को निकालकर काफ़ी ज़ोर से बाँध दें, जिससे नीचे की धमनी भी दब जाय, तो थोड़े समय के पश्चात् वह भाग पीला पड़ जायगा। क्योंकि उसमें धमनी के दब जाने के कारण रक्त आना बंद हो जाता है।

यदि हृदय के पास हम बृहद् धमनी को एक तागे से कसकर बाँध दें, तो हम देखेंगे कि कुछ ही मिनट के पश्चात् हृदय फूल जायगा और नीला पड़ जायगा, क्योंकि उसमें रक्त आ तो बराबर रहा है; किंतु उससे बाहर नहीं जा रहा है। इसके विरुद्ध यदि हम महाशिरा को बाँधेंगे, तो हृदय बिलकुल पीला पड़

आयगा और खाली हो जायगा, क्योंकि हृदय में रक्त का आना बंद हो जाता है। जो जंतु-विज्ञान (Zoology) के विद्यार्थी हैं, वे अपनी क्लास में एक मेढ़क का शवच्छेद करके यह प्रयोग सहज ही में कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त यदि शरीर में किसी स्थान पर कोई ओषधि इंजैक्शन द्वारा प्रविष्ट की जाती है, तो तुरंत ही सारे शरीर में कुछ हल-चल-सी मच जाती है। ऐसा होना तभी संभव है, जब वह वस्तु किसी द्रव्य में मिलकर सारे शरीर में फैल जाय। इससे यह स्पष्ट है कि शरीर का रक्त ही उस वस्तु को सारे शरीर में ले जाता है। यदि वह वस्तु ऐसी हो, जो सहज में रक्त में मालूम की जा सके, चाहे रंग से या दूसरे गुणों से, तो उस वस्तु को एक रक्त-नलिका में प्रविष्ट करने के थोड़े ही समय के पश्चात् वह दूसरे ओर की समान नलिका में मालूम की जा सकती है। यदि (Potassium Fersocyanide) पोयशियम फेरोसाइनाइड को गले के दाहिनी ओर की शिरा में प्रविष्ट कर दिया जाय, तो वह कुछ ही समय के पश्चात् अपने रंग के कारण दूसरी ओर की शिरा में मालूम पड़ने लगेगी।

यदि एक धमनी कट जाती है, तो रक्त को रोकने के लिये धमनी को कटे हुए स्थान के ऊपर से दाबा जाता है; अर्थात् ऐसे स्थान पर दाबा जाता है जो कटे हुए स्थान और हृदय के बीच में है। किंतु यदि शिरा कटती है, तो कटे हुए स्थान के परे दबाव देना होता है।

इन सब प्रमाणों के पाने पर भी रक्त के एक पूर्ण चक्र में परि-भ्रमण करने में क्योंकर संदेह किया जा सकता है?

शिखर आघात और हृदय का शब्द—यदि हम पाँचवें

और छठे पर्शुका के बीच में वक्ष के बीच से कोई पाँच इंच बाईं ओर को अपनी उँगलियाँ रक्खें, तो हमारे हाथ पर किसी वस्तु का ठहर-ठहरकर आघात होगा। यह हृदय का शिखर है, जो पर्शुका व अंतरपर्शुका पेशियों पर आघात करता है। इसके साथ में कुछ शब्द भी होता है। यदि हम इसी स्थान पर कान रक्खें, तो हमको स्पष्ट दो शब्द सुनाई पड़ेंगे। स्टेथोस्कोप (Stethoscope) से यह शब्द बहुत ही स्पष्ट सुनाई पड़ते हैं। दोनों शब्दों में कुछ अंतर होता है और दूसरे शब्द के पश्चात् कुछ समय तक कोई भी शब्द नहीं सुनाई देता। फिर वैसे ही शब्द सुनाई देते हैं। प्रथम शब्द और दूसरे शब्द में केवल इनके स्वरूप में भेद करना होता है। पहिला शब्द कुछ धीमा होता है; किंतु अधिक समय तक होता है। दूसरा शब्द तीव्र होता है; किंतु थोड़े समय तक रहता है। यह दोनों शब्द ऊपर बताए हुए स्थान पर सुनाई पड़ते हैं।

इन शब्दों का कारण विचित्र है। दोनों शब्दों के कारण भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। पहिला शब्द संकोचीय है, क्योंकि वह हृदय के संकोच करने की अवस्था में होता है। दूसरा शब्द विस्तार के आरंभ में होता है। इस कारण विस्तारीय कहलाता है। प्रथम शब्द का आरंभ होना, और हृदय के शिखर का आघात एक साथ होते हैं। यह शब्द अलिंद और निलय कोष्ठों के बीच में स्थित कपाटों के कारण होता है। जब निलय में रक्त भर जाता है, तो कपाटों के पीछे की ओर लगी हुई हृद्रज्जुएँ तन जाती हैं और इनमें कंपनाएँ होने लगती हैं। यही शब्द का कारण है। संभव है कि हृदय की पेशियाँ भी शब्द के उत्पन्न करने में किसी प्रकार की सहायता देती हों।

दूसरा शब्द बृहद् धमनी और फुस्फुसीय शिरा के अर्द्धचंद्राकार

कपाटों के बंद होने से उत्पन्न होता है। यह शब्द वक्ष में कई स्थानों पर सुनाई देता है। स्टेथिस्कोप के द्वारा शब्द से हृदय के कपाटों की अवस्था जानी जाती है।

हृदय भी क्या ही अद्भुत यंत्र है, जो बिगड़ जाने पर अपनी कथा स्वयं अपने मुख से कह देता है। उसके कपाट कुछ रोगों में विकृत हो जाते हैं। ऐसा होने से तुरंत ही हृदय के कार्य में गड़बड़ी मच जाती है। उस समय हृदय शरीर में उतना रक्त नहीं भेज सकता, जितना कि भेजना चाहिए। यह रक्त को एक बार भेजता है; किंतु वह फिर लौट आता है। हृदय तुरंत ही इस त्रुटि को पूरा करता है। साधारण अवस्था की अपेक्षा, जैसी आवश्यकता होती है, दुगुनी और तिगुनी अधिक शक्ति से रक्त को भेजता है और इस प्रकार अपनी त्रुटि को पूरा कर लेता है। हृदय ऐसा अद्भुत यंत्र है कि वह छोटी-मोटी त्रुटि को तो स्वयं ही ठीक कर लेता है।

हृदय का पोषण—सारे शरीर को पोषण की आवश्यकता होती है। मांसपेशी बिना भोजन के अपना कार्य नहीं करती। यह पोषण रक्त के द्वारा पहुँचता है। हृदय भी एक पेशी है, और वह शरीर का एक अंग है। अतएव दूसरे अंगों की भाँति उसको भी भोजन चाहिए। हृदय को भोजन की क्या कमी? वह तो स्वयं ही दूसरों का पोषण करता है; सबों को भोजन पहुँचाता है; रक्त, जिसके द्वारा सारे शरीर का भोजन पहुँचता है, वह तो उसके पास ही है; फिर उसको पृथक् भोजन माँगने की क्या आवश्यकता?

अवश्य ही हृदय के पास पोषक-वस्तु का भंडार है। पर यह वह भंडारी थोड़े ही है, जो चुपचाप चोरी से खा जाय। यह वह

ख़ज़ांची नहीं, जो रक़म हज़म कर जाय। भंडार भंडारवाले का है, ख़ज़ाना मालिक का है; ईमानदार ख़ज़ांची को उससे क्या काम। शरीर के सब कर्मचारी बहुत ही दक्ष और ईमानदार हैं। इसी प्रकार हृदय भी स्वयं किसी वस्तु का प्रयोग नहीं करता। हृदय के मांस के पोषण के लिये वृहद् धमनी में से दो शाखाएँ जाती हैं, जिनके द्वारा हृदय के वस्तु को पोषण मिलता है। यह हार्दिक धमनियाँ कहलाती हैं।

हृदय का नाड़ियों से संबंध—यद्यपि संकोच और विस्तार मांसपेशी का गुण है, तथापि कुछ नाड़ियों का इस पर कुछ प्रभाव पड़ता है। यह नहीं कि वह संकोच उत्पन्न करती हों; किंतु हृदय की गति घटाने-बढ़ाने की इनमें शक्ति है। एक नाड़ी ऐसी है, जो हृदय के संकोच की गति को कम कर देती है और दूसरी का कार्य गति को बढ़ाना है। यह साधारणतया क्रिया नहीं करती; केवल जब आवश्यकता होती है, तो वह काम करती है। जो हृदय को बहुत अधिक संकोच नहीं करने देती, वह 'वागस' (Vagus) कहलाती है। उसका काम हृदय को रोकना है। यदि इसको बिलकुल काट दिया जाय, तो हृदय बड़े वेग से धड़कने लगेगा। यदि इस नाड़ी को तनिक-सा उत्तेजित कर दिया जाय, तो हृदय मंदा पड़ जायगा। यदि बहुत अधिक उत्तेजित किया जाय, तो हृदय रुक जायगा।

दूसरी नाड़ी जिसका कार्य इससे बिलकुल उलटा है Sympathetic कहलाती है। उसका काम हृदय को तीव्र करना है। वह कभी-कभी केवल आवश्यकता के समय पर काम करती है।

हृदय एक घोड़ा है, जिसकी लगाम वागस नाड़ी है और ऐंड दूसरी नाड़ी है। लगाम प्रत्येक समय कुछ-न-कुछ कसी रहती है;

किंतु ऐंठ की कभी-कभी आवश्यकता पड़ती है। यह दोनों नाड़ियाँ हमारी इच्छा के अधीन नहीं हैं। इनका संचालन एक केंद्र के द्वारा होता है, जिसके पास शरीर के प्रत्येक भाग से सूचनाएँ पहुँचा करती हैं। उसी के अनुसार जिस समय जैसी आवश्यकता होती है, वह हृदय का संचालन करता है। कभी तेज़ चलाता है, कभी मंदा कर देता है।

कुछ पशुओं के हृदय शरीर से बाहर निकालने पर भी कुछ समय तक धड़कते रहते हैं। मेंढक का हृदय उसके शरीर से भिन्न करने पर भी कुछ घंटे तक धड़कता है। यदि उसको किसी उचित पोषक द्रव्य में रख दिया जाय, तो वह कई दिनों तक चलता रहेगा। यह द्रव्य कुछ उष्ण होना चाहिए और उसमें ऑक्सीजन मिली रहनी चाहिए। उचित पोषक द्रव्य के द्वारा बहुत से स्तनधारी जंतुओं के हृदय भी कई दिनों तक जीवित अवस्था में रक्खे जा सकते हैं।

किसी समय यह सोचा जाता था कि हृदय पर शस्त्रकर्म (Operation) नहीं किया जा सकता और यदि हृदय में कोई घाव लग जाय, तो फिर रोगी नहीं बच सकता। किंतु इस समय शल्य-विद्या इतनी तेज़ी से उन्नति कर रही है कि हृदय की भी इस विधि से चिकित्सा करना संभव हो गया है। कई बार चिकित्सकों ने हृदय के घावों को सीकर रोगी की जान बचा ली है।

रक्त—हृदय केवल एक मांस का थैला है, जो सारे शरीर में रक्त का संचालन किया करता है। यह रक्त सब अंगों में पहुँचकर उनका पालन करता है। किंतु यह रक्त भी एक बड़ी अद्भुत वस्तु है। सारे शरीर में आठ सेर से भी कम रक्त है। हृदय एक बार में एक छटाँक के लगभग रक्त को शरीर में भेजता है। यह रक्त

एक वर्ष भर में ३६५ मील की यात्रा करता है ; मनों पोषक द्रव्य सब अंगों को देता है और इससे भी अधिक विषैले पदार्थों को शरीर से बाहर निकालने के लिये अंगों से ले जाता है। यह एक लाल रंग का पतला-सा द्रव्य है और इसमें इतने गुण हैं !

रचना—यदि रक्त का हम भली भाँति निरीक्षण करें, तो हमें मालूम होगा कि रक्त दो भाँति की वस्तुओं से बना हुआ है। एक तो हलके-से पीले रंग का द्रव्य होता है, जिसको प्लाज़्मा (Plasma) कहते हैं और दूसरे इस प्लाज़्मा में छोटे-छोटे गोल आकार के रक्त-कण रहते हैं, जो लाल होते हैं। रक्त के लाल रंग का कारण यही कण हैं। इन निश्चित् आकारवाले कणों के अतिरिक्त दूसरे भाँति के भी कण होते हैं, जो श्वेत होते हैं। उनको श्वेतकण कहते हैं।

यदि रक्त को काँच के किसी छोटे बर्तन में भरकर रख दें, तो थोड़े समय के पश्चात् रक्त जमने लगेगा। अंत में एक जमा हुआ थक्का अलग हो जायगा और पीले रंग का तरल पदार्थ अलग रहेगा। यह तरल पदार्थ प्लाज़्मा है और थक्का रक्त के कण और एक दूसरी वस्तु जिसको फ़ाइब्रिन (Fibrin) कहते हैं, दोनों के मिलने से बना है। थक्के का आकार ठीक उस काँच के बर्तन के समान होगा, जिसके भीतर वह रक्खा हुआ है। १०० भाग रक्त में ६०-६५ भाग प्लाज़्मा के होते हैं और ३५-४० भाग रक्त-कणों के।

रक्त-कण—रक्त-कण दो प्रकार के होते हैं—एक लाल और दूसरे श्वेत। रक्त में यह असंख्य कण रहते हैं। रक्त की प्रत्येक बूँद में ५०,००,००० लाल कण और ६,००० से १२,००० तक श्वेत कण रहते हैं।

लाल कण—लाल कणों की संख्या श्वेत कणों से बहुत अधिक होती है। ये रुपये-पैसे के समान आकार में गोल होते हैं, किंतु दोनों ओर बीच में कुछ गहरे और किनारों की ओर उठे हुए होते हैं। दोनों ओर इनकी ऐसी ही बनावट होती है। ऐसी बनावट को युगुल—नतोदर (Biconcave) कहते हैं। परिधि में यह ३२०० इंच के लगभग होते हैं और इससे चौथाई मोटे होते हैं। यदि एक कण को लेकर देखा जाय, तो वह पीला दिखाई देगा। जब बहुत-से कण आपस में मिले रहते हैं, तब अधिक संख्या के कारण लाल दिखाई देते हैं। इन सेलों में कोई केंद्र नहीं होता।

इन सेलों की उपयोगिता इनके रंग पर निर्भर करती है। इनके भीतर एक विशेष वस्तु होती है, जिसके कारण इनका ऐसा रंग होता है। यह वस्तु धमनी और शिरा के रक्त में कुछ भिन्न होती है। इसको हीमोग्लोबिन (Haemoglobin) कहते हैं। इसमें यह गुण होता है कि वह ऑक्सीजन का शोषण कर लेती है और उसके साथ मिलकर Oxy-Haemoglobin बना देती है। जो रक्त धमनियों में रहता है, उसके कणों में ऑक्सीजन सम्मिलित हीमोग्लोबिन रहती है। शिराओं के रक्त के कणों में ऑक्सीजन नहीं होती। इसी थोड़े-से अंतर पर जीवन निर्भर करता है।

रक्त-कणों का रंग लाल उस समय होता है, जब उनकी हीमोग्लोबिन ऑक्सीजन के साथ मिल जाती है। जहाँ ऑक्सीजन उससे पृथक् हो जाती है, उसका रंग जाता रहता है। शिराओं के रक्त का रंग इसी कारण नीला दीखता है, क्योंकि उसके कणों में ऑक्सीजन नहीं है और साथ में रक्त में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड मिला हुआ है। यह हीमोग्लोबिन एक प्रकार की प्रोटीन है, जिस-

रक्त के लाल और श्वेत कण

पृष्ठ-संख्या १४६

में एक लोह-युक्त रंजक पदार्थ मिला रहता है, जिसको Haematin कहते हैं।

लाल कणों का मुख्य कार्य यही है कि वे वायु से ऑक्सीजन को ग्रहण करें और शरीर के अंगों को दे दें। हम पहले देख चुके हैं कि शरीर में जो भिन्न-भिन्न रासायनिक क्रियाएँ होती हैं, उनके लिये ऑक्सीजन की कितनी अधिक आवश्यकता होती है। इस ऑक्सीजन का प्राप्त करना लाल कणों का काम है।

फुप्फुस केवल इसी लिये बनाए गए हैं कि वहाँ रक्त के कण ऑक्सीजन प्राप्त कर सकें। और हृदय व नलिकाओं का केवल प्रयोजन यह है कि वह ऑक्सीजन-युक्त रक्त को दूसरे पोषक पदार्थों के साथ भिन्न-भिन्न स्थानों पर पहुँचा सकें। ये छोटे-छोटे लाल कण ऑक्सीजन-वाहक हैं। इनमें सम्मिलित हीमोग्लोबिन का यह अद्भुत गुण है कि वह तुरंत ही ऑक्सीजन को जहाँ पाती है, बहुत ही सहज में सोख लेती है। जब ये कण भ्रमण करते हुए अंगों में पहुँचते हैं, तो अपनी ऑक्सीजन बहुत ही सहज में दे देते हैं। मालूम होता है कि ऑक्सीजन और हीमोग्लोबिन का संयोग दृढ़ नहीं होता। इसी से इतनी आसानी से ऑक्सीजन पृथक् हो जाती है।

मनुष्य के शरीर में लाल कणों का ऊपर बताए हुए कार्य के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं मालूम होता। स्तनधारी जीवों के रक्त में लाल कण, सिवाय थोड़े-से जंतुओं को छोड़कर, केंद्र-रहित होते हैं।

हीमोग्लोबिन—हीमोग्लोबिन का अणु बहुत बड़ा होता है। वह प्रोटोप्लाज़्म के अणु से भी बड़ा है। यह एक प्रकार की प्रोटीन

और हीमेटिन नामी रंजक पदार्थ के मिलने से बनता है। इस हीमेटिन में लोह रहता है, जो हीमेटिन व हीमोग्लोबिन में ऑक्सीजन को खींचने की शक्ति उत्पन्न करता है। सहस्रों अन्य परिमाणुओं में एक यह लोह का परिमाणु होता है, जो रक्त को उसका रंग प्रदान करता है। लोह के कारण ही हमारे शरीर के रंग में लाली आती है। बिना लोह के हमारा रंग पांडु हो जाता है। अतएव हमारे शरीर के ऊपरी रंग को रँगनेवाला यह लोह ही है।

केवल मनुष्य के शरीर ही में लोह यह काम नहीं करता है। वृक्ष की पत्तियों को लोह हरा रंग प्रदान करता है। लहलहाते हुए खेतों की बालों को हरा रंग देनेवाला भी लोह है। बहुत से सुंदर बहुमूल्य जवाहिरातों को उनका रंग लोह ही देता है। इस प्रकार लोह संसार में रंग करनेवालों का काम करता मालूम होता है। यदि प्रकृति ने पृथ्वी के तल में उसको बनाते समय थोड़ा-सा लोह न मिला दिया होता, तो यह वर्ण-विचित्रता कहाँ से आती।

वृक्ष के पत्तियों के क्लोरोफ़िल और रक्त-कणों के हीमोग्लोबिन में अद्भुत समानता प्रतीत होती है। हीमोग्लोबिन के रंग का कारण लोह है और क्लोरोफ़िल का हरा रंग भी लोह ही से उत्पन्न होता है। दोनों के अणु बहुत बड़े-बड़े और गूढ़ हैं। क्लोरोफ़िल वायु से कार्बन-डाइ-ऑक्साइड को ग्रहण करती है। कार्बन से पत्ती में कारबोहाइड्रेट बन जाते हैं। शेष ऑक्सीजन वायु को लौट जाती है। रक्त की हीमोग्लोबिन वायु से ऑक्सीजन को ग्रहण करती है और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड रक्त से निकलकर वायु में मिल जाती है।

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट १०

मेंढक के रक्त-कण
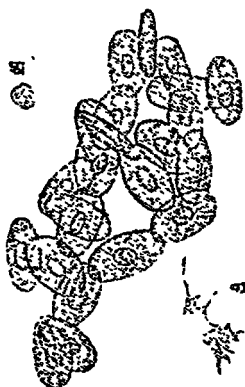
पृष्ठ-संख्या १५८

रक्त के लाल कणों का इतनी अधिक संख्या में होने का कारण उनके कर्म को देखकर स्पष्ट हो जाता है। एक बूंद रक्त में ५ लाख सेल सब जीवन के दीप को प्रदीप्त रखने का काम करते हैं; वे उसको बुझने नहीं देते। जितने अधिक कण होंगे, उतनी ही अधिक ऑक्सीजन शरीर के तंतुओं को मिलेगी। इतनी अधिक संख्या का यही प्रयोजन है कि शरीर के प्रत्येक कोने-कोने को, प्रत्येक सेल को पर्याप्त ऑक्सीजन पहुँच सके। सेलों की आकृति ही ऐसी है कि वे ऑक्सीजन को अधिक सोख सकते हैं। वह दोनों ओर से चपटे हैं, इस कारण उनके आकार की अपेक्षा उनमें शोषण शक्ति अधिक है, क्योंकि शोषण सदा ऊपरी तल से होता है।

यह सेल, $\frac{१}{३२००}$ इंच के परिधिवाले, फुस्फुस की केशिकाओं में जाकर वहाँ वायु के संपर्क में आते हैं। फुस्फुस में केशिकाओं की संख्या बहुत अधिक है। यदि उन सब केशिकाओं को निकालकर फैलाया जाय, तो उनके द्वारा ऐटलांटिक महासागर के एक किनारे से दूसरे तक एक मार्ग बन जायगा। यद्यपि केशिकाओं की इतनी अधिक संख्या है; तो भी लाल कण उनको भर देने के लिये काफ़ी हैं। यदि सारे लाल कणों को पृथ्वी पर एक-एक करके बिछा दिया जाय और उनके बीच में भी कुछ स्थान न छोड़ा जाय, तो उनसे ३३०० वर्गगज़ का स्थान ढक जायगा। उनसे एक फुट चौड़ा रास्ता ६ मील लंबा और आध इंच चौड़ा लाल फ़ीता १४० मील लंबा बन सकता है। यदि उनको एक-एक करके मिला दिया जाय, तो उनकी २,००,००० मील लंबी लाइन तैयार हो जायगी।

यह सेल कहाँ बनते हैं? ये सब लंबी अस्थियों की लाल मज्जा में बनते हैं। जिस समय ये तैयार होते हैं या शिशु-अवस्था

में होते हैं, तो उस समय इनमें केंद्र होता है; किंतु ज्यों-ज्यों ये तरुण होते जाते हैं, इनका केंद्र नष्ट होता जाता है। तरुण सेलों में केंद्र नहीं होता। इनकी उत्पत्ति सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा देखी गई है। यह बड़ी ही अद्भुत बात दिखाई देती है कि अस्थियों में, जो इतनी कड़ी हैं, यह कोमल वस्तु तैयार हो। किंतु प्रकृति ऐसे ही अद्भुत खेल खेला करती है।

इन लाल कणों का बराबर नाश हुआ करता है। एक सेल एक पक्ष से अधिक कदाचित् ही जीवित रहता हो। इस प्रकार सदा सेलों का नाश भी होता रहता है और नए सेल भी बनते रहते हैं। इन सेलों का नाश विशेष कर यकृत में होता है। इनके नाश से जो लोह उत्पन्न होता है, उसको यकृत पित्त के रंग बनाने के काम में लाता है। पित्त का हरा रंग इसी लोह से बनता है। एक प्रकार से यह सेल मृत तो पहिले ही होते हैं, क्योंकि न इनमें केंद्र होता है, न इनमें उत्पत्ति होती है। उनके भौतिक अस्तित्व का केवल नाश होना रह जाता है, जो यकृत में होता है। यही मृत सेल हमारे जीवन के आधार हैं।

श्वेत कण—दूसरे सेल श्वेत सेल होते हैं, इनका कोई निश्चित आकार नहीं होता। ये क्षण-क्षण में प्राचीन समय के राक्षसों की तरह अपना आकार बदला करते हैं। जिन्होंने अमीबा देखा है, वह इसका अनुमान कर सकते हैं। यह उसी श्रेणी का जीव है। अमीबा की भाँति ज्यों-ज्यों यह सेल आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों उसके आकार में नए परिवर्तन होते हैं। किसी दो स्थानों में इसका एक-सा आकार नहीं दिखाई पड़ता। ये लाल-कण से बड़े होते हैं और इनमें केंद्र होता है। ये कई प्रकार के होते हैं। विशेष भिन्नता उनके केंद्र के स्वरूप

और आंयाम में होती है। इन सेलों में धमनी व केशिका के दीवारों के सेलों के बीच में होकर बाहर निकल जाने की शक्ति होती है।

जीवाणु-भक्षण—ये सेल हमारे शरीर के सेना व नौका-विभाग के सिपाही हैं। इनका कार्य बाहर के आक्रमणों से शरीर की रक्षा करना है। जहाँ कोई भी बाहरी वस्तु शरीर के भीतर पहुँचती है, तुरंत ही ये कण उसका नाश करने को पहुँच जाते हैं। जहाँ शरीर में कोई रोगोत्पादक जीवाणु व कृमि प्रवेश करते हैं, तुरंत श्वेत कणों की सेना का कूच हो जाता है। इनको किसी प्रकार की तैयारी की आवश्यकता नहीं होती। दिन-रात तैयार ही रहते हैं। जीवाणु के प्रवेश करते देर नहीं होती कि ये सिपाही गण तुरंत उससे युद्ध ठान देते हैं। युद्ध में यदि ये जीत जाते हैं, तो किसी भाँति का रोग नहीं होता; क्योंकि ये जीवाणुओं को खा जाते हैं। यदि जीवाणु अधिक प्रबल होते हैं व उनकी संख्या अधिक होती है, तो ये श्वेताणु हार जाते हैं और रोग उत्पन्न हो जाता है। तिस पर भी वह बराबर अपना काम करते रहते हैं। अंत तक जीवाणुओं का नाश करने के उद्योग में लगे रहते हैं। यह क्रिया जीवाणु-भक्षण (Phagocytosis) कहलाती है।

इनकी यह क्रिया ठीक प्रकार से मालूम हुए बहुत दिन नहीं हुए। ६० साल के लगभग हुए, प्रोफ़ेसर हैकल (Haeckel) ने एक मौलस्क (Mollusc) श्रेणी के जंतु के शरीर के भीतर कुछ ओषधि के कण प्रविष्ट किए। उन्होंने देखा कि यह श्वेत कण ओषधि के कणों के चारों ओर इकट्ठे हो गए और उन सबों को, खा गए। इसके पश्चात् कुछ वैज्ञानिकों को किसी-किसी सेल के शरीर के भीतर कुछ जीवाणु मिले। इससे लोगों ने यह

अनुमान किया कि कदाचित् इन सेलों में जीवाणुओं को भक्षण करने का सामर्थ्य है। इस विचार की परीक्षा प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता मेचनीकाफ़ (Metchnikoff) ने की और उसने इस बात का पता लगाया कि शरीर को रोग के जीवाणुओं से मुक्त करने की इनमें शक्ति है। यह शरीर में रोग-क्षमता उत्पन्न कर देते हैं।

मेचनीकाफ़ की खोज की भी एक बड़ी रोचक कथा है। उसने सबसे पहिले एक मछली के डिंभ के शरीर में कुछ गुलाब के काँटे चुभाए। ज्यों ही उसने काँटों को शरीर के भीतर प्रविष्ट किया, त्यों ही इन श्वेताणुओं ने चारों ओर से आकर उसको घेर लिया और उसे खाने का उद्योग करने लगे। अपने दूसरे प्रयोग में मेचीनकाफ़ ने एक जंतु, जिसको डेफनिया (Daphnia) कहते हैं, के शरीर में थोड़े-से जीवाणुओं को प्रविष्ट किया। उसके देखते-देखते श्वेत कण चारों ओर से आकर एकत्रित हो गए और जीवाणुओं को खा गए।

इस प्रकार ये श्वेताणु हमारे शरीर की बाहर के अशुभ आगंतुकों से रक्षा करनेवाले हैं। ज्यों ही शरीर में किसी भी स्थान में कोई जीवाणु या कोई ऐसी ही दूसरी वस्तु प्रवेश करती है, त्यों ही ये सब उसी ओर को कूच कर देते हैं। समझ में नहीं आता कि यह ज्ञान इनको कैसे हो जाता है। इनका नाड़ी-मंडल से कोई संबंध नहीं रहता। यह रक्त में बहते फिरते हैं। फिर उन जीवाणुओं के प्रवेश की सूचना इनको किस भाँति मिल जाती है, जिससे ये उसी स्थान पर पहुँचकर उसके भक्षण व नाश का उद्योग करते हैं। यह एक विचित्र क्रिया है।

वैज्ञानिक इस क्रिया को रासायनिक आकर्षण (Chaemeo-taxis) के द्वारा होती बताते हैं। किंतु रासायनिक आकर्षण

कहने से समस्या कुछ सरल नहीं होती। यह उस क्रिया का केवल एक दूसरा नाम है। रसायन-विज्ञान में, कुछ वस्तुओं में एक विशेष प्रकार की प्रीति देखी जाती है। जहाँ भी इस प्रकार की दो वस्तुएँ उपस्थित होती हैं, वह तुरंत ही आपस में मिल जाती हैं। इन दोनों वस्तुओं में, श्वेताणु और जीवाणुओं में भी उसी प्रकार की प्रीति बताई जाती है। यह प्रीति व आकर्षण किसी वस्तु के परिमाणुओं व अणुवों में हो सकती है, जिनको हम देख नहीं सकते। किंतु इन दो वस्तुओं का, जिनको देखा जा सकता है और जो जीवित हैं, इस शक्ति के अधीन होना ठीक नहीं मालूम होता। यह कह देना कि इस घटना का कारण रासायनिक आकर्षण है, समस्या का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं है।

आप्सोनिन (Opsonins) –केवल यही नहीं, श्वेताणु सब प्रकार के जीवाणुवों का भक्षण करते नहीं प्रतीत होते। जिस प्रकार हम केवल उन वस्तुओं को खा लेते हैं, जो हमें स्वादिष्ट मालूम होती हैं और जिनका स्वाद हमें अच्छा नहीं मालूम होता, उन्हें हम छोड़ देते हैं, ये श्वेताणु भी कुछ ऐसा ही करते प्रतीत होते हैं। ये भी स्वाद की शक्ति से संपन्न मालूम होते हैं। यदि जीवाणुओं को रक्त व सीरम, जो प्लाज़्मा से फाइब्रिन को भिन्न कर देने से रह जाता है, में मिलाकर श्वेताणुओं को दें, तो वे तुरंत ही उनको हड़प जाते हैं। किंतु यदि इन जीवाणुओं को साधारण जल में या नमक के जल से धो दिया जाय, तो श्वेताणु उनका भक्षण नहीं करते। न केवल यही किंतु यह देखा जाता है कि भिन्न-भिन्न सीरम से उनका स्वाद बढ़ जाता है। एक प्रकार के सीरम के मिलाने से श्वेताणु एक बार में दो जीवाणुओं को

खाते हैं। दूसरे सीरम के मिलाने से चार जीवाणुओं को खाते हैं। किसी-किसी सीरम से छ तक खाने लगते हैं। सबसे अधिक स्वादिष्ट उसी जाति के, अथवा उसी जंतु के शरीर का सीरम होता है, जिसमें श्वेताणु स्वयं रहते थे। इससे यह प्रतीत होता है कि सीरम व रक्त में कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं, जो जीवाणुओं को स्वादिष्ट बना देती हैं। इन वस्तुओं को आप्सोनिन (Opsonins) कहा जाता है। सर आल्मोथ राइट का अनुभव है कि भिन्न भिन्न जीवाणुओं के लिये भिन्न-भिन्न आप्सोनिन हैं। उनका विचार है कि जीवाणु-भक्षण में इन आप्सोनिन का विशेष भाग होता है; अर्थात् यह सारी क्रिया इन्हीं आप्सोनिन पर निर्भर करती है।

रक्त-द्रावक -श्वेताणुओं के जीवाणु-भक्षण के अतिरिक्त रक्त में जीवाणुओं का नाश करने व उनको बेकाम करने की भी शक्ति है। बाहर से जो शत्रु शरीर में प्रवेश करता है, वह रक्त ही के द्वारा करता है। इसलिये रक्त ने अपनी शत्रु-नाशक शक्ति को पूर्णतया परिपक्व कर रक्खा है। यदि एक जंतु के शरीर से सीरम निकालकर किसी दूसरे जंतु के रक्त में प्रविष्ट कर दें, तो उस जंतु के रक्त के लाल कणों का नाश होने लगता है। वह घुलने लगते हैं। रक्त की वह वस्तु जिनके कारण यह क्रिया होती है, रक्त-द्रावक (Haemolysins) कहलाती हैं। इन वस्तुओं का स्वरूप क्या है व उनकी रासायनिक रचना क्या है, इसका अभी तक कुछ ज्ञान नहीं है।

संग्राहक—रक्त में स्वयं जीवाणुओं को नष्ट करने की शक्ति है। यह नहीं मालूम कि रक्त की वह वस्तु क्या है, जिससे ये जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। इतना हम अवश्य जानते हैं कि रक्त इस शक्ति से संपन्न है। इसके अतिरिक्त रक्त में एक अद्भुत शक्ति यह है कि

बना है। यदि आज उन्हीं सब वस्तुओं को लेकर रासायनिक प्रयोगशालाओं में इस वस्तु के तैयार करने का प्रयत्न किया जाय, तो उस प्रयत्न के सफल होने में संदेह है।

रक्त कुछ और भी काम करता है। वह जिस भाँति भी होता है, शरीर की रक्षा करता है। यह एक साधारण बात है कि यदि उँगली कट जाती है, तो उसमें रक्त निकलने लगता है। यह रक्त कुछ समय के पश्चात् जम जाता है और उस कटे हुए स्थान के मुँह को बंद कर देता है। इससे फिर अधिक रक्त नहीं निकल सकता। जब तक रक्त शरीर के भीतर रहता है, वह तरल रहता है और सारे शरीर में भ्रमण करता रहता है। शरीर के भीतर उसे कभी जमते हुए नहीं देखा गया। जब किसी स्थान के कटने से रक्त बाहर निकलता है, तब जमता है। यदि रक्त शरीर के भीतर जम जाया करता, तो रात दिन मृत्यु होती रहती, क्योंकि जमा हुआ रक्त तो भ्रमण कर नहीं सकता। वास्तव में उस समय जीवन असंभव हो जाता। किंतु यदि शरीर के कटने से बाहर निकलकर भी रक्त न जमता, तो भी उतनी ही कठिनाई होती। रक्त का प्रवाह ही बंद न होता और मनुष्य की शीघ्र ही मृत्यु हो जाती। कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं, जिनके रक्त में जमने की शक्ति नहीं होती। यह एक रोग होता है, जिसको (Haemophilia) कहते हैं। यह रोग बहुधा पारिवारिक होता है। जिन मनुष्यों को यह रोग होता है, उनमें रक्त-प्रवाह होना बहुत भयंकर होता है, क्योंकि रक्त निकलना बंद नहीं होता।

रक्त का जमना—यदि एक काँच के बर्तन में थोड़ा-सा रक्त कुछ समय के लिये रख दिया जाय और फिर रक्त के जमे हुए भाग को

सूक्ष्म-दर्शक-यंत्र के द्वारा देखा जाय, तो उसमें कुछ मोटे तागे दिखाई पड़ेंगे, जो आपस में मिलकर एक जाल बना देते हैं। ये तागे फाइब्रिन (Fibrin) के होते हैं और इसके जाल में कण भी रहते हैं। इस प्रकार फाइब्रिन और कणों से मिलकर रक्त का जमा हुआ भाग बनता है। यह फाइब्रिन रक्त में पूर्व से नहीं रहती; किंतु जब रक्त निकलता है, तो उस समय बनती है। उसके बनने की विधि इस प्रकार है।

रक्त में लाल कण और श्वेत कणों के अतिरिक्त एक और भी छोटे-छोटे कण पाए जाते हैं। उनका कोई विशेष कार्य नहीं मालूम होता। उनका आकार भी इन कणों से बहुत छोटा मालूम होता है। इनको रक्ताणु कहा जा सकता है। इन रक्ताणुओं में एक वस्तु रहती है, जिसको थ्रोंबोजिन (Thrombogen) कहते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि यह वस्तु पहिले से वहाँ उपस्थित रहती है अथवा जिस समय रक्त का प्रवाह होता है, उस समय बन जाती है : किंतु प्रवाह के समय रक्ताणुओं से थ्रोम्बिन निकलती है। उसी समय रक्त के कणों और कटे हुए भाग से एक दूसरी वस्तु निकलती है, जिसको थ्रोंबोकाइनेज़ (Thrombokinase) कहते हैं। इन दोनों वस्तुओं के मिलने से थ्रोम्बिन (Thrombin) बन जाती है। रक्त में एक और दूसरी वस्तु होती है, जिसको फाइब्रिन-जन (Fibrinogen) कहते हैं। जब केलशियम के लवणों की उपस्थिति में थ्रोंबिन और फाइब्रिनजन दोनों मिलते हैं, तो फाइब्रिन बन जाता है। यह फाइब्रिन और रक्त-कण मिलकर रक्त का जमा हुआ भाग बना देते हैं। इस प्रकार रक्त जमकर कटे हुए स्थान के मुँह को बंद कर देता है और रक्त बहना बंद हो जाता है।

शरीर में जो बहुत-से रोगों के जीवाणु पहुँचते हैं, वे केवल रोग ही नहीं किंतु कुछ विप भी उत्पन्न करते हैं। रक्त इन विपों का भी नाश करता है। इनको नष्ट करने के लिये वह ऐसी वस्तु बनाता है, जो इन विपों के बिलकुल प्रतिकूल होती है। विपस्य विपमौपधम् के अनुसार रक्त उन विपों का विप ही से नाश करता है। आजकल बहुत-से रोगों को इंजेकशन के द्वारा जो चिकित्सा की जाती है, उसका यही सिद्धांत है।

रोग-क्षमता—रोग-क्षमता का अर्थ है शरीर की रोग को रोकने अथवा रोग-निवारण की शक्ति। शरीर में यह अद्भुत शक्ति है कि वह साधारणतया अपने को रोग से मुक्त रखता है। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, रक्त बहुत-से साधनों से रोग के जीवाणुओं का नाश करता है। पहिले तो शरीर के रासायनिक साधन ही जीवाणुओं का नाश करते हैं। आमाशय का अम्ल इन जीवाणुओं का नाश करता है। अंत्रियों में कुछ ऐसे जीवाणु रहते हैं, जिनसे शरीर को लाभ होता है। वह कुछ ऐसी वस्तुएँ बनाते हैं, जो रोगोत्पादक जीवों का नाश करती हैं।

यदि हमारे शरीर के सब भागों की सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा परीक्षा हो, तो प्रत्येक अंग में बहुत-से रोगों के जीवाणु पाए जायँगे। हमारे चर्म पर कोई अस्सी प्रकार के जीवाणु पाए जाते हैं। हमारे गलों में कम-से-कम ६ प्रकार के जीवाणु मिलते हैं, यदि यंत्र द्वारा फुस्फुस और गले से निकले हुए मल की भली भाँति परीक्षा की जाय, तो हममें से बहुतों के शरीर में, जिनका स्वास्थ्य बहुत उत्तम है और सर्व प्रकार के रोगों से मुक्त है, राजयक्ष्मा (Tuberculosis) के जीवाणु उपस्थित मिलेंगे। यह रोगोत्पादक जीवाणु सर्वत्र विद्यमान हैं। फिर यह

किस प्रकार होता है कि हम इतने भयंकर जीवों के बीच में रहते हुए भी इन सबों से बचे रहते हैं, और अपना स्वास्थ्य ठीक रख सकते हैं। इसका क्या कारण है कि दो मनुष्यों में से, जो समान दशाओं में रह रहे हैं, एक रोग-ग्रस्त हो जाता है और दूसरा नहीं होता ?

इसका उत्तर हम इस प्रकार देते हैं कि एक मनुष्य के शरीर में दूसरे की अपेक्षा अधिक रोग-क्षमता है। उसमें रोग को निवारण करने की शक्ति अधिक है। उसके शरीर में ऐसी वस्तुएँ बहुत हैं, जो रोग के जीवों को बेकाम कर सकती हैं। यह एक साधारण अनुभव है कि जिस मनुष्य को टाइफाइड (आंत्रज्वर) का एक आक्रमण हो चुकता है, उसको दूसरा आक्रमण नहीं होता। यदि होता भी है, तो बहुत हलका। संभव है कि इस सिद्धांत के विरुद्ध कुछ उदाहरण मिल जायँ; किंतु वे बहुत नहीं होंगे। साधारणतया यही देखा जाता है कि इस रोग का एक आक्रमण मनुष्य को फिर से रोगग्रस्त नहीं होने देता। जब चेचक का टीका लगाते हैं, तो उससे भी यही होता है। टीके से रोग का हलका-सा आक्रमण होता है। उससे मनुष्य के शरीर में कुछ ऐसी वस्तुएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो यदि रोग के जीवाणु फिर से शरीर में प्रवेश करते हैं, तो वे इन जीवाणुओं को अपना काम नहीं करने देतीं अथवा उनका नाश कर देती हैं।

जीवाणुओं से उत्पन्न होनेवाले जितने भी रोग हैं, उन सबके संबंध में यही सत्य है। उनके लिये जो नाना भाँति के इंजेकशन दिए जाते हैं, उन सबका प्रयोजन शरीर में रोग-क्षमता स्थापित करना होता है। प्रत्येक रोग को निवारण करने के लिये विशेष वस्तुएँ होती हैं, जो केवल उसी रोग को निवारण कर सकती

है। रोग को रोकने के लिये जो इंजेक्शन दिए जाते हैं, उनमें रोगोत्पादक जीवाणु ही, जिनका विष विशेष क्रियाओं व रासायनिक वस्तुओं द्वारा कम कर दिया जाता है, शरीर में प्रविष्ट किए जाते हैं। इससे शरीर इन जीवाणुओं को नष्ट करने के लिये कुछ वस्तुएँ उत्पन्न करता है। वास्तव में इन वस्तुओं को उत्पन्न करनेवाला रक्त ही होता है। इन वस्तुओं का स्वभाव कैसा होता है, इसका अभी तक पता नहीं चला है। किंतु इनका गुण इन जीवाणुओं और उनके विष को निवारण करना होता है। इस प्रकार शरीर में रोग-क्षमता उत्पन्न होती है।

इस क्षमता को चाहे जितना बढ़ा सकते हैं। प्रथम बार जीवाणु व विष की थोड़ी ही मात्रा शरीर में प्रविष्ट करने से शरीर में कुछ खलबली-सी पड़ जाती है। कुछ ज्वर हो आता है, उस स्थान पर जहाँ जीवाणु प्रविष्ट किए गए हैं, कुछ दरद भी होता है। ज्वर होने का कारण यह है कि शरीर में एक बाहर की वस्तु भेजी गई है, जो स्वाभाविकतया शरीर के भीतर नहीं रहती। अतएव शरीर उसको एक बाह्य वस्तु जानकर बाहर निकालने व नाश करने का प्रयत्न करता है। इसी से ज्वर होता है।

ऐसा करने में शरीर ऐसी वस्तुओं को उत्पन्न करता है, जो उन प्रविष्ट की हुई वस्तुओं के प्रभाव को न बढ़ने दें। और अंत में ऐसा ही होता है। ज्वर इत्यादि के जाने के पश्चात् क्षमता स्थापित हो जाती है। यदि धीरे-धीरे उस वस्तु की मात्रा को, जो पहले प्रविष्ट की गई थी, बढ़ाते जायँ, तो अंत में हम बहुत अधिक मात्रा प्रविष्ट कर सकेंगे। रोग को अच्छा करने के लिये जिस वस्तु का इंजेक्शन दिया जाता है, वह ऐसे जंतुओं के रक्त से प्राप्त की जाती है, जिनमें बहुत अधिक क्षमता स्थापित कर दी गई है। टिटेनस

(Tetanus) व डिप्थीरिया (Diphtheria) के रोगियों को ऐसे ही पशुओं के रक्त के सीरम का इंजेक्शन दिया जाता है, जिनके शरीर में टिटेनस के विरुद्ध क्षमता स्थापित की जा चुकी है।

सीरम (Serum) —यदि साधारणतया इन रोगों के जीवों को किसी पशु के शरीर में प्रविष्ट कर दें, तो वह मर जायगा; किंतु यदि प्रथम बार जीवाणुओं की बहुत थोड़ी मात्रा को प्रविष्ट करें और फिर उसको धीरे-धीरे बढ़ाते जाय, तो पशु की मृत्यु न होगी। वरन् उनके शरीर में असीम क्षमता उत्पन्न हो जायगी। इन वस्तुओं को, जिनको सीरम कहते हैं, इस प्रकार बनाते हैं कि पहले उस विष की व जीवाणुओं की, जिनका सीरम बनाना है, घातक-मात्रा मालूम करते हैं। 'घातक-मात्रा' वह है, जिससे कोई पशु मर जाय। स्पष्ट है कि प्रत्येक पशु के लिये घातक-मात्रा भिन्न होगी। जिस मात्रा को एक घोड़ा सहन कर सकता है, उसको मनुष्य सहन नहीं कर सकता। जिसको मनुष्य सहन कर सकता है, उसको ख़रगोश नहीं सह सकता। इस प्रकार प्रत्येक पशु के लिये घातक-मात्रा भिन्न होती है।

जिस पशु से सीरम बनाना होता है, उसके शरीर में प्रथम जीवाणुओं की घातक-मात्रा से बहुत कम मात्रा प्रविष्ट करते हैं। इससे कदाचित् कुछ ज्वर इत्यादि आता है, किंतु पशु उसको सहन कर लेता है। कुछ समय के पश्चात् इस मात्रा को बढ़ाते हैं। पहिले से अधिक मात्रा प्रविष्ट करते हैं। धीरे-धीरे पशु इसको भी सहन कर लेता है। इसी प्रकार प्रत्येक बार जीवाणुओं की मात्रा बढ़ाते जाते हैं, यहाँ तक कि कई सौ घातक-मात्राएँ एक बार में प्रविष्ट करने पर भी पशु पर कोई विशेष प्रभाव नहीं होता। इस प्रकार पशु के शरीर में इतनी क्षमता उत्पन्न कर दी जाती है कि वह विष

की बहुत अधिक मात्रा को सहन कर सकता है। ऐसे पशु के शरीर से कुछ रक्त निकाल लिया जाता है और उससे सीरम अलग कर लेते हैं। रोगों में इस सीरम का इंजेक्शन दिया जाता है।

वैक्सीन (Vaccine) वैक्सीन और सीरम की क्षमता दो प्रकार की होती है। वैक्सीन केवल जीवाणुओं का एमल्शन होता है, जिनकी तीव्रता व विष भिन्न-भिन्न साधनों द्वारा कम कर दिया गया है। इसको शरीर में प्रविष्ट करने पर शरीर इनसे युद्ध करने के लिये स्वयं अपनी सेना तैयार कर लेता है। ज्यों-ज्यों वैक्सीन की मात्रा बढ़ाते हैं, त्यों-त्यों सेना भी अधिक बनती है। इस प्रकार क्षमता उत्पन्न हो जाती है। ऐसी क्षमता को सक्रिय क्षमता (Active Immunity) कहते हैं। सीरम की क्षमता निष्क्रिय (Passive Immunity) है।

यह क्षमता का उत्पन्न करना व उन वस्तुओं को बनाना, जो शरीर को रोग से मुक्त रक्खे, रक्त ही का काम है। हम देख चुके हैं कि कितने भिन्न-भिन्न और विचित्र साधनों द्वारा रक्त शरीर की रक्षा करता है। किसी भी अंग में कुछ विकार होने ही से तुरंत अपनी सेना दौड़ा देता है। फूस के ढेर में से एक सुई का ढूँढ़ निकालना कदाचित् सहज है, किंतु शरीर में किस स्थान पर जीवाणु ने प्रवेश किया है, यह जानना अधिक कठिन है। किंतु रक्त के लिये यह एक साधारण-सी बात है। वह इस बात में किसी प्रकार का कष्ट अनुभव नहीं करता।

पहले कहा गया है कि यह प्रकृति का नियम है कि वह अपनी बनाई हुई सब वस्तुओं की रक्षा करती है। उनका नाश होना उससे नहीं देखा जाता। मानव-शरीर को बनाने में प्रकृति ने कैसा कष्ट उठाया है और फिर बनाकर उसकी रक्षा के लिये क्या-

क्या साधन किए हैं, इन सबको भली भाँति जानने और प्रकृति के कौशल को देखने से अत्यंत आश्चर्य होता है। संसार-भर में इतनी आश्चर्य-जनक वस्तु कौन-सी है, जितना यह मानव-शरीर है—इस यंत्र का छोटे-से-छोटा पुर्ज़ा अपने स्थान से नहीं हटाया जा सकता। किसी का स्थान-परिवर्तन नहीं किया जा सकता। जो जिस स्थान पर है, वह वहीं ही के लिये उपयुक्त है, वह किसी दूसरे स्थान पर नहीं रक्खा जा सकता। प्रत्येक पुर्ज़ा स्वयं अपने छोटे-मोटे विकारों को ठीक कर सकता है, जिसके लिये उसको किसी एंजिनियर की आवश्यकता नहीं होती।

प्रकृति ने इस अद्भुत, असीम, अगाध यंत्र को बड़े परिश्रम के पश्चात् बनाया है। असंख्य प्रयोगों के पश्चात् यह यंत्र बन सका है। इन प्रयोगों की कथा बड़ी लंबी-चौड़ी है। समुद्र के जल में, पृथ्वी की प्राचीन चट्टानों में, वायु-मंडल में, पर्वतों में, नाना भाँति के स्वरूपों में इन प्रयोगों की कथा लिखी हुई है। बुद्धिमान् लोग इन अद्भुत लेखों को पढ़ने का प्रयत्न करते हैं।

श्वास-संस्थान

वायु और जल, ये दो वस्तुएँ संसार की अन्य सब वस्तुओं से मनुष्य के जीवन के लिये अधिक आवश्यक हैं। ऑक्सीज़न और नाइट्रोजन दो गैसों का मिश्रण वायु-संसार के सब प्राणियों के लिये जीवन देनेवाला है। जैसा भू-गर्भ-वेत्ता हमें बताते हैं, अपने इस स्वरूप में आने से पूर्व पृथ्वी जलती हुई प्रचंड उष्णतावाली गैसों का एक समूह थी, जो आकाश में भ्रमण कर रहा था। उसमें सब प्रकार की गैसें थीं, लोह गैस-रूप में था, केलशियम, पोटाशियम, सिलिका इत्यादि अपने गैस-रूप में उपस्थित थे। हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, कार्बन, ऑक्सीज़न गैसें भी वहाँ उपस्थित थीं। धीरे-धीरे यह गैस ठंडी होती गई और इन सबों ने जमकर २५००० मील के व्यास का एक गोला बना दिया, जिस पर हम रहते हैं और जो पृथ्वी के नाम से पुकारा जाता है। भाग्य से सारा ऑक्सीज़न और नाइट्रोजन ठोस स्वरूप में नहीं आया। वह गैस ही के रूप में रहा। हाइड्रोजन और ऑक्सीज़न ने मिलकर एक तरल रूप धारण कर लिया, जिसने सहस्रों प्रकार के जीवों को धारण करके उनको

जीवन-दान दिया। ऑक्सीज़न और नाइट्रोजन ने मिलकर वायु बना दी, जिसके बिना संसार के किसी प्राणी का जीवन नहीं रह सकता।

जल और वायु जीवन के लिये दोनों ही आवश्यक हैं। वायु के बिना जल से कुछ काम नहीं चल सकता, क्योंकि वायु जल में मिलकर उन जीवों का पोषण करती है, जो जल के भीतर रहते हैं। प्रकृति जल के बिना जीवन-मूल प्रोटोप्लाज़्म को नहीं बना सकती थी। प्रोटोप्लाज़्म बनने के बाद बिना ऑक्सीज़न के जीवित नहीं रह सकता था। प्रोटाप्लाज़्म सदा वायु से ऑक्सीज़न लिया करता है, जिसकी सहायता से उसके भीतर रासायनिक क्रियाएँ होती हैं। यह वायु से ऑक्सीज़न ग्रहण करना ही श्वास-कर्म है। वृक्षों में भी श्वास-कर्म होता है। छोटे-छोटे जीव जो बिना यंत्र के देखे नहीं जा सकते, उनमें भी श्वास-कर्म होता है। जो एक-सेलीय जीव हैं उनको भी श्वास लेना आवश्यक होता है।

किंतु उनके और हमारे श्वास-क्रिया में भेद है। उनका शरीर केवल एक ही सेल द्वारा निर्मित है, जो जीवन के सब आवश्यक कार्य करता है। यह वायु से ऑक्सीज़न को सोख लेता है और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड को दे देता है। वह सेल वायु अथवा जल में रहता है। अतएव उसका सारा शरीर वायु को ग्रहण कर लेता है। ज्यों-ज्यों विकास बढ़ता गया है और उच्च श्रेणी के जीव बनते गए हैं, त्यों-त्यों विशेष कार्य के लिये विशेष अंगों की रचना करनी पड़ी है। श्वास-कर्म करने के लिये भी विशेष अंग बनाए गए हैं। जो जल में रहनेवाले जीव हैं, उनके श्वास लेनेवाले अंगों को गलफड़ा कहा जाता है और जो उच्चश्रेणी के जंतु हैं, उनमें फेफड़ों व फुस्फुस के द्वारा यह काम होता है।

मछली और जल के भीतर रहनेवाले दूसरे जीवों में श्वास-कर्म

बड़ी विचित्रता से होता है। इन जंतुओं के गले में दोनों ओर दो गलफड़े होते हैं। एक ओर से जल उनके भीतर आता और दूसरी ओर से निकल जाता है। इन गलफड़ों में बहुत-सी केशिकाएँ रहती हैं, जिनमें धमनियों के द्वारा रक्त आता है। जिस प्रकार शरीर का अशुद्ध रक्त हृदय के द्वारा हमारे फुस्फुसों में जाता है और वहाँ शुद्ध होता है। उसी प्रकार इन जंतुओं में भी शरीर का अशुद्ध रक्त गलफड़ों में जाता है, जहाँ गैसों का परिवर्तन होता है। जहाँ हम वायु से ऑक्सीज़न ग्रहण करते हैं, यह पशु जल में सम्मिलित वायु से सारी ऑक्सीज़न ग्रहण करते हैं। कुछ पशु ऐसे हैं, जो समय-समय पर श्वास लेने के लिये जल के ऊपर आया करते हैं।

श्वास द्वारा रक्त की शुद्धि होती है। शुद्ध वायु में ऑक्सीज़न का एक भाग होता है और नाइट्रोजन के चार भाग होते हैं। इन दोनों वस्तुओं के मिलने से वायु बनती है। इन दोनों गैसों का रासायनिक संयोग नहीं होता। इनका केवल मिश्रण होता है। श्वास के साथ हम पहले वायु को भीतर खींचते हैं और फिर बाहर निकाल देते हैं। जब वायु फुस्फुस या फेफड़ों के भीतर जाती है, तो उसमें सम्मिलित ऑक्सीज़न को रक्त ग्रहण कर लेता है और अपनी कार्बनडाइ-ओक्सा इड को वायु में मिला देता है। इसी कारण जिस वायु को हम श्वास द्वारा बाहर निकालते हैं, उसमें भीतर जानेवाली वायु की अपेक्षा ऑक्सीज़न तो कम होती है, किंतु कार्बन-डाइ-ऑक्साइड अधिक होती है। नीचे लिखे अंकों से यह भली भाँति स्पष्ट हो जायगा।

	ऑक्सीज़न,	नाइट्रोजन,	कार्बन-डाइ-ऑक्साइड
बाहर निकलनेवाली वायु	१६·०२	७९·०	४·३८
भीतर जानेवाली वायु	२०·९६	७९·०	०·०४
	—४·९४	×	+४·३४

इस प्रकार बाहर निकलनेवाली वायु में ऑक्सीज़न का भाग कम और कार्बन-डाइ-ओक्साइड का अधिक रहता है। इसका कारण यह है कि ऑक्सीज़न को फुस्फुस का रक्त ग्रहण कर लेता है और दूसरी विषैली गैस को त्याग देता है। नाइट्रोजन का भाग भीतर जानेवाली और बाहर आनेवाली, दोनों वायु में बराबर रहता है। यह गैस अधिक मेल-जोल पसंद नहीं करती। सबसे अलग ही रहती है।

चित्र नं० ४३—दाहिना और बायाँ फुस्फुस
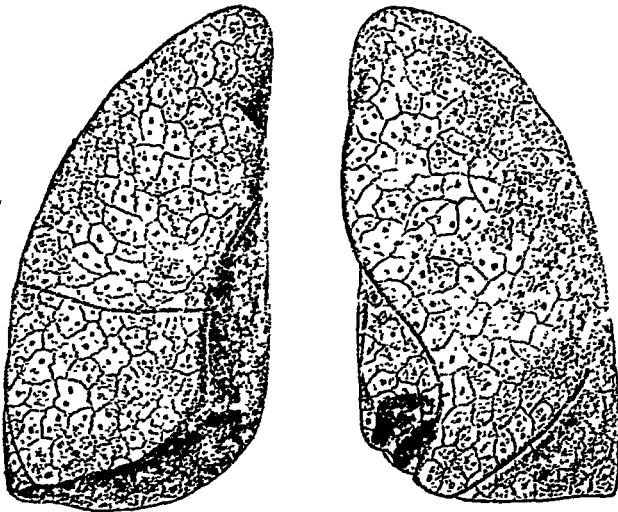
चित्र में फुस्फुस के भिन्न-भिन्न भाग स्पष्ट हैं। दाहिने फुस्फुस के तीन भाग हैं; किंतु बाएँ में केवल दो।

उ. ऊर्ध्व भाग; म. मध्य भाग; नि. निम्नभाग।

इस प्रकार रक्त की शुद्धि होती है। रक्त के विषैले पदार्थ बाहर

निकल जाते हैं और रक्त को उत्तम बनानेवाली वस्तु उसमें मिल जाती है। इसी वस्तु के ऊपर रक्त का सारा गुण और उसकी क्रिया निर्भर करती है। शरीर की सारी क्रियाओं के लिये इस वस्तु ऑक्सीज़न की आवश्यकता होती है और रक्त ऑक्सीज़न को लेजा कर सब अंगों को देता है।

वह स्थान जहाँ रक्त की शुद्धि होती है फुस्फुस है। प्रकृति ने फुस्फुसों को इस प्रकार बनाया है कि वह इस कार्य को अत्यंत दक्षता के साथ कर सकते हैं। यद्यपि उनके सहायक भी कुछ अंग उपस्थित हैं; किंतु इस कर्म का मुख्य भार उन्हीं पर है। यह शरीर के वक्ष में दाहिने और बाएँ, दोनों ओर रहते हैं। इन दोनों के बीच में हृदय इसी भाँति रहता है 'जिमि दशनन महँ जीभ बिचारी'। सचमुच हृदय की भी ऐसी ही दशा होती है। दोनों ओर से फुस्फुस उसे दबाते हैं। नीचे से आमाशय, जब कभी अधिक आदर-सत्कार ग्रहण कर लेता है, तो हृदय पर अपना भार रख देता है, जिससे हृदय उत्तेजित होकर उसको हटाने का प्रयत्न करने लगता है।

इन फुस्फुसों की बनावट मधुमक्षिका के छत्ते की भाँति होती है। जिस प्रकार छत्ता अनेक कोठरियों से बना होता है, उसी भाँति फुस्फुस सहस्रों वायु-कोष्ठों से बना होता है, जिनमें वायु-प्रणाली से वायु आती रहती है। यह वायु-कोष्ठ एक दूसरे से बहुत पतली भित्तियों व दीवारों के द्वारा भिन्न रहते हैं। ये दीवारें एक प्रकार की कला व झिल्ली से बनी होती हैं। इनकी मोटाई बहुत ही कम होती है। इस दीवार में अनेक रक्त नलिकाएँ रहती हैं। वास्तव में ये सब केशिकाएँ होती हैं। इन कोशिकाओं की संख्या बहुत अधिक होती है, जैसा कि रक्त का वर्णन करते समय कहा गया था। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वायु-कोष्ठ कितने अधिक होंगे,

जिनकी भित्तियों में ये सब केशिकाएँ स्थित हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक भित्ति में केशिकाओं का केवल एक ही परत रहता है। भित्तियाँ इतनी पतली होती हैं कि उनमें अधिक केशिकाएँ नहीं आ सकतीं।

भित्तियों के पतली होने का भी एक बहुत बड़ा कारण है। उनके अधिक पतले होने से उनके द्वारा वायु-परिवर्तन हो सकता है। वायु-कोष्ठ में वायु रहती है और कोष्ठ की भित्तियों की केशिकाओं में रक्त का प्रवाह होता रहता है। इसी से वायु की ऑक्सीजन भित्तियों में होकर रक्त में पहुँच जाती है और रक्त की दूषित गैस भित्ति के द्वारा वायु में आकर मिल जाती है। इस प्रकार ये भित्तियाँ वायु के परिवर्तन में किसी प्रकार अवरोधक नहीं होतीं। यदि भित्तियाँ मोटी होतीं, तो यह गैस का परिवर्तन कठिन होता और फिर श्वास-कर्म ही निरर्थक हो जाता। प्रकृति ने कहीं भी भूल नहीं की है। उसने जिस वस्तु की सृष्टि की है, उसके तनिक-तनिक-से अंग को इस भाँति गढ़ा है कि उसमें कुछ भी कमी न रहने पाए, उस अंग का जो कार्य है, वह सब भाँति से पूर्ण हो।

इन फुस्फुसों के ऊपर एक प्रकार का आवरण चढ़ा रहता है, जो सौत्रिक तंतु का बना होता है। इसको अँगरेज़ी भाषा में (Pleura) कहते हैं। इसके दो परत होते हैं। एक बाहरी जो वक्षःस्थल में भीतर की ओर मांस-पेशियों और पशुकाओं से मिला रहता है और दूसरा भीतरी जो फुस्फुस के ऊपर चिपटा रहता है। ये दोनों परत वास्तव में अविछिन्न होते हैं। अर्थात् दोनों एक ही झिल्ली से निर्मित होते हैं। इन दोनों परतों का संबंध हम इस प्रकार भली-भाँति समझ सकते हैं। यदि हम एक रबड़ का बहुत बड़ा गेंद लेंवे

रबड़ की गद्दी लें जिसमें वायु भरी जा सकती है और उसे थोड़ा-सी वायु भरकर फुला दें। इसके पश्चात् उस फूले हुए रबड़ के थैले पर कोई एक ठोस वस्तु जैसे गेंद रख दें और धीरे-धीरे उसे दबाएँ जिससे वह फूला हुआ रबड़ का थैला उसके चारों ओर आ जाय, तो वह रबड़ का थैला दो परत बना देगा जिसमें से एक ठोस गेंद के चारों ओर चिपटा होगा और दूसरा ऊपर की ओर रहेगा। ठीक इसी प्रकार यह झिल्ली का आवरण भी फुस्फुस पर चढ़ा रहता है।

फुस्फुस के आवरणों के दोनों परतों के बीच में कुछ अंतर रहता है। इस स्थान में कुछ तरल वस्तु रहती है, जिसको आवरण के परतों के भीतर की कला बनाती है। यह तरल इस यंत्र का तेल है। जिस प्रकार मशीनों के चलने के लिये तेल की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार शारीरिक यंत्र के पुरज़ों के लिये भी कुछ तरल वस्तु की आवश्यकता होती है। हृदय पर जो आवरण रहता है, वह भी फुस्फुसावरण की भाँति दो परतों का बना होता है। उन परतों के बीच के स्थान में भी कुछ तरल रहता है, जो हृदय की गति को सुगमता से होने देता है। ये फुस्फुसावरण के भीतर का तरल फुस्फुसों के फैलने और संकोच करने में सहायता देता है। जब कभी आवरण में शोथ आ जाता है, तो इस तरल का बनना कम हो जाता है। इससे वक्ष में बहुत तीव्र शूल होने लगता है।

जिस मार्ग से श्वास फुस्फुस तक पहुँचता है, वह भी बड़ा विचित्र है। वायु के भीतर प्रवेश करने का मार्ग नासिका के रंध्रों से आरंभ होता है। मुख वायु का प्रवेश-द्वार नहीं है। नासिका-रंध्रों में प्रकृति ने ऐसा प्रबंध रक्खा है कि जो वायु भीतर जाय, वह स्वच्छ होकर जा सके। यदि किसी प्रकार के कण व छोटे-छोटे जंतु वायु में

मिलकर भीतर जाने का उद्योग करें, तो वह रंध्रों के बालों द्वारा रुक जाते हैं। वह बाल भीतर जानेवाली वायु को छान देते हैं। उसमें जो कुछ मोटे-मोटे कण इत्यादि होते हैं, उनको रोक लेते हैं।

नासिका के प्रांत की रचना भी बिलकुल साधारण नहीं है। इसमें कई सुरंगें और गढ़े हैं। यह सारा प्रांत एक प्रकार की श्लेष्मिक कला से ढका हुआ है, जिसमें बहुत-सी नाड़ियाँ फैली हुई हैं। यदि कुछ ठोस वस्तु जैसे कण व जंतु, रंध्र के बालों में होकर भीतर भी पहुँच जाते हैं, तो यह कला तुरंत उत्तेजित ही हो जाती है और छींकें आने लगती हैं, जिससे वह वस्तु बाहर निकल जाती है। शरीर को अस्वाभाविक पदार्थों से बचाने का यह दूसरा प्रबंध है।

वायु नासिका के द्वारा वायु-प्रणाली में प्रवेश करती है। इसके ऊपर स्वर-यंत्र रहता है। इस प्रकार वायु स्वर-यंत्र में होती हुई वायु-प्रणाली में जाती है और वहाँ से नलिकाओं में होती हुई फुस्फुसों के वायु-कोष्टों में पहुँचती है।

यह वायु-प्रणाली जो कंठ में एक कारटिलेज के व स्वर-यंत्र के नीचे से आरंभ होती है, स्वयं कारटिलेज और सौत्रिक तंतु की बनी हुई है। इसकी लंबाई कोई ४½ इंच के लगभग होती है और ¾ से १ इंच परिधि में होती है। इसमें कारटिलेज के छल्ले रहते हैं, जो ऊपर से नीचे तक समान दूरी पर लगे रहते हैं। इन ही पर तंतु और कला लगे रहते हैं। यह छल्ले संख्या में १६ के लगभग होते हैं। इनकी रचना भी विचित्र होती है। आगे की ओर तो यह पूर्ण छल्ले होते हैं अर्थात् इनमें एक उत्तम मुद्रिका की भाँति गोलाई रहती है, किंतु पीछे की ओर से यह छल्ले कटे रहते हैं। अर्थात् यह आधे छल्ले की भाँति होते हैं, जिसका एक ओर का

स्वर-यंत्र, श्वास-प्रणाली और वायु-नलिका, जैसे सामने की ओर से दीखते हैं।

(Allen Thompson)

चित्र नं० ४४
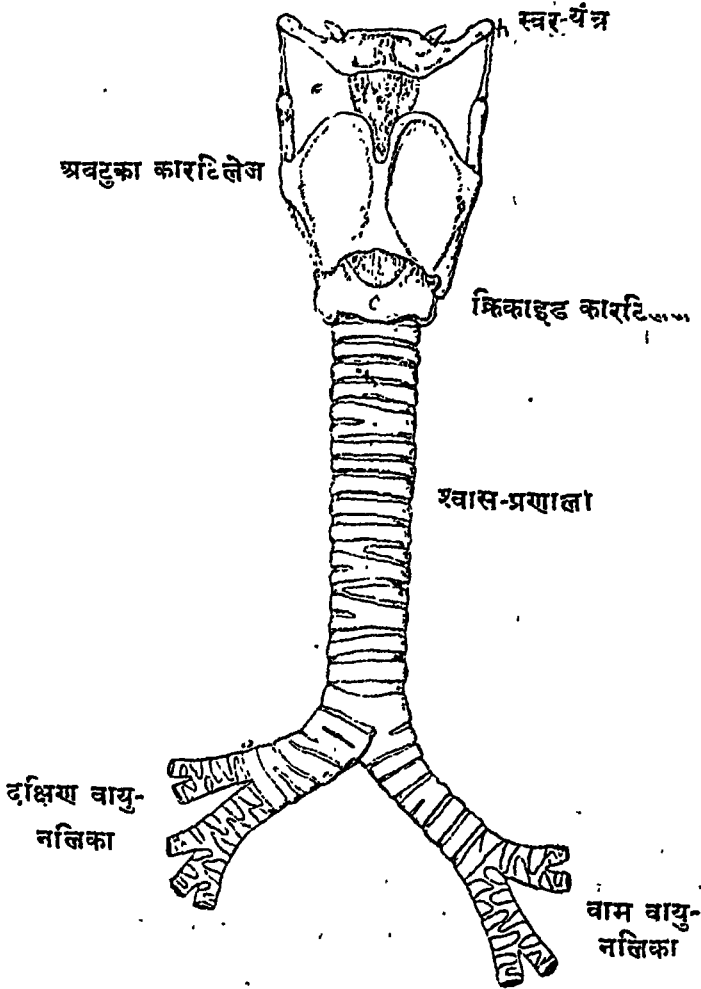
चित्र नं० ४९

स्वर-यंत्र, श्वास-प्रणाली और वायु-नलिका, जैसी पीछे से दीखती है।

(Allen Thompson)
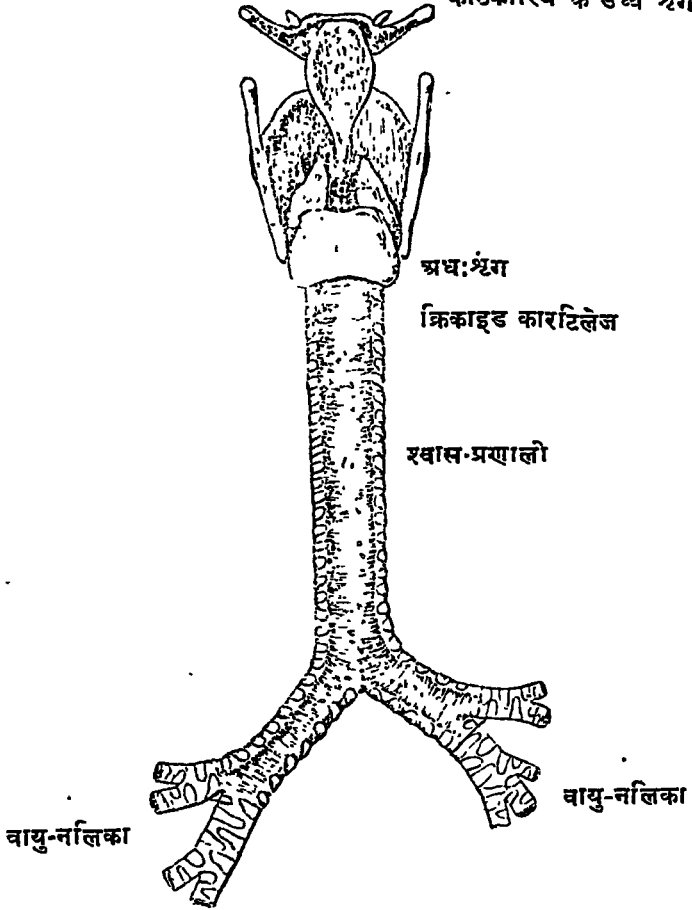
आधा भाग काट दिया गया हो। इस कारण वायु-प्रणाली की पिछली दीवार, जो सौत्रिक तंतु की बनी होती है, चपटी होती है, किंतु आगे की ओर से गोल और उभरी होती है। यह सारी प्रणाली भीतर की ओर एक कला से मढ़ी रहती है, जिसकी रचना विशेष प्रकार की होती है। इस कला के सेलों के एक ओर से बाल-सदृश बहुत सूक्ष्म तार-से निकले रहते हैं, जिनको सिलिया (Cilia) कहते हैं। इन सिलियों की सदा गति होती रहती है। वायु-प्रणाली का सारा प्रांत इन सिलियों से मढ़ा रहता है। जब इनमें गति होती है, तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो एक धान के खेत की बालें वायु में लहरा रही हों। सब सिलियों की गति एक साथ और एक ही ओर को होती है।

चित्र नं० ४६ श्वास प्रणाली की सिलियामय कला।
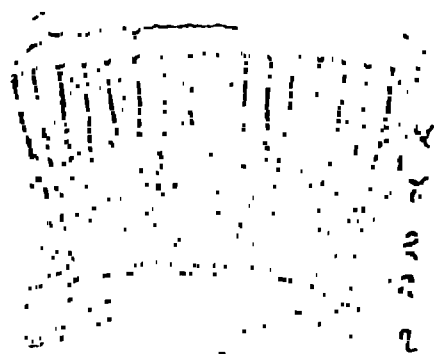
१. स्थिति-स्थापक सूत्रों का परत।
२. मूल-कला।
३. सेलों का परत जिनका आकार गोल है।
४. बीच के सेल जो लंबे हो गए हैं।
५. सबसे ऊपर के सेल जो सिलिया-मय हो चुके हैं।

(Kolliker)

जब वायु-प्रणाली में कोई भी वस्तु पहुँच जाती है, चाहे वह छोटे-से-छोटा कण ही क्यों न हो, तब इन सब सिलियों की एक साथ क्रिया आरंभ हो जाती है और वह उस वस्तु को बाहर निकाल देते हैं। जल पीते समय कभी-कभी कुछ पानी इस नलिका में चल जाता है, तो बहुत वेग से खाँसी आने लगती है। वह इन सिलियों की क्रिया ही के कारण होता है। जल के विंदु के पहुँचते ही ये उत्तेजित हो जाती हैं और जब तक उसको बाहर नहीं निकाल

चित्र नं० ४७
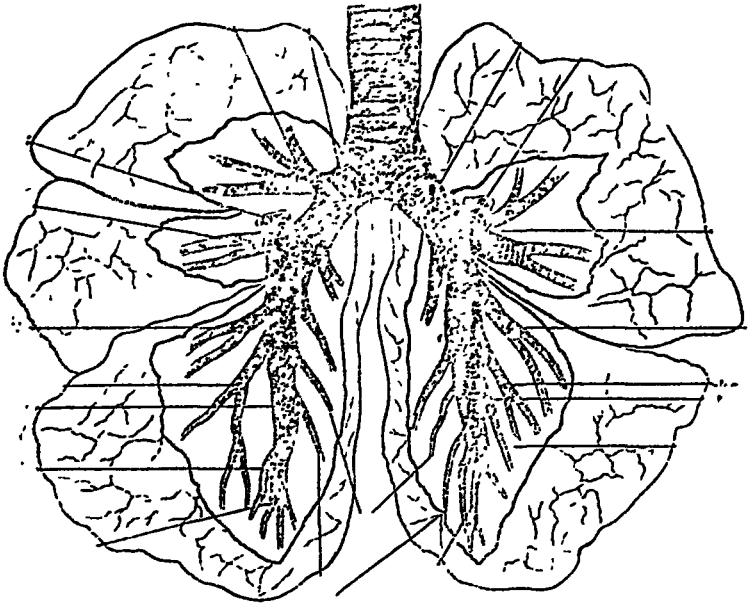
श्वास-प्रणाली ; उसका दो बड़ी नलिकाओं में भाग होना और उसमें सूक्ष्म वायु—नलिकाओं का निकलना, जो फुस्फुस के भिन्न भागों में जाती है, दिखाया गया है। (After Abbey)

देती, तब तक वह विश्राम नहीं लेतीं । सब मिलकर एक ही ओर को भीतर आई हुई वस्तु को ढकेलती हैं ।

यह वायु-नलिका अंत में दो मुख्य भागों में विभक्त होती है । प्रत्येक भाग एक फुस्फुस को जाता है । फुस्फुस के भीतर फिर प्रत्येक भाग से शाखाएँ निकलती हैं । ये शाखाएँ फिर छोटी-छोटी शाखाएँ देती हैं, जिनसे और भी छोटी शाखाएँ निकलती हैं । इस प्रकार शाखाएँ-प्रशाखाएँ निकलती जाती हैं । यदि इस वायु-नलिका-समूह को फुस्फुस से निकाल लिया जाय, तो वह एक वृक्ष के समान दिखाई देगा । तने से शाखाएँ, शाखाओं से छोटी शाखाएँ, इन छोटी शाखाओं से टहनियाँ, टहनियों से पत्तियों के डंठल निकलते दिखाई देंगे । वायु-कोष्ठ को ठीक एक पत्ती का स्थान दिया जा सकता है । इन सबको मिलाकर अंगरेज़ी में Bronchial Tree कहा जाता है ।

इन शाखाओं और प्रशाखाओं की रचना मूल-नलिका की जैसी होती है । वह सौत्रिक तंतु की बनी होती हैं, जिनमें कारटिलेज के आधे छल्ले रहते हैं । किंतु जो बहुत छोटी शाखाएँ होती हैं, उनमें ये छल्ले नहीं होते ; वह कोरे सौत्रिक तंतु ही की बनी होती है ।

इस प्रकार प्रत्येक वायु-कोष्ठ में एक शाखा जाती है, जो वहाँ वायु ले जाती है । इस शाखा का संबंध मूल-नलिका से रहता है । इन सब नलिका और शाखाओं में पेशियाँ रहती हैं । जो बहुत छोटी नलिका है, वह केवल पेशी और तंतु की बनी होती है ।

फुस्फुस कई भागों में विभाजित होते हैं । दाहिना फुस्फुस तीन भागों का और बायाँ दो भागों का बना हुआ है । यह भाग फिर छोटे-छोटे भागों में विभाजित हो जाते हैं ।

फुस्फुस का सबसे छोटा भाग 'पालिका' कहलाता है । वास्तव

में प्रत्येक पालिका एक पूर्ण फुस्फुस होता है। क्योंकि उसमें एक वायु नलिका रहती है, वायु-कोष्ठ होते हैं और वह स्वयं श्वास—

चित्र नं० ४८

छोटी छोटी पालिका व वायुकोष्ठ-समूह

१.१—वायु-कोष्ठ-समूह; २.२ वायु-कोष्ठ; ३.३ वायु प्रणालिका
(Kolliker)

कर्म करता है। फुस्फुस इन पालिकाओं अथवा यों कहना चाहिए कि वायु-कोष्ठों के संग्रह का नाम है और श्वास-कर्म प्रत्येक वायु-कोष्ठ की क्रिया का फल है।

फुस्फुस की इस विचित्र रचना का बहुत बड़ा कारण है। थोड़े से स्थान में गैस-परिवर्तन के लिये इतना अधिक प्रबंध कर दिया गया है कि यदि उस सारी कला को जिसके द्वारा वायु-परिवर्तन होता है शरीर से बाहर निकालकर बिछावें तो एक दस गज़ चौड़े और १२ गज़ लंबे कमरे का फ़र्श उससे भली भाँति ढक जायगा। इसी

लिये श्वासक कला को वायु-कोष्ठों के रूप में इस प्रकार फैलाया गया है कि स्थान भी कम-से-कम लगे और उससे अधिक-से-अधिक लाभ भी हो। यदि श्वास-कर्म के लिये एक साधारण अंग बनता तो वह १२ गज़ लंबा और दस गज़ चौड़ा होता। तब अवश्य ही मनुष्य का कोई दूसरा स्वरूप होता। प्रकृति सदा इस प्रकार से काम करती है कि थोड़े से स्थान से वह सबसे अधिक लाभ उठाती है। शरीर के सारे अंगों में इसका उदाहरण मिल सकता है। अस्थियों की रचना पहिले ही बताई जा चुकी है। मस्तिष्क का रचना भी इसी प्रकार है। कहीं गड्ढे हैं, कहीं उभार हैं। यदि मस्तिष्क एक सपाट लंबा-चौड़ा स्थान होता, तो न मालूम उसके लिये भी कितने स्थान की आवश्यकता होती। अंत्रियों की भी यही दशा है। आगे चलकर बतलाया जायगा कि किस प्रकार थोड़े से स्थान से प्रकृति वहाँ भी इतना काम कर लेती हैं।

जिस प्रकार हृदय के पास रक्त रहते हुए भी वह अपना भोजन अलग ही प्राप्त करता है, उसी प्रकार फुस्फुस भी उस रक्त से, जो उसके पास शुद्ध होने के लिये आता है, अपना पोषण ग्रहण नहीं करता। हृदय जितना रक्त फुस्फुसों के पास भेजता है, वह उतना ही शुद्ध करके लौटा देते हैं। उनको पोषण करने के लिये दूसरे ही स्थान से अन्य नलिकाओं द्वारा रक्त आता है जो बृहद् धमनी की शाखाएँ हैं।

श्वास-कर्म में न केवल फुस्फुस ही काम करते हैं; किंतु बाहर की मांसपेशी जो पर्शुकाओं पर लगी हुई हैं वे भी भाग लेती हैं। ये मांसपेशी जब बाहर की ओर फैलती हैं, तब फुस्फुस भी फैलते हैं। और उस समय वायु का भीतर प्रवेश होता है। जिस समय पेशियाँ भीतर की ओर संकोच करती हैं उस समय फुस्फुस दब जाते हैं।

उनके भीतर का स्थान कम होजाता है और भीतर की वायु बाहर निकल आती है। इन पेशियों के अतिरिक्त उदर की पेशियाँ भी श्वास-कर्म में सहायता देती हैं। सबसे बड़ी पेशी जो इस कर्म में बहुत भाग लेती है और जिसको बहुत कुछ इस क्रिया का आधार कह सकते हैं वह वक्ष और उदर के बीच में स्थित है। उसको वक्षोदर-मध्यस्थ-पेशी अथवा महा-प्राचीरा पेशी (Diaphragm) कहा जाता है। वह दोनों प्रांतों के बीच में एक खुले हुए छाते की भाँति फैली हुई है। वक्ष-प्रांत का फ़र्श और उदर प्रांत की छत उससे बनते हैं। जब यह पेशी नीचे की ओर संकोच करती है तो फुस्फुसों को नीचे की ओर घसीटती है जिससे वायु उनके भीतर प्रवेश करती है। जब वह ऊपर को ओर को फैलती है तो फुस्फुस दबते हैं जिससे भीतर की वायु बाहर निकल जाती है।

उच्छ्वास और प्रश्वास—इस प्रकार वायु फुस्फुस के भीतर जाती और बाहर आती है। एक मिनट में १८ बार हम श्वास लेते हैं अर्थात् वायु को भीतर खींचते और बाहर निकालते हैं। इस क्रिया का प्रथम भाग श्वास-कर्म की जो मांस-पेशियाँ हैं उनके सकोच से होता है। दूसरा भाग अर्थात् वायु का बाहर निकलना व फुस्फुसों का फिर उनकी पुरानी दशा में लौट आना स्वयं उनका ही कार्य है। वैज्ञानिक अपने प्रयोगों द्वारा इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि श्वास-कर्म का प्रथम भाग अर्थात् उच्छ्वास, वायु को भीतर ग्रहण करना, मांस-पेशियों की सहायता से होता है। यह वक्ष की पेशी-पर्शुका इत्यादि को बाहर की ओर खींचते हैं और इससे वक्ष के भीतर का स्थान फैलता है जिससे फुस्फुस फैलते हैं। अतएव वायु भीतर प्रवेश करता है। जब लोहार अपनी धौंकनी को फैलाता है उस समय

वायु भीतर प्रवेश करता है। उच्छ्वास में भी ऐसा ही होता है। किंतु साधारण प्रश्वास में मांस-पेशियों की क्रिया नहीं होती। यदि हम लोहार का धौंकनी को खोलकर फिर छोड़ दें तो वह स्वयं अपने ही बोझ से बंद हो जायगी और उसकी सारी वायु बाहर निकल जायगी। इसी प्रकार एक बार फैलाने के पश्चात् फुस्फुस स्वयं अपनी पुरानी दशा में लौट आता है। किंतु इससे फुस्फुस की सारी वायु बाहर नहीं निकलती।

जब हम ज़ोर के साथ वायु बाहर निकालते हैं उस समय कुछ पेशी जो उच्छ्वासक पेशियों से भिन्न होती हैं काम करती हैं। यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है कि यदि साधारणतया श्वास के बाहर निकलने के पश्चात् हम फिर भी वक्ष को संकुचित करते हैं तो फिर भी कुछ वायु बाहर निकलती है। ऐसा करने में प्रश्वासक पेशी अवश्य काम करती हैं। किंतु साधारण अवस्था में प्रश्वास फुस्फुस के अपने पूर्व दशा में लौट आने के गुण का परिणाम होता है।

श्वास-कर्म—साधारण अवस्था में हम एक मिनट में १८ बार श्वास लिया करते हैं। किंतु यदि आवश्यकता पड़ती है तो इससे कहीं अधिक बार फुस्फुस श्वास ले सकता है। जब हम व्यायाम करते हैं या दौड़ते हैं तो श्वास जल्दी-जल्दी आने लगता है। जिन दशाओं में रक्त को अधिक ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है अथवा एक बार में, रक्त में उतनी ऑक्सीजन नहीं पहुँच सकी जितनी कि पहुँचनी चाहिए, उन सब दशाओं में श्वास-क्रिया अधिक वेग से होने लगती है। जितने भी फुस्फुस के ऐसे रोग हैं, जिनमें फुस्फुसों की कार्य-शक्ति घट जाती है, जैसे निमोनिया, राज-यक्ष्मा इत्यादि, उन सब रोगों में श्वास-कर्म अधिक वेग से होता

है। निमोनिया में एक मिनट में ४० और ५० वार तक श्वास चल सकता है। जो मनुष्य वेलून इत्यादि में बैठकर वहुत ऊपर जाते हैं उनको अधिक वार श्वास लेने की आवश्यकता पड़ती है। प्रकृति ऐसी दशाओं में अंग के पूर्ण ऑक्सीजन ग्रहण करने की शक्ति की कमी को अधिक वार वायु भीतर भेजकर पूरा करने का उद्योग करती है। निमोनिया इत्यादि रोगों में फुस्फुस का भाग विकृत हो जाता है। उसका रोग-ग्रस्त भाग ऑक्सीजन ग्रहण नहीं कर सकता। इस कारण शरीर को उस गैस का जितना भाग मिलना चाहिए, उतना नहीं मिलता। इस कमी को पूरा करने के लिये प्रकृति फुस्फुसों से, अधिक वेग से श्वास-कर्म करवाती है।

साधारणतया श्वास और नाड़ी की निष्पत्ति १:४ है। हम जितने समय में एक बार श्वास लेते हैं, उतने समय में नाड़ी चार वार चलती है।

श्वास-कर्म का कारण—श्वास-केंद्र—किंतु यह श्वास-कर्म स्वयं किस प्रकार होता रहता है? इसका कारण क्या है? यह स्मरण रहे कि शरीर की दूसरी क्रियाओं की भाँति श्वास-कर्म भी संचालक के अधीन है। मस्तिष्क अपने आधिपत्य से वाहर किसी को नहीं जाने देता। वही फुस्फुस से भी काम करवाता रहता है। सुषुम्णा के सबसे उच्च भाग में एक केंद्र है, जो श्वास-केंद्र कहलाता है। वह सदा फुस्फुस और वक्ष की मांस-पेशियों को सूचना भेजा करता है, और उसी के अनुसार कार्य होता रहता है। यदि हम चाहें, तो कुछ समय के लिये श्वास-गति को घटा या बढ़ा सकते हैं या रोक भी सकते हैं; किंतु ज्यों ही हम उस विचार को छोड़ देते हैं, श्वास फिर पहले ही की भाँति चलने लगता है। इस प्रकार यह क्रिया हमारी इच्छा के आधीन नहीं है।

यह श्वास-केंद्र, जब आवश्यकता होती है, श्वास-गति को बढ़ा देता है। इसका निर्णय करना कि कब इसकी आवश्यकता है और कब नहीं, उसने स्वयं अपने हाथ में रक्खा है। सारे शरीर से इस केंद्र को सूचनाएँ मिला करती हैं, ख़ास कर चर्म से। उसी के अनुसार श्वास-गति में घटा-बढ़ी हुआ करती है।

रासायनिक कारण—इस केंद्र के अतिरिक्त रक्त की रासायनिक अवस्था का श्वास-कर्म में बहुत बड़ा भाग रहता है। रासायनिक अवस्था से रक्त में उपस्थित कार्बन-डाइ-ऑक्साइड और ऑक्सीज़न की मात्रा का अर्थ है। जब रक्त में विषैली गैस की अधिक मात्रा होती है, तो श्वास-गति बढ़ जाती है। यदि ऑक्सीजन की अधिकता होती है और दूसरी गैस की कमी, तो श्वास की गति मंदी हो जाती है। रक्त जितना अधिक दूषित होता है श्वास उतना ही शीघ्र आता है।

वैज्ञानिक यह मानते हैं कि श्वास-कर्म उत्पन्न करनेवाला मुख्य स्थान श्वास-केंद्र है। इस केंद्र से उत्तेजनाएँ श्वास पेशियों को जाती रहती हैं। उत्तेजनाएँ न केवल जाया ही करती हैं, किंतु इसमें आया भी करती हैं। श्वास-केंद्र की क्रिया का घटना व बढ़ना इन्हीं आनेवाली उत्तेजनाओं पर निर्भर करता है। जब रक्त में अशुद्धि अधिक होती है और वह रक्त मस्तिष्क में पहुँचता है, तो वह इस केंद्र की क्रिया को बढ़ा देता है। इससे अधिक उत्तेजनाएँ जाने लगती हैं और श्वास-कर्म शीघ्रता से होने लगता है। प्रत्येक बार श्वास लेते समय फुस्फुस से श्वास-केंद्र को वागस नाम की नाड़ी में होकर उत्तेजनाएँ जाया करती हैं।

क्या केंद्र स्वयं उत्तेजना उत्पन्न करता है? प्रश्न यह

उठता है कि यह केंद्र स्वयं उत्तेजनाएँ उत्पन्न करता है या यहाँ से आनेवाली उत्तेजनाएँ इस केंद्र को आनेवाली उत्तेजनाओं पर निर्भर करती हैं। अर्थात् क्या हृदय की भाँति, इस केंद्र में उत्तेजनाएँ उत्पन्न करने का गुण है ? इसके लिये प्रयोगों की आवश्यकता है। यदि इस केंद्र का संबंध दूसरे स्थानों से काट दिया जाय, जिससे कहीं से भी यहाँ उत्तेजना न पहुँच सके और उस पर भी यदि इस केंद्र से उत्तेजनाएँ आती रहें, तो अवश्य ही समझना चाहिए कि उत्तेजना उत्पन्न करना इस केंद्र ही का गुण है। इसके लिये कुछ छोटे-छोटे जंतुओं पर प्रयोग किये गए। उनके मस्तिष्क के श्वास-संबंधी भाग को सारे मस्तिष्क से भिन्न कर दिया गया। वह एक छोटे टापू की भाँति बन गया। आगम नाड़ी को भी काट दिया गया, जिससे वहाँ फुस्फुस से किसी भाँति भी कोई उत्तेजना न पहुँच सके। ऐसी दशा में भी यह केंद्र उत्तेजनाएँ भेजता रहा। कुछ महाशयों को इस पर यह आपत्ति हुई कि पेशियों से केंद्र को उत्तेजनाएँ आती थीं इसलिये पेशियों से आनेवाली नाड़ियों को भी काट दिया गया। पेशियों में क्यूरारी (Curare), जिससे पेशी शिथिल हो जाती हैं, प्रविष्ट कर दिया गया, तब भी उस केंद्र से उत्तेजनाएँ आती रहीं। इससे यही प्रमाणित होता है कि उत्तेजनाएँ उत्पन्न करने का गुण स्वयं उस केंद्र में है।

उस केंद्र पर शरीर की दशाओं का बहुत जल्दी प्रभाव पड़ता है। कई प्रयोगकर्ताओं का कथन है कि बहुत-सी संवेदनिक नाड़ियों को उत्तेजित करने से यह केंद्र उत्तेजित हो जाता है। हमारा प्रत्येक दिवस का अनुभव है कि यदि हमको अधिक क्रोध आता है, तो श्वास-गति बढ़ जाती है। यदि हमारे

शरीर पर शीतल जल पड़ता है, तो भी हम श्वास जल्दी-जल्दी लेने लगते हैं। मस्तिष्क की बहुत-सी दशाओं का भी इसी प्रकार इस पर प्रभाव पड़ता है। किंतु भिन्न-भिन्न सांवेदनिक नाड़ियों की उत्तेजना से भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ता है। किसी से केवल उच्छ्वास की गति बढ़ती है, किसी से केवल प्रश्वास का; कभी-कभी श्वास लंबे आने लगते हैं, उनकी संख्या नहीं बढ़ती, कभी संख्या घट जाती है।

यह प्रतीत होता है कि श्वास-केंद्र वास्तव में दो केंद्रों का बना हुआ है; एक उच्छ्वास और दूसरा प्रश्वास-केंद्र है। साधारणतया उच्छ्वास-केंद्र ही काम किया करता है। प्रश्वास-केंद्र केवल उसी समय काम करता है, जिस समय ज़ोर के साथ श्वास बाहर निकालना होता है।

अतएव यह केंद्र रात-दिन अपना काम करता रहता है। चाहे हम सोएँ या जागें, वह प्राण-वायु का सदा संचार किया करता है। न केवल यही, किंतु वह शरीर की सब आवश्यकताओं का ध्यान रखता हुआ कार्य करता है। श्वास-कर्म इससे उत्पन्न हुई उत्तेजनाओं पर निर्भर करता है, जिनको उत्पन्न करने की शक्ति स्वयं केंद्र में है। सारे शरीर से इस केंद्र के पास सूचनाएँ पहुँचती रहती हैं। कार्बन-डाइ-ऑक्साइड केंद्र को उत्तेजित करनेवाली मुख्य वस्तु है। इसके प्रमाण मात्रा के कम होने से केंद्र की क्रिया भी कम हो जाती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि फुस्फुस बहुत-सी पालिकाओं के बने हुए हैं। यह पालिका वायु-कोष्ठों से निर्मित हैं। वस्तुतः यह वायु-कोष्ठ ही फुस्फुस के मुख्य भाग हैं; क्योंकि वायु और रक्त की गैसों का परिवर्तन यहीं होता है। वह पृष्ठ जिसके द्वारा यह क्रिया होती है, बहुत बड़ा है। पहिले कहा जा चुका है कि यदि

उसको निकालकर बिछाया जाय, तो १० गज़ × १२ गज़ बड़े कमरे का फ़र्श बन जायगा। यह अनुमान किया गया है कि इतनी बड़ी श्वासक-कला ७००,०००,००० वायु-कोष्ठों से मिल-कर बनी है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि ३,३०० वर्ग गज़ रक्त के लाल कण १२० वर्ग गज़ की सतह पर रक्त की सहस्रों मील लंबी नदी पर, एक-एक करके वायु के संपर्क में आते हैं। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि जितने समय में फुस्फुस की सब केशिकाएँ तीस बार रक्त से भरती हैं, उस समय में ३,३०० वर्ग गज़ के लाल कणों को रक्त की २,००,००० मील लंबी नदी में ऑक्सीजन लेने और कार्बन-डाइ-ओक्साइड देने का अवसर मिलता है। चौबीस घंटे में जो वायु मनुष्य के फुस्फुसों के भीतर आती और बाहर जाती है, उसका आयतन ६,८०,००० घन इंच माना गया है। यह संख्याएँ मनुष्य को भ्रम में डालनेवाली हैं। वह केवल इस बात का उदाहरण हैं कि प्रकृति अपने अभिप्राय पूर्ण करने के लिये किन-किन अद्भुत साधनों का प्रयोग कर सकती है।

गैसों का परिवर्तन रक्त में गैसों का परिवर्तन उनके गुणों पर निर्भर करता है। गैसों का सबसे पहिला गुण फैलना व विसर्जन (Diffusion) है। यदि दो ऐसे कोष्ठों में दो प्रकार की गैस भर दी जायँ, जिनके बीच में केवल एक ऐसी झिल्ली हो जिसके द्वारा गैस निकल सकें, तो उन गैसों का एक कोष्ठ से दूसरे कोष्ठ में विसर्जन आरंभ होजायगा। और वह होता रहेगा जबतक कि दोनों कोष्ठों में गैसों का भार समान न हो जायगा। भार समान होते ही उनका फैलना बंद हो जायगा। फुस्फुस में उपस्थित रक्त के कार्बन-डाइ-ओक्साइड और ऑक्सीजन के भार को जानने के लिये अनेक प्रयोग किए गए हैं,

जिनके परिणाम भिन्न-भिन्न निकले हैं। सबों से यही ज्ञात होता है कि गैस वहाँ भी अपने साधारण नियमों का पालन करती हैं और उन्हीं के अनुसार उनमें परिवर्तन होता है। वायु-कोष्ठ की वायु का संगठन मालूम करना कठिन है; क्योंकि जो वायु श्वास द्वारा बाहर निकलती है, वह केवल वायु-कोष्ठों ही की वायु नहीं होती। इसमें श्वास-प्रणाली और वायु-नलिकाओं की भी वायु मिली रहती है. और इस वायु में वायु-कोष्ठों की अपेक्षा अधिक ऑक्सीजन रहता है। श्वास-प्रणालिकाओं और वायु-नलिकाओं में कुल १४० सी·सी वायु आती है। एक पूर्ण प्रश्वास के द्वारा ५०० सी·सी वायु बाहर निकलती है। अतएव एक प्रश्वास में वायु-कोष्ठों की ३६० सी·सी वायु होना चाहिए।

प्रयोगों द्वारा यह मालूम हुआ है कि वायु कोष्ठों में ऑक्सीजन १४% होती है अर्थात् उसका भार १०० मिलीमीटर पारा होता है; कार्बन-डाइ-ओक्साइड ५·५% होती है; इसका भार ४० मि·मीटर होता है। और नाइट्रोजन ८०% अथवा ५७० सी·सी* होती है। केशिकाओं में जो रक्त होता है, उसमें ऑक्सीजन ३७·६ मि० मीटर और कार्बन-डाइ-ओक्साइड ४२·६ मि० मीटर भार पर रहती है। अतएव मौलिक नियमों के अनुसार ऑक्सीजन वायु-कोष्ठों की ओर से रक्त की ओर जाती है और दूसरी गैस रक्त की ओर से वायु की ओर को जाती है।

	ऑक्सीजन	कार्बन-डाइ-ओक्साइड
वायुकोष्ठ की वायु	१०० मि० मीटर	३५ से ४० मि० मीटर
झिल्ली	↓	↑
शिराओं का रक्त	३७·६ मि० मीटर	४२·६ मि० मीटर

* सी०सी=१५ बूँद

इस प्रकार ऑक्सीजन वायु से रक्त में पहुँचती है और रक्त की विषैली गैस रक्त से वायु में पहुँच जाती है। यह रक्त ऑक्सीजन को लिए हुए हृदय में पहुँचता है, जहाँ से वह भिन्न-भिन्न अंगों को जाता है। वहाँ भी ठीक यही क्रिया होती है। ऑक्सीजन का भार अंगों की अपेक्षा इस शुद्ध रक्त में बहुत अधिक होता है। अतएव ऑक्सीजन रक्त से अंगों में पहुँच जाती है और कार्बन-डाइ-ओक्साइड जो अंगों में अधिक होती है, वहाँ से रक्त में चली आती है।

मनुष्य जागृत अवस्था में प्रत्येक मिनट ८ छटाँक के लगभग ऑक्सीजन शरीर के भीतर ग्रहण करता है। व्यायाम व कठिन परिश्रम के समय उसको इससे भी अधिक ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है। सोते समय इसकी मात्रा घट जाती है। उस समय एक मिनट में पाँच छटाँक ऑक्सीजन से भी कम की आवश्यकता होती है।

यह देखने में आता है कि जितना छोटा पशु होता है, उतनी ही उसके शरीर की अपेक्षा, उसको अधिक ऑक्सीजन आवश्यक है। एक चूहा, उसके शरीर-भार के देखते हुए, एक कुत्ते की अपेक्षा दसगुना ऑक्सीजन अधिक ग्रहण करता है। यदि मान लिया जाय कि कुत्ते का भार १२ सेर है और उसको २ छटाँक ऑक्सीजन आवश्यक है, तो एक चूहे को, जिसका शरीर-भार ४ छटाँक है, २ माशे ऑक्सीजन पर्याप्त होनी चाहिए। किंतु ऐसा नहीं होता। उसको २० माशे गैस की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार एक कुत्ते को मनुष्य की अपेक्षा दुगुनी ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है।

जो रक्त फुस्फुस से शुद्ध होकर हृदय द्वारा शरीर के सब अंगों

को जाता है, वही उनको ऑक्सीजन देता है। भिन्न-भिन्न अंग अपनी क्रिया के अनुसार ऑक्सीजन की भिन्न-भिन्न मात्रा ग्रहण करते हैं। यह ऑक्सीजन रक्त के सीरम में मिलकर सब अंगों का पोषण करता है। जिस अंग में जितनी अधिक क्रिया होती है, वह उतनी ही अधिक ऑक्सीजन ग्रहण करता है। शरीर को जो लसीका ग्रंथियाँ हैं, वे दूसरे अंगों की अपेक्षा अधिक ऑक्सीजन ग्रहण करती हैं। मस्तिष्क के तंतुओं को अधिक ऑक्सीजन की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती; क्योंकि वह गैस की थोड़ी ही मात्रा ग्रहण करते हैं।

रक्त से न केवल कार्बन-डाइ-ओक्साइड ही, किंतु कुछ अन्य पदार्थ भी वायु में मिल जाते हैं। इनमें जल के वाष्प मुख्य वस्तु हैं। इनके अतिरिक्त प्रश्वास के द्वारा शरीर बहुत-सी उष्णता बाहर निकाल देता है। जो वायु फुस्फुस से बाहर निकलती है, वह उष्ण होती है। इस प्रकार शरीर अपने भीतर की बहुत-सी उष्णता को खो देता है। यह अनुमान लगाया गया है कि चौबीस घंटे में १० छटाँक के लगभग जल शरीर से निकल जाता है। यह मात्रा ऋतु के ऊपर बहुत कुछ निर्भर करती है। इससे शरीर का ताप समयानुकूल घटता-बढ़ता रहता है।

दूषित वायु से हानि—जब बहुत-से मनुष्य एक ही स्थान पर एकत्रित हो जाते हैं, तो उनके श्वास द्वारा बाहर निकले हुए कार्बन-डाइ-ओक्साइड से सारा वायु-मंडल दूषित हो जाता है। इसी कारण कमरों में शुद्ध वायु के आने के लिये और दूषित वायु के निकलने के लिये अनेक प्रकार के साधन किए जाते हैं। एक छोटे बंद कमरे में बहुत-से मनुष्यों का एक साथ

रहना बहुत ही हानिकारक होता है। यह एक साधारण प्रति दिन का अनुभव है कि यदि हम बाहर से आकर एक ऐसे कमरे में प्रवेश करें, जहाँ पर कुछ समय से बहुत-से मनुष्य एकत्रित हैं और जहाँ शुद्ध वायु के आने और अशुद्ध वायु के निकलने के लिये मार्ग नहीं है, तो हमें भीतर आते ही एक विशेष प्रकार की बेचैनी मालूम होने लगेगी। यदि बहुत समय तक ऐसे कमरे में रहा जाय, तो शिर-दर्द, दुर्बलता, जी का मचलाना इत्यादि मालूम होने लगते हैं। हमको बाहर से कमरे के भीतर आने पर एक प्रकार की गंध भी मालूम होती है। यह गंध और कमरे की उष्णता अधिक होने पर मनुष्य की मृत्यु तक का कारण हो सकती हैं। कलकत्ते की कालकोठरी इतिहास में इस बात का विख्यात उदाहरण है।

दूषित वायु से हानि के कारण—इस भयानक परिणाम के कई कारण हो सकते हैं। इसमें कुछ संदेह ही नहीं है कि फुस्फुस से प्रश्वास के साथ बाहर निकलनेवाली कार्बन-डाइ-ऑक्साइड एक बहुत ही बुरी वस्तु है, जो शरीर को बहुत हानि पहुँचाती है। इसके अतिरिक्त प्रश्वास के साथ बाहर आनेवाली उष्णता से कमरे का ताप बढ़ जाता है। इस कारण शरीर का ताप कम नहीं होने पाता। न केवल यही, किंतु प्रश्वास से उत्पन्न हुई उष्णता आर्द्र-उष्णता होती है, जिसमें जल का भाग बहुत होता है। इस प्रकार की उष्णता असह्य होती है। वर्षाकाल में जब वर्षा बंद हो जाती है और वायु का प्रवाह भी बंद हो जाता है, तो ऋतु की वह दशा अत्यंत कष्टदायक होती है। ग्रीष्म-ऋतु की तीव्र प्रचंड लू इतनी भयंकर और दुखदायी नहीं होती जितनी कि वर्षाऋतु की आर्द्र-उष्णता। शुष्क ताप से इतनी जल्दी जीवन

का नाश नहीं होता, किंतु आर्द्र-उष्णता के कम होने पर भी उससे जीवन नष्ट हो जाता है। यदि हम रोग के कुछ जीवाणुओं को १०० डिग्री सेंटीग्रेड की उष्ण शुष्क वायु में कुछ समय तक रक्खें, तो उनकी मृत्यु नहीं होती। यदि उनको जल में रखकर ७० डिग्री सेंटीग्रेड तक जल को उतने ही समय तक गरम रक्खें, तो उनकी मृत्यु हो जाती है।

इसी प्रकार एक बंद कमरे की वायु से सबसे अधिक हानि प्रश्वास से उत्पन्न हुई आर्द्र-उष्णता से होती है। प्रयोगों से यह पाया गया है कि यदि एक ऐसे कमरे में ठंडा जल छिड़कवाया जाय और पंखे चलवाए जायँ, तो कमरे की उष्णता कम हो जायगी और साथ में बेचैनी भी न प्रतीत होगी। कहा जाता है कि इस कष्ट और बेचैनी का मुख्य कारण एक उड़नशील पदार्थ (Volatile substance) होता है, जो प्रश्वास की वायु में सम्मिलित रहता है। वही कलकत्ता के कालकोठरी के समान भयानक परिणामों का उत्तरदायी है।

इस वस्तु के खोज के लिये बहुत-से प्रयोग किए गए हैं, किंतु अभी तक उनसे कोई संतोषजनक परिणाम नहीं निकला है। यदि प्रश्वास की वायु को एक शीत-कारक यंत्र (Freezing Machine) में होकर निकाला जाय, तो वह जम जायगी ; उससे जल बन जायगा। यह जल स्वाद और गंध-रहित होता है और इसके प्रयोग से कोई बुरा परिणाम नहीं निकलता। जिनके शरीर में इसको प्रविष्ट किया गया उन पर भी इसका कुछ बुरा प्रभाव नहीं हुआ। इस जल में कुछ ऐंद्रिक पदार्थ अवश्य रहता है, किंतु वह लेशमात्र होता है।

ब्राउन-सीकर्ड (Brown Sequard) शारीरिक विज्ञान

का अच्छा पंडित हुआ है । उसके विचार में प्रश्वास-वायु में सम्मिलित ऐंद्रिक पदार्थ ही शरीर पर हानिकारक प्रभाव का कारण हैं । उसने इसके संबंध में कुछ प्रयोग भी किए थे। एक विशेष प्रयोग, जिस पर उसने अपनी यह सम्मति दी थी, यह था । उसने पाँच बोतलें लीं । सब बोतलों के कागों में दो-दो छेद किए और मुड़ी हुई नलिकाओं द्वारा उन सबों को आपस में मिला दिया । इस प्रकार बोतलों की एक शृंखला बन गई ।

चित्र नं० ४६
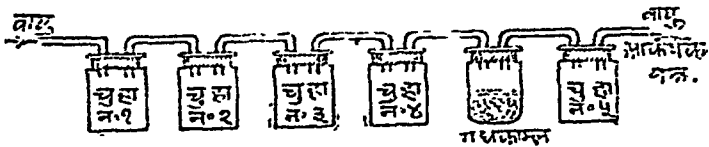
यदि इस शृंखला के एक ओर से किसी यंत्र द्वारा वायु भीतर खींची जाती, तो वह दूसरे सिरे से भीतर आ सकती थी। उसने प्रत्येक बोतल में एक चूहा बंद कर दिया । नं० ४ और नं० ५ बोतल के बीच में उसने एक परीक्षा-नलिका लगा दी, जिसमें गंधक अम्ल (Sulphuric Acid) था, जिससे वायु के ऐंद्रिक पदार्थों को गंधकाम्ल सोख लें । नं० ५ बोतल के दूसरी ओर एक वायु-आकर्षक-यंत्र (Aspirator) लगा दिया गया, जिसके चलाने पर वायु नं० १ की बोतल में प्रवेश करके सब बोतलों में होती हुई सबके पश्चात् नं० ५ बोतल में पहुँचती थी । इस प्रकार नं० १ बोतल के चूहे को सबसे शुद्ध वायु मिलती है । जो वायु नं० २ बोतल के हे के पास पहुँचती है वह पहले चूहे के प्रश्वास से मिली होती है ; नं० ३ के चूहे के पास प्रथम और दूसरे चूहे, दोनों के द्वारा दूषित होकर पहुँचती है । इसी प्रकार वायु का दोष बढ़ता ही जाता है । अंत में नं० ५

चूहे के पास सबसे अधिक गंदी वायु पहुँचती है। किंतु नं० ५ चूहे को ऐंद्रिक पदार्थों से मुक्त वायु मिलती है।

इन सब चूहों को ८ व १० घंटे तक इसी प्रकार रक्खा गया। आकर्षण-यंत्र चलता रहा और चूहों को वायु मिलती रही। चार व पाँच घंटे के पश्चात् चूहों का मरना प्रारंभ हुआ। सबसे पहले नं० ४ बोतलवाला चूहा मरा। उसके पश्चात् नं० ३ चूहे की मृत्यु हुई। सबके पश्चात् नं० २ बोतलवाला चूहा मरा। किंतु नं० १ और नं० ५ बोतलवाले चूहे स्वस्थ रहे। नं० १ चूहे को तो शुद्ध वायु मिल रही थी किंतु नं० ५ के चूहे को जो वायु मिलती थी, वह प्रश्वास से उत्पन्न हुए ऐंद्रिक पदार्थों से अवश्य मुक्त थी। किंतु उसमें कार्बन-डाइ-ओक्साइड इत्यादि दूषित वस्तुएँ उपस्थित थीं। तो भी उस पर किसी प्रकार का बुरा प्रभाव नहीं पड़ा।

इस प्रयोग के परिणाम के बल पर ब्राउन सोकर्ड ने यह कहा कि स्वास्थ्य को हानि पहुँचानेवाले प्रश्वास में सम्मिलित ऐंद्रिक पदार्थ ही होते हैं। अन्य विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि हानिकारक पदार्थ कोई विशेष ऐंद्रिक पदार्थ नहीं है, किंतु प्रश्वास से निकली हुई कार्बन-डाइ-ओक्साइड ही स्वास्थ्य को बिगाड़नेवाली मुख्य वस्तु है। उनका कहना है कि चूहों इत्यादि पर जो प्रयोग किए गए हैं, उनमें जो ऐंद्रिक पदार्थ उपस्थित मिले हैं, उनका विशेष कारण चूहों का मल-मूत्र है। इनके सड़ने से कुछ ऐंद्रिक पदार्थ उत्पन्न होकर वायु में मिल जाते हैं।

यदि प्रश्वास द्वारा बाहर निकली हुई वायु से कार्बन-डाइ-ओक्साइड और जलवाष्प भिन्न कर दिए जायँ और उसमें ऑक्सीजन पर्याप्त मात्रा में मिला दी जाय, तो उस वायु में श्वास लेने से किसी भाँति का भी कोई बुरा प्रभाव न पड़ेगा।

कुछ अन्वेषण-कर्ताओं ने स्वयं मनुष्यों पर प्रयोग किए हैं। इन प्रयोगों के परिणामों से ब्राउन-सीकर्ड के सिद्धांत में बहुत कुछ संदेह उत्पन्न होता है। कुछ घंटों तक बहुत से मनुष्य एक छोटे कमरे में बंद रखे गए; उनसे कोई शारीरिक परिश्रम नहीं करवाया गया। धीरे-धीरे उस कमरे की वायु दूषित होनी आरंभ हुई। कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की मात्रा जब ४% पहुँची, तब उन लोगों को बेचैनी मालूम होने लगी और श्वास जल्दी-जल्दी चलने लगा। जब गैस की मात्रा १०% पहुँच गई, तो बेचैनी बहुत बढ़ गई और मुख नीला पड़ गया। अतएव इस प्रयोग से यही परिणाम निकलता है कि हानि का मुख्य कारण ऊपर कही हुई विषैली गैस ही है।

एक दूसरे महाशय वीशर्ट (Wiechart) के प्रयोगों से इस मत का खंडन होता है और ब्राउन-सीकर्ड का समर्थन होता है। उसने बहुत से मनुष्यों की प्रश्वास वायु को कुछ जल में होकर निकाला, जिसमें कुछ अम्ल मिला हुआ था। इस जल को कुछ मनुष्यों के शरीरों में प्रविष्ट किया। ऐसा करने से उन मनुष्यों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। उनके शरीर की उष्णता घट गई; श्वास जल्दी-जल्दी चलने लगा, मुख नीला पड़ गया और श्वास द्वारा कार्बन-डाइ-ऑक्साइड कम निकलने लगी। वीशर्ट का कहना है कि इस सारी दशा का कारण एक विषैली वस्तु है, जो शरीर से श्वास द्वारा बाहर निकलती है। इस मत को सब लोग नहीं मानते। आजकल अधिकतर विद्वान् यह मानते हैं कि दूषित वायु के बुरे परिणामों का कारण वायु की उष्णता और जल की वाष्प है, जो प्रश्वास के साथ शरीर के बाहर निकलती हैं। जब कमरों में शुद्ध वायु के आने और दूषित

रुकी हुई वायु के बाहर निकलने का प्रबंध उत्तम नहीं होता और बहुत से मनुष्यों के एक साथ छोटे से स्थान में रहने से कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की मात्रा ३% या ४% हो जाती है, तो ऊपर कहे हुए लक्षण वहाँ पर उपस्थित मनुष्यों में उत्पन्न होने लगते हैं।

भ्रूणावस्था में श्वास-कर्म—जब तक बच्चा गर्भाशय के भीतर रहता है, तब तक वह श्वास नहीं लेता। उसके शरीर में माता के शरीर से रक्त पहुँचता रहता है। वही बच्चे के लिये पोषण लाता है। बच्चे के शरीर की वृद्धि उसी से होती है। उसके शरीर के लिये जितनी भी आवश्यक वस्तुएँ होती हैं, वे सब माता के रक्त से मिलती हैं। ऑक्सीजन भी माता के रक्त ही से मिलती है, जो बच्चे के शरीर के रक्त को शुद्ध करती है।

बच्चे और माता के शरीर के रक्त परिभ्रमण वस्तुतः दोनों भिन्न होते हैं अर्थात् माता का रक्त बच्चे के शरीर के भीतर नहीं जाता। किंतु वह गर्भाशय के भीतर, जो पुरइन व कमल रहता और जिसको Placenta कहते हैं, उसमें जाता है। दूसरी ओर से बच्चे के शरीर का रक्त भी उसमें आता है। इस प्रकार कमल में दोनों के रक्त पहुँचते हैं। दोनों के बीच में एक झिल्ली रहती है, जिसके कारण वे पृथक् रहते हैं। इस झिल्ली से दोनों ओर के रक्त में गैसों का परिवर्तन होता है। माता के शुद्ध रक्त की ऑक्सीजन बच्चे के शरीर के अशुद्ध रक्त में मिल जाती है और बच्चे के शरीर के रक्त से कार्बन-डाइ-ऑक्साइड माता के रक्त में आ जाती है। यह क्रिया पुरइन में ठीक उसी प्रकार होती है, जैसे मनुष्य के फुस्फुसों में होती है। फुस्फुस में वायु और रक्त में गैसों का परिवर्तन होता है और यहाँ दोनों ओर के रक्त ही में गैसों का परिवर्तन होता है।

इस प्रकार गर्भावस्था में बच्चे का श्वास-कर्म होता है। जब वह जन्म लेता है, तब पुरइन का संबंध माता के गर्भाशय से भिन्न होने लगता है। इससे माता के रक्त से बच्चा ऑक्सीजन नहीं ग्रहण कर सकता। गर्भाशय से बाहर निकलने पर बच्चा स्वयं श्वास लेने लगता है। प्रथम बार उसके श्वास लेने का क्या कारण होता है?

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, गर्भाशय से कमल का संबंध भिन्न होने के साथ ही माता के रक्त से बच्चे का संबंध टूट जाता है। उसके शरीर में उत्पन्न हुई कार्बन-डाइ-ओक्साइड वहाँ एकत्रित होने लगती है। बच्चे के जन्म से कुछ समय पूर्व ही से कमल का संबंध भिन्न होने लगता है। अतएव बच्चे के जन्म लेने तक उसके शरीर में काफ़ी कार्बन-डाइ-ओक्साइड जमा हो जाती है। कुछ महाशयों का मत है कि यह विषैली गैस मस्तिष्क के श्वास-केंद्र को उत्तेजित कर देती है और वह उत्तेजनाएँ भेजने लगता है, जिससे श्वासक पेशियों में संकोचन होने से श्वास-क्रिया होने लगती है। दूसरों का मत यह है कि बच्चे के बाहर आने पर बाहर की ठंढी वायु उसके चर्म पर लगती है और दाई अपने हाथों से उसके चर्म को स्पर्श भी करती है। इस कारण चर्म से श्वास केंद्र को उत्तेजनाएँ जानी आरंभ हो जाती हैं, जिससे श्वास-क्रिया होने लगती है। तीसरा मत है कि इन दोनों कारणों से मिलकर श्वास-कर्म प्रारंभ होता है; अर्थात् रक्त में कार्बन-डाइ-ओक्साइड भी जमा होती है और चर्म भी उत्तेजित होता है। इन दोनों कारणों से श्वास-केंद्र उत्तेजित होकर अपनी क्रिया करने लगता है।

रक्त जो ऑक्सीजन फुस्फुस से ग्रहण करता है, उसे ले जाकर

अंगों के तंतुओं को देता है। यह ऑक्सीजन वहाँ रक्त के प्लाज़मा में घुलकर पहुँचती है। यह पहले कहा जा चुका है कि रक्त का एक भाग जो लिंफ़ कहलाता है रक्त-नलिकाओं से बाहर निकलता है और वह इस ऑक्सीजन को अंगों के भिन्न-भिन्न भागों में पहुँचाता है। ये अंग इस लिंफ़ से ऑक्सीजन ग्रहण करते हैं। सारे शरीर में, यकृत और प्लीहा के अतिरिक्त, स्वयं रक्त अंगों के तंतुओं के संपर्क में नहीं आता। तंतुओं को पोषण करनेवाला यह लिंफ़ होता है।

अतएव जब यह लिंफ़ तंतुओं को ऑक्सीजन दे देता है, तो उनसे कार्बन-डाइ-ऑक्साइड ले लेता है। कार्बन-डाइ-ऑक्साइड से संपन्न होकर लिंफ़ नलिकाओं द्वारा बृहद्-नलिका में होता हुआ बृहद् शिरा के अशुद्ध रक्त में मिल जाता है। वहाँ से हृदय द्वारा फिर फुस्फुस में पहुँचता है।

तंतुओं का श्वास-कर्म—इस प्रकार तंतुओं में भी श्वास-कर्म होता है। यहाँ भी फुस्फुस की भाँति गैसों का परिवर्तन होता है। यह '**आंतरिक अथवा अंगीय श्वास-क्रिया**' कही जाती है। मुख्य क्रिया यही है। फुस्फुस इत्यादि केवल इसी के साधन हैं। वहाँ रक्त इसी प्रयोजन से ऑक्सीजन को लेता है कि उसे अंगों के तंतुओं में पहुँचा सके। हृदय-रूपी पंप भी उस रक्त को केवल यहाँ भेजने के लिये ही बनाया गया है। जितनी धमनी शिरा व अन्य नलिकाएँ हैं, वे सब इसी लिये रची गई हैं कि वह आंतरिक श्वास को पूर्ण करें।

ऑक्सीजन से अंगों में ओषजनीकरण (Oxidation)-क्रिया होती है। जब हम आग जलाते हैं, तो उसके लिये पर्याप्त वायु की आवश्यकता होती है। कारण प्रत्येक वस्तु के जलने के लिये

ऑक्सीजन आवश्यक है। इसी प्रकार जो भिन्न-भिन्न भोजन-पदार्थ हम खाते हैं, या अन्य पोषण हमारे शरीर में किसी भाँति पहुँचता है; वह वहाँ जलता है। उसके जलने से उष्णता और शक्ति उत्पन्न होती है। इस जलने, जिसको वैज्ञानिक भाषा में ओपजनीकरण कहते हैं, का वास्तव में क्या स्वरूप है, यह हमको भली-भाँति मालूम नहीं है। हम नहीं जानते, किस भाँति उससे शारीरिक शक्ति उत्पन्न होती है। साधारणतया हम जो कारबोहाइड्रेट जैसे शर्करा व अन्य पदार्थ, मक्खन, मांस, अंडा इत्यादि खाते हैं, वह उस ताप पर, जो साधारणतया शरीर का रहता है, नहीं जलते। शरीर का साधारण ताप ९६·४ फ़ैरनहाइट है। इन वस्तुओं को जलने के लिये इससे कहीं अधिक ताप की आवश्यकता है। फिर शरीर की उष्णता से यह किस भाँति जलते हैं। संभव है कि ऑक्सीजन जीवित तंतुओं के साथ मिलकर ओपजनीकरण-क्रिया से कुछ ऐसे अस्थायी पदार्थ बना देता हो, जो शीघ्र ही फिर छोटे-छोटे अवयवों में टूट जाते हों, और उन वस्तुओं के ओपजनीकरण से उष्णता और शक्ति उत्पन्न होती हो। पर यह समझना कठिन है कि यह रासायनिक शक्ति व उष्णता किस भाँति पेशी की गति-शक्ति में, मस्तिष्क की विचारशक्ति में अथवा आमाशय की पाचन-शक्ति में परिवर्तित हो जाती है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि तंतुओं में ओपजनीकरण-क्रिया होती है और उससे भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है।

एक मनुष्य चाहे जितनी शुद्ध वायु में श्वास ले, उससे उसको उस समय तक कुछ लाभ नहीं हो सकता, जब तक उसके रक्त में ऑक्सीजन ग्रहण करने के लिये लाल कणों की काफ़ी संख्या

न हो, जब तक उसका हृदय सारे शरीर में रक्त भेजने के लिये समर्थ न हो और उसके शरीर के तंतु रक्त द्वारा लाई हुई ऑक्सीजन को ग्रहण करने के लिये काफ़ी स्वस्थ न हों। जब हम किसी मनुष्य को पीत-वर्ण देखते हैं, तो उसे निर्बल और अस्वस्थ समझते हैं और जब उसके मुख पर लाली देखते हैं, तो उसे स्वस्थ और बलवान् समझते हैं। कुछ सीमा तक यह ठीक है। जो मनुष्य लाल दीखता है, उसके रक्त में लाल कणों की कमी नहीं है। उसका रक्त उसके शरीर को पर्याप्त ऑक्सीजन दे सकता है। जो मनुष्य पीला पड़ा हुआ है, उसके रक्त में ऑक्सीजन ग्रहण करने की शक्ति नहीं है—उसके शरीर में लाल कणों की कमी है।

ऑक्सीजन को सूँघने से लाभ—हमारे जीवन के लिये ऑक्सीजन बहुत आवश्यक है। संसार के सभी प्राणियों का जीवन इसी गैस पर निर्भर है, जैसा कि ऊपर के कथन से स्पष्ट होता है। इसकी कमी से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं, जिनका आगे चलकर वर्णन किया जायगा। कोई-कोई व्यक्ति यह कह सकते हैं कि जब इस वस्तु से इतना अधिक लाभ होता है और जिस वायु में इसकी उचित मात्रा कम हो जाती है, वह हानिकारक होती है, तो कदाचित् इस गैस को अधिक मात्रा में श्वास द्वारा भीतर लेने से शरीर के स्वास्थ्य को लाभ होगा; पर यह विचार ठीक नहीं है। साधारणतया हमारे रक्त में जितनी ऑक्सीजन रहती है, वह हमारे अंगों की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये पर्याप्त है। वास्तव में जितनी ऑक्सीजन रक्त में उपस्थित है, सभी का हम प्रयोग नहीं कर सकते। केवल उन्हीं दशाओं में, जब ऑक्सीजन की कमी

होती है अथवा ऑक्सीजन की आवश्यकता अधिक होती है, इस गैस को सूँघने से कुछ लाभ होता है। निमोनिया-रोग में फुस्फुस पर्याप्त मात्रा में ऑक्सीजन ग्रहण नहीं कर सकते। राजयक्ष्मा में जब फुस्फुस का कुछ भाग गल कर निकृष्ट हो जाता है, तब फुस्फुस अपना कार्य ठीक-ठीक नहीं कर सकता। इन्हीं दशाओं में ऑक्सीजन का सूँघना लाभदायक है। हृदय और रक्त के लाल कण इस गैस को ग्रहण करने के लिये उत्तम दशा में होने चाहिए। हृदय के कुछ ऐसे रोग होते हैं, जिनमें श्वास उखड़ने लगता है। हृदय रक्त को शरीर के सब भागों में भली भाँति नहीं भेज सकता। इस कारण अंगों को पर्याप्त ऑक्सीजन नहीं मिलता। ऐसी दशाओं में ऑक्सीजन के देने से कोई लाभ न होगा, क्योंकि श्वास के उखड़ने का कारण रक्त को इस गैस का न मिलना या रक्त का उसे ग्रहण करने की समर्थता नहीं है। इसका कारण यह है कि हृदय शरीर के सब भागों में ऑक्सीजन नहीं भेज सकता है।

ऐसी दशा में, जब मनुष्य के शरीर के सब अंग उत्तम दशा में हैं और ऑक्सीजन का उचित प्रयोग कर सकते हैं तो परिश्रम करने से पहले ऑक्सीजन को सूँघने से उसे लाभ हो सकता है। कुछ वर्ष हुए प्रोफ़ेसर लियोनर्ड हिल ने एक दौड़ में दौड़नेवालों को ऑक्सीजन सुँघाया था। उन सबों ने पूरी दौड़ बहुत थोड़े समय में समाप्त कर ली और उनको श्रम भी बहुत कम पड़ा। दौड़नेवालों में से एक का कथन है कि "दौड़ते समय मुझको बहुत कम बोझ मालूम होता था और ऐसा मालूम होता था कि मैं बिना किसी उद्योग के दौड़ा जा रहा था। एक अद्भुत बात यह थी कि दौड़ने के पश्चात् मेरी टाँगें बिलकुल कड़ी

नहीं हुई, जैसा कि प्रायः तेज़ दौड़ने के पश्चात् हुआ करता है। बहुत देर तक दौड़ने के बाद भी वह ऐसी नरम थीं, जैसे कि मैं बिलकुल दौड़ा ही नहीं हूँ। उसके थोड़ी देर बाद फिर मुझे बहुत अधिक दौड़ना पड़ा; पर मुझे तनिक भी श्रम नहीं मालूम हुआ। मैं इतनी आसानी से दौड़ रहा था कि मुझे प्रतीत होता था कि मैं बहुत ही धीरे चल रहा हूँ। सवा मील दौड़ने के बाद भी मैं आसानी से दूसरे काम कर सकता था। मैं यह कह सकता हूँ कि दौड़ के पश्चात् जो थकान और टाँगों में दरद इत्यादि हुआ करते हैं, मुझे वह कुछ भी नहीं मालूम पड़े।"

दूसरे दौड़नेवाले का, जिसने वह दौड़ जीती थी, कहना है कि उसका श्वास बिलकुल नहीं उखड़ा और न उसकी टाँगें ही कुछ कड़ी पड़ीं। उसने पूरी दौड़ बड़ी आसानी से समाप्त की।

इसी प्रकार प्रोफ़ेसर हिल ने एक ब्रिटिश चैनल को तैर कर पार करनेवाले को ऑक्सीजन दी थी। उसका नाम वूल्फ़ (Wolfe) था। पहले उसने इस गैस को नहीं सूंघा था। बीच में जब उसका श्वास टूटने लगा और उसे मालूम हुआ कि वह पार नहीं जा सकता, तब उसने इस गैस को ग्रहण किया। उसके सूँघने से वही मनुष्य जो पार जाने की आशा छोड़ चुका था और आगे बढ़ना नहीं चाहता था, फिर पहले की भाँति तैरने लगा। उसको फिर पहले ही का-सा साहस हो आया और वह पूर्ववत् काम करने लगा। जिसने उसको वायु सुँघाई थी, उसका कथन है कि थैले से गैस इतनी जल्दी निकल गई मानो थैले में बहुत से छिद्र हो गए हों। ऑक्सीजन जो वेग से निकली थी, वह उस मनुष्य के फुस्फुस के वायु-कोष्ठों में पहुँची थी। उस मनुष्य के ऑक्सीजन को इतनी शीघ्रता से

ग्रहण करने का कारण यह था कि उसके फुस्फुसों में ऑक्सीजन की बहुत कमी हो गई थी और दूसरी विषैली वायु की अधिकता।

ऐसी दशा में ऑक्सीजन को श्वास के साथ भीतर ग्रहण करना लाभ करता है; पर नित्यप्रति इसे सूँघने से कुछ लाभ न होगा।

फुस्फुस में ऑक्सीजन का बहुत अधिक होना भी स्वास्थ्य के लिये उत्तम नहीं है, क्योंकि उससे कार्बन-डाइ-ओक्साइड की मात्रा बहुत घट जाती है। हम देख चुके हैं कि कार्बन-डाइ-ओक्साइड श्वास-केंद्र को उत्तेजित करनेवाली एक मुख्य वस्तु है। अतएव इसकी बहुत कमी व अनुपस्थिति से श्वास-कर्म में कुछ अड़चन उत्पन्न हो सकती है।

उँचाई का श्वास पर प्रभाव—श्वास पर उँचाई का बहुत प्रभाव पड़ता है, क्योंकि वहाँ वायु का भार भिन्न हो जाता है। अतएव वायु-भार की भिन्नताएँ सदा श्वास-कर्म में विकृति उत्पन्न कर देती हैं। शरीर का यह नियम है कि वह बहुत कुछ अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बना लेता है। किंतु दशाओं की बहुत अधिक भिन्नता को वह भी सहन नहीं कर पाता। साधारण वायु-भार पर रक्त के ८०% लाल कण ऑक्सीजन से संयुक्त होते हैं। यदि यह वायु-भार घटा कर केवल एक चौथाई कर दिया जाय, तो केवल ७०% कण संयुक्त रह जाते हैं। ऊँचे पर्वतों पर वायु-भार कम होता है। अतएव रक्त को जितनी ऑक्सीजन मिलनी चाहिए, उतनी नहीं मिलती। इसका परिणाम यह होता है कि हृदय अपनी क्रिया अधिक वेग से करने लगता है और श्वास भी शीघ्र चलने लगता है, जिससे फुस्फुस में एक नियत समय में अधिक लाल कण पहुँचे और जितनी ऑक्सीजन ग्रहण

कर सकतें हैं करें । इस प्रकार हृदय उस क्षति को पूर्ण करने का उद्योग करता है। शरीर लाल कण भी अधिक बनाता है। नाड़ी की गति भी बदल जाती है और हृदय किसी-न-किसी भाँति उस क्षति को पूर्ण कर लेता है। इस कारण बलवान् हृदयवाले मनुष्य पर्वतों पर उत्तम प्रकार से रह सकते हैं। शरीर पर स्वभाव का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। उसको जिस प्रकार की चाहो आदत डाल सकते हो। आठ हज़ार से १२,००० फ़ीट की ऊँचाई पर भी लोग सब काम करते हैं। कठिन-से-कठिन परिश्रम करते हैं। बहुत-से मनुष्य, जो देखने में दुबले-पतले होते हैं, सब काम करते हैं। न केवल इतनी ही ऊँचाई, किंतु इससे भी अधिक ऊँचे स्थानों में मनुष्य जाते हैं। हिमालय के सबसे ऊँचे शिखर को भी पद-दलित करने का मनुष्य प्रयत्न कर रहा है।

सहन-शक्ति की भी कुछ सीमा होती है। २६,००० व तीस हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर रक्त को इतनी कम ऑक्सीजन मिलती है कि मस्तिष्क अपना काम बंद कर देता है। लोग बहुधा बेहोश हो जाते हैं। इसलिये जो लोग इतने ऊँचे चढ़ते हैं, वे अपने साथ ऑक्सीजन के सिलिंडर ले जाते हैं, और आवश्यकता पड़ने पर ऑक्सीजन सूँघ लेते हैं। ऐसा न करने से बेहोशी होकर मृत्यु हो जाती है।

पर्वत-रोग (Mountain sickness) यदि कोई मनुष्य बड़ी शीघ्रता से ऊपर कहे हुए साधनों को प्राप्त किए बिना ही ऊँचे पर्वत पर चढ़ता है, तो उसे पर्वत-रोग हो जाता है। इस रोग का सबसे बड़ा चिह्न वमन करना है, जो अधिकतर चढ़ाई में, ऐसे स्थान में आरंभ होता है, जहाँ कि चढ़ाई बहुत कड़ी और वायु बहुत तीव्र होती। वमन एकाएक आरंभ नहीं होता। सिर

का दर्द, नींद न आना, बेचैनी, स्वभाव का चिड़चिड़ा हो जाना, मस्तिष्क से अधिक काम न ले सकना व ऐसे कार्य, जिनमें विचार करना आवश्यक होता है, करने की असमर्थता आदि ऐसे चिह्न हैं, जो पहले प्रकट होते हैं : श्वास शीघ्रता से चलने लगता है। कभी-कभी उन्माद के लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं । इन सब लक्षण और दशाओं का कारण ऑक्सीजन की कमी है । रक्त को पर्याप्त ऑक्सीजन न मिलने से शरीर के सब अंग अपने-अपने कार्य छोड़ते जाते हैं।

जहाँ ऑक्सीजन की कमी और वायु-भार का कम होना जिसका अर्थ ऑक्सीजन के भार का कम होना भी हो सकता है, शरीर के लिये हानिकारक है, वहाँ ऑक्सीजन के भार का अधिक होने से भी स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है । यदि यह भार १,३०० व १,४०० मि० मीटर पारा हो, तो उससे निमोनिया होकर मृत्यु हो जाती है। इसी कारण ऐसी वायु में, जिसका इतना अधिक भार हो, मनुष्य के लिये काम करना संभव नहीं है।

सुरंगें खोदने व नदियों के पुल इत्यादि बनाते समय, जल के भीतर लोहे के बहुधा बड़े-बड़े नल डालने पड़ते हैं। यह नल चारों ओर से बंद रहते हैं, केवल वह सिरा जिधर को ओर काम होता है अर्थात् जो नदी के जल की ओर रहता है खुला रहता है। यंत्र से इसमें इतनी वायु भरी जाती है कि उसका भार जल के भार से बढ़ जाता है। इस प्रकार जल को नल से बाहर रखा जाता है। इसके भीतर काम करनेवाले एक विशेष प्रकार की कोठरी के द्वारा भीतर जाते हैं, जिसमें वायु भार घटाया-बढ़ाया जा सकता है।

इस नल के भीतर साधारणतया ६०० मि० मीटर भार रहता

है। जब तक मज़दूर इसमें काम किया करते हैं, तब तक उनको कोई असुविधा नहीं होती। पर जब वह बाहर आते हैं और अपनी कोठरी से बहुत जल्दी खुले वायु-मंडल में आते हैं, तो उनको कष्ट होता है। शरीर के किसी अंग का स्तंभ हो सकता है। जी मिचलाना, वमन होना, उदर में शूल होना, सिर घूमना इत्यादि लक्षण प्रकट होने लगते हैं। इसका कारण यह है कि जब मज़दूर जल के भीतर काम किया करते हैं, उस समय वायु-भार के अधिक होने के कारण शरीर के अंगों के तंतु ऑक्सीजन से संसक्त हो जाते हैं। जब वे मज़दूर एकदम बाहर आते हैं, तो वायु-भार भी एकदम कम हो जाता है। इससे शरीर में उपस्थित ऑक्सीजन के छोटे-छोटे वाष्प-गुल्म (Bubbles) बन जाते हैं, और पेशी, सुषुम्ना, अथवा रक्त-नलिकाओं में बहुधा अवरोध उत्पन्न करके अंगों को हानि पहुँचाते हैं। जो लोग समुद्र में बहुत गहराई तक डुबकी मारकर जल्दी ही जल के ऊपर आ जाते हैं, उनकी भी यही दशा होती है। ऊपर कहे हुए रोग को Caisson Disease कहते हैं, क्योंकि उन नलों का नाम, जिनको जल के भीतर डुबोया जाता है, Caisson है।

बाह्य दशाएँ और शरीर के ताप की अनुकूलता—ऊपर कहा जा चुका है कि श्वास-कर्म शरीर की उष्णता को बहुत कुछ स्थिर रखने में सहायता देता है। मनुष्य जिस वायु-मंडल में रहता, उसमें उष्णता का बहुत परिवर्तन होता रहता है। मनुष्य को ग्रीष्म-काल को प्रचंड तीव्र उष्णता से लेकर बर्फ़ पड़ने की ठंड तक रहना पड़ता है। कहीं-कहीं इतना शीत होता है कि वर्ष में कम-से-कम १० मास जल बर्फ़ के रूप में जमा रहता है। पृथ्वी पर

ऐसे भी स्थान हैं, जहाँ दिन में सूर्य को प्रचंडता के कारण बाहर निकलना कठिन है। इन सब अवस्थाओं में मनुष्य अपना शरीर परिस्थियों के अनुकूल रखता है। यदि बाह्य-ताप अधिक होता है, तो वह आंतरिक ताप को कम कर देता है। यदि वायु-मंडल बहुत शीतल होता है, तो उष्णता अधिक बनने लगती है।

जब वायु-मंडल शरीर से अधिक ठंडा होता है, तो ओपजनी-करण क्रियाओं से शरीर अपने को उष्ण करता है। यह उष्णता हमारे भोजन के जलने से उत्पन्न होती है। हम जो भोजन करते हैं, उसके ओपजनीकरण से हमारे शरीर का ताप बढ़ता है और यद्यपि शारीरिक उष्णता का सदा नाश होता रहता है. कुछ श्वास द्वारा होता है, कुछ वायु के द्वारा होता है, कुछ उष्णता कार्य-शक्ति में परिणत हो जाती है ; फिर भी हमारा शरीर उस सारी क्षति को पूर्ण करने के अतिरिक्त शारीरिक ताप को बनाए रखने के लिये पर्याप्त उष्णता उत्पन्न कर लेता है।

यह ओपजनीकरण, जो शरीर को उष्ण रखता है, अधिकतर यकृत और पेशियों में होता है। यकृत में सारे शरीर के रक्त का चौथाई भाग रहता है। वहाँ बहुत-सी रासायनिक क्रियाएँ हुआ करती हैं। इससे जो रक्त यकृत से निकलता है, वह सारे शरीर के रक्त से अधिक उष्ण होता है। पेशी भी सदा क्रिया करते रहते हैं। जिस समय हम विश्राम करते हैं, उस समय भी पेशियों में कुछ संकोच हुआ करता है।

अतएव इन्हीं स्थानों में सबसे अधिक उष्णता बनती है। उष्णता शारीरिक दशा और उसकी आवश्यकताओं के अनुसार कैसे बनती है ? यह किस प्रकार होता है कि यकृत और पेशी उतनी ही उष्णता बनाते हैं, जितने की शरीर को आवश्यकता

होती है। यदि बाह्य-उष्णता कम होती है, तो वह अंग अधिक उष्णता बनाते हैं, और बाह्य-उष्णता अधिक होती है, तो वह उष्णता-उत्पत्ति कम कर देते हैं : यह सब किस प्रकार होता है ?

उष्णतोत्पादक केंद्र—अन्य क्रियाओं के केंद्रों की भाँति उष्णता की उत्पत्ति को घटाने व बढ़ानेवाला एक केंद्र मस्तिष्क में स्थित है। यह केंद्र शरीर के सारे भागों से नाड़ियों द्वारा जुड़ा रहता है, जो इसके पास प्रत्येक समय सूचनाएँ ले जाया करती हैं। वस्तुतः यह केंद्र दो केंद्रों का बना हुआ है। एक केंद्र ताप के उत्पन्न करने का काम करता है दूसरा शरीर की उष्णता के नाश को बढ़ाता है। यह निर्णय करना कि कब उष्णता अधिक उत्पन्न होनी चाहिए और कब उष्णता का नाश होना चाहिए, यह स्वयं केंद्रों का काम है। जब वायुमंडल की शीतलता बढ़ जाती है, तब उष्णता को उत्पन्न करनेवाले केंद्र के पास चर्म इत्यादि से सूचनाएँ पहुँचती हैं और वह तुरंत अपनी क्रिया को बढ़ा देता है। यकृत और पेशियों को अधिक क्रिया करने की आज्ञा होती है। बस यकृत, पेशी, ग्रंथि इत्यादि की क्रियाएँ तेज़ी से होने लगती हैं, जिससे अधिक उष्णता उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त उस समय ऐसा प्रबंध कर दिया जाता है कि शरीर की उष्णता का बहुत कम नाश होता है। चर्म की केशिकाएँ सिकुड़ जाती हैं, श्वास मंदा आता है इत्यादि। इससे उष्णता का ह्रास कम होता है। इसी प्रकार जब वायुमंडल की उष्णता बढ़ जाती है, तो उष्णता की उत्पत्ति कम हो जाती है और नाश बढ़ जाता है। चर्म की ग्रंथियाँ क्रिया करने लगती हैं, जिनसे स्वेद बनने लगता है, पेशी ढीली पड़ जाती हैं। यही कारण है कि गर्मी के दिनों में बहुत सुस्ती आया करती है। यकृत बहुत कम काम करता है। प्रत्येक मनुष्य

जानता है कि ग्रीष्म काल में घी बहुत कम खाया जाता है; क्योंकि यकृत उसको पचाने के लिये तैयार नहीं है; मांस पेशी उसको काम में लाना नहीं चाहती। गरमियों में तनिक भी तेज़ी से चलने से श्वास बहुत ज़ोर से चलने लगता है, जिससे शारीरिक उष्णता का अधिक नाश होता है। चर्म की केशिकाएँ चौड़ी हो जाती हैं। इन सब साधनों द्वारा शरीर में उष्णता की उत्पत्ति कम की हो जाती है और उसका नाश बढ़ जाता है। इस प्रकार आय और व्यय के योग को जहाँ तक होसकता समान रखने का प्रयत्न किया जाता है, जिससे शरीर की उष्णता ९८ फ़ैरनहीट से अधिक न बढ़ने पावे।

प्रत्येक शक्ति की कुछ सीमा हुआ करती है। शरीर की ताप को ठीक रखने की भी सीमा परिमित है। कभी-कभी यह निष्काम भी हो जाती है। बहुधा देखने में आता है कि जब गरमी बहुत प्रचंड होती है, तो दोपहर के समय विशेष कर, धूप में चलनेवालों को लू लग जाती है। शरीर का ताप बहुत बढ़ जाता है। मनुष्य की चेतना-शक्ति जाती रहती है। बहुधा मृत्यु हो जाती है। किंतु फिर भी शरीर अत्यंत अधिक उष्णता को भी धीरे-धीरे सहन करने लगता है। लोहे के काम की फ़ैक्टरियों में काम करनेवालों को २५० डिग्री फ़ॅ. तक का ताप सहन करना पड़ता है।

श्वासावरोध (Asphyxia)—यदि मनुष्य कुछ समय तक श्वास न ले सके, तो उससे उसकी मृत्यु हो जाती है। मृत्यु का कारण रक्त में ऑक्सीजन न पहुँचना होता है। यदि तीन मिनट तक रक्त को ऑक्सीजन न मिले, तो मृत्यु निश्चय है। इस प्रकार की मृत्यु श्वासावरोध से होती है। जो मृत्यु गला घोट देने

से, जल में डूब जाने से, अथवा गले के चारों ओर रस्सी को कस देने से होती है, उसका कारण भी श्वासावरोध है।

श्वासावरोध के समय यदि किसी मनुष्य को देखा जाय और उसके लक्षणों का भली-भाँति निरीक्षण किया जाय, तो मालूम होगा कि श्वासावरोध के लक्षण तीन अवस्थाओं में विभक्त किए जा सकते हैं। प्रथम अवस्था में गहरे श्वास आने लगते हैं। उच्छ्वास-क्रिया विशेषकर बढ़ जाती है। जितनी भी उच्छ्वास की पेशियाँ हैं, सब काम करने लगती हैं। कुछ समय के पश्चात् प्रश्वास भी अधिक होने लगता है। होठ नीले पड़ जाते हैं, आँखें बाहर की ओर निकल आती हैं और मुख पर विषाद के लक्षण झलकने लगते हैं। यह अवस्था एक मिनट के लगभग रहती है। यदि वायु एकदम बंद कर दी गई है, तो यह अवस्था बहुत थोड़े काल रहेगी।

दूसरी अवस्था में प्रश्वास अधिक होता है और कुछ समय के पश्चात् सारे शरीर की पेशियों में कम्पनाएँ होने लगती हैं। इनका कारण रक्त में कार्बन-डाइ-ओक्साइड की अधिकता होती है। यह कम्पना की अवस्था एक मिनट से भी कम रहती है।

तीसरी अवस्था में कम्पनाएँ भी बंद हो जाती हैं। श्वास लेने का उद्योग भी बंद हो जाता है। पेशियाँ ढीली पड़ जाती हैं। आँखों की पुतलियाँ चौड़ी हो जाती हैं, धीरे-धीरे कभी-कभी कोई श्वास आ जाता है; किंतु अंत में वह भी बंद हो जाता है और मृत्यु हो जाती है।

श्वासावरोध से जो मृत्यु होती है, उसमें यह विशेषता होती है कि श्वास बंद होने के पश्चात् भी हृदय कुछ समय तक स्पंदन किया करता है।

कृत्रिम श्वास-क्रिया—यदि मनुष्य का श्वास बंद हो जाय

और हृदय धड़कता रहे, तो फुस्फुस में वायु-संचार करने का उद्योग अवश्य करना चाहिए। जो मनुष्य नदी इत्यादि में डूब जाते हैं, उनमें से कुछ आध घंटे व एक घंटे तक कृत्रिम श्वासन् करने से बचाये जा सकते हैं। कभी-कभी बच्चा जब गर्भाशय के बाहर आता है, तो उसका श्वास नहीं चलता, श्वासावरोध के सारे चिह्न उसके चेहरे पर अंकित होते हैं। किंतु कुछ समय तक उसके फुस्फुस में श्वास-संचार करने के प्रयत्न से बहुधा बच्चा ठीक हो जाता है और उसका श्वास चलने लगता है।

जिसकी मृत्यु श्वासावरोध से हो, उसको कृत्रिम श्वासन् के द्वारा पुनर्जीवित करने का उद्योग अवश्य करना चाहिए।

कृत्रिम श्वास-क्रिया की विधि—कृत्रिम श्वासन् कई प्रकार से किया जाता है। इसका सिद्धांत यह है कि एक बार फुस्फुस में वायु का प्रवेश कराना चाहिए और दूसरी बार उसको निकाल देना चाहिए। एक विधि के अनुसार एक मनुष्य उस मनुष्य के जिस पर श्वासन् क्रिया करनी है, सिर की ओर खड़ा होता है और दोनों बाहुओं को पकड़कर जितना भी सिर की ओर खींच सकता है, खींचता है। ऐसा करने से वक्ष चौड़ा होता है। अतएव फुस्फुस भी फैलते हैं और उनके भीतर वायु आती है। फिर वह मनुष्य बाहुओं को पूर्णतया ऊपर खींचने के पश्चात् फिर उनको वक्ष की ओर लाता है और वक्ष पर रखकर अपने सारे शरीर के भार से उनको वक्ष पर दबाता है। ऐसा करने से वक्ष दबता है और फुस्फुस के भीतर की वायु बाहर निकलती है। इसी प्रकार बार-बार क्रिया की जाती है।

दूसरी विधि प्रोफ़ेसर शेफर की है। मनुष्य को पृथ्वी पर उल्टा लिटा दिया जाता है, उसके नीचे कंबल इत्यादि रहते हैं, जिससे

चित्र नं० ५०—कृत्रिम श्वास-क्रिया। प्रो० शेफर की विधि।

अ

ब
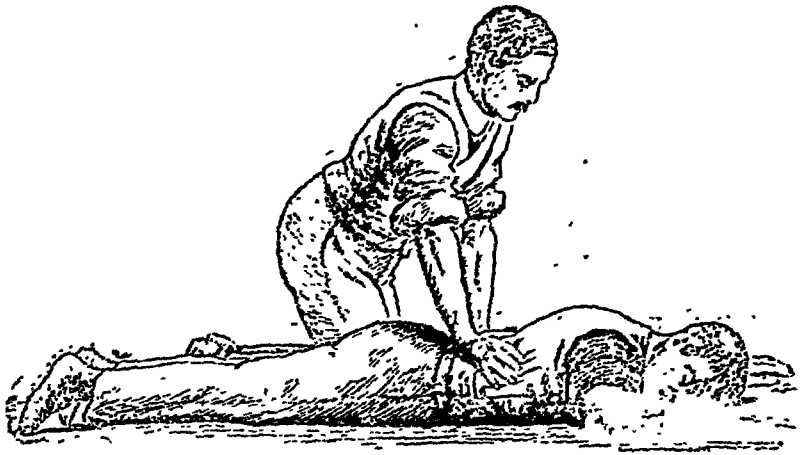
अ—चिकित्सक या प्रयोगकर्त्ता अपने शरीर के भार से रोगी का वक्ष दबा रहा है।

ब—चिकित्सक वक्ष दबाने के बाद पीछे हट जाता है, जिससे वक्ष के फैलने से फुस्फुस वायु को भीतर खींच लेते हैं।

उसके शरीर को हानि न पहुँचे। एक मनुष्य उसके शरीर को अपनी टाँगों के बीच में करके उसके वक्ष पर पीठ की ओर दोनों हाथ रखकर बैठ जाता है और वक्ष को नीचे की ओर दाबना आरंभ करता है। ऐसा करने से पृथ्वी और उस मनुष्य के शरीर के बीच में रोगी का वक्ष दबता है, जिससे भीतर का स्थान कम होने से फुस्फुस दबते हैं और उनके भीतर की वायु निकल जाती है। इस प्रकार जितनी भी वायु निकल सके निकाल देनी चाहिए। जितने भी ज़ोर से वक्ष दबाया जा सके, दबाना चाहिए।

इसके पश्चात् श्वासनकर्ता अपने भार को रोगी के शरीर पर से धीरे-धीरे हटाता है, जिससे वक्ष फिर चौड़ा हो जाता है और वायु फुस्फुस में प्रवेश करती है। इसके पश्चात् फिर वही वक्ष को दबाने की क्रिया आरंभ करनी चाहिए। इसी प्रकार १ मिनट में पंद्रह बार के लगभग यह क्रिया होनी चाहिए और कम-से-कम आध घंटे तक जारी रखनी चाहिए। यदि फिर भी हृदय की धड़कन बंद न हो तो इस क्रिया को जारी रखना चाहिए। जबतक हृदय धड़कना बंद न करे उस समय तक यह क्रिया बंद नहीं करनी चाहिए। कुछ रोगियों को दो घंटे तक कृत्रिम श्वास करने के पश्चात् लाभ हुआ है।

इस प्रकार प्रकृति शुद्ध वायु द्वारा सारे शरीर की शुद्धि करती है; रक्त के द्वारा शरीर को प्राण वायु प्रदान करती है और जीवन की ज्योति स्थिर रखती है। शरीर के प्रत्येक भाग में शुद्ध वायु के पहुँचने के कैसे-कैसे अद्भुत प्रबंध किए गए हैं; फिर भी कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो प्रकृति की अवहेलना करते हैं। वे शुद्ध वायु से घबराते हैं। रात्रि में सोते समय कमरे के सब किवाड़ बंद कर लेते हैं, जिससे वायु भीतर न आ सके। उनके विचार में

ठंडी वायु शरीर को हानि करती है। वह नहीं जानते कि नासिका, स्वर-यंत्र, और वायु-प्रणाली ठंडी-से-ठंडी वायु को उष्ण करके फुस्फुस में जाने देते हैं। यह वायु सब प्रकार के रोगों का नाश करती है और शरीर को शक्ति देती है। जितने भी भिन्न-भिन्न फुस्फुस के रोग हैं, उनकी एकमात्र औषधि स्वच्छ और शुद्ध वायु है। निमोनिया-जैसे रोगों में इसकी और भी अधिक आवश्यकता होती है। दुर्भाग्य-वश हमारे देश में निमोनिया के नाम का यह अर्थ समझा जाता है कि रोगी को ऐसे स्थान में रखना चाहिए जहाँ वायु प्रवेश ही न कर सके। इसी प्रकार स्त्रियों को प्रसव-काल में अत्यंत गंदे स्थान में रक्खा जाता है। परिणाम यह होता है कि जो रोगी बच सकते थे वे भी काल के ग्रास बनते हैं और सहस्रों स्त्रियाँ प्रसव-काल में राजयक्ष्मा का शिकार बनती हैं।

पक्वाशय, अग्न्याशय, प्लीहा इत्यादि।
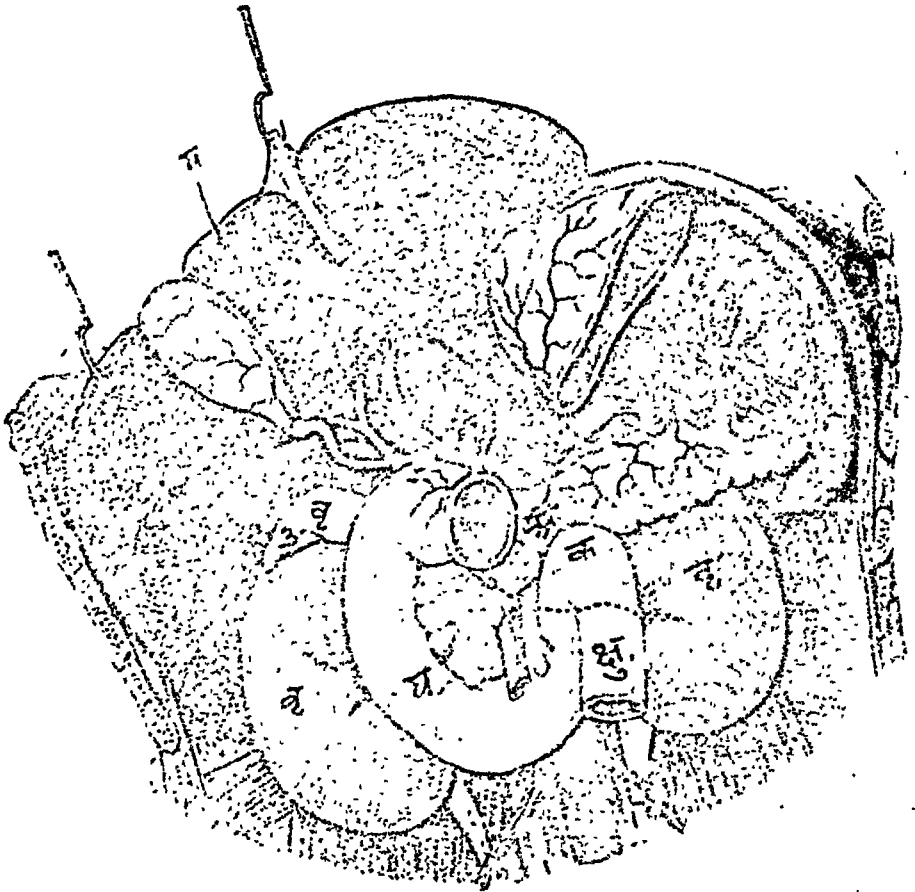
म—यकृत का अधोतल	वृ. वृ—दाहिना और बायाँ वृक्क
उ. वृ—उपवृक्क	प—पक्वाशय
य—आमाशय का ऊपरी भाग	क—पक्वाशय और क्षुद्रांत्र का संगम
क्ष—क्षुद्रांत्र का आरंभ	अ—अग्न्याशय

अग्न्याशय का बहुत सा भाग नीचे के अंग दिखाने के लिये काटकर निकाल दिया गया है।

पृष्ठ-संख्या २१२

पाचक-संस्थान

मनुष्य के भौतिक अस्तित्व का बीज जिस समय पड़ता है, तब यह इतना छोटा होता है कि बिना यंत्र के वह देखा भी नहीं जा सकता। उस एक सेल में दूसरे अनेक सेल धीरे-धीरे आकर संयुक्त हो जाते हैं। उनकी वृद्धि होती है और नव मास के पश्चात् वे सब सेल शिशु के शरीर के आकार में प्रकट होते हैं। संसार के सब पदार्थ इसी भाँति बढ़ते हैं। वे केवल चैतन्य ही नहीं किंतु जड़ वस्तुएँ भी बढ़ती हैं। एक पत्थर यदि किसी स्थान पर पड़ा रहता है, तो समय पाकर वह बड़ा हो जाता है। यदि किसी प्रकार एक स्थान पर कोई टीला बन जाता है तो धीरे-धीरे उस पर मिट्टी इत्यादि के पड़ने से वह और बड़ा हो जाता है। किंतु चैतन्य सृष्टि और निर्जीव सृष्टि की वृद्धि के क्रम में बड़ा अंतर है। निर्जीव सृष्टि की वृद्धि दूसरी वस्तुओं के बाहर से केवल मिल जाने के कारण होती है। एक पत्थर की शिला जो कुछ काल से एक ही स्थान पर पड़ी हुई है समय पाकर आकार में बढ़ जाती है। बढ़ने का कारण यह होता है कि धूल, मिट्टी इत्यादि उसपर

सदा ऊपर से आकर पड़ते रहते हैं । कुछ समय के पश्चात् यह मिट्टी के कण शिला पर जम जाते हैं और फिर अलग नहीं होते। रासायनिक क्रियाओं में भी स्फटिकों की वृद्धि ठीक इसी प्रकार होती है । यदि किसी वस्तु के एक बड़े स्फट को हम एक ऐसे तरल पदार्थ में रख दें जिसमें उस वस्तु का काफ़ी भाग है तो वह स्फट अपनी वस्तु को उस तरल से खींच लेगा और उस वस्तु के कण उस बड़े स्फट के चारों ओर एकत्रित होते चले जायँगे। इस प्रकार उस स्फट की वृद्धि होगी । निर्जीव व जड़ सृष्टियों में इसी प्रकार वृद्धि होती है ।

चैतन्य सृष्टि की वृद्धि इससे बिलकुल ही भिन्न है। उनकी वृद्धि भोजन के समीकरण द्वारा होती है। उनको भोजन के कतिपय वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इन वस्तुओं को वह ग्रहण करते हैं और उनका पाचन होता है । यह पदार्थ रासायनिक क्रियाओं द्वारा बहुत छोटे-छोटे कणों में विभाजित हो जाते हैं। शरीर इनको रस के स्वरूप में ग्रहण करता है और उस रस द्वारा सारे अंगों को भोजन पहुँचाता है, जिसका स्वरूप हमारे भोज्य पदार्थों से बिल्कुल भिन्न होता है। इस भोजन को ग्रहण करने के पश्चात् शरीरांगों के सेल बनते हैं जिनसे सारे शरीर की वृद्धि होती है । इस प्रकार खाए हुए भोजन का पहले समीकरण होता है और समीकरण के पश्चात् शरीर की वृद्धि होती है।

वृक्ष वायु के कार्बन-डाइ-ओक्साइड से कार्बन ग्रहण करते हैं। पृथ्वी से जल ग्रहण करते हैं । दोनों वस्तुओं के कणों अथवा अणुओं के प्रबंध में काट-छाँट होती है । जिससे जल के हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के परमाणु वायु के कार्बन के साथ मिल जाते हैं और कर्बोज व श्वेतसार बन जाता है, जिससे वृक्ष के

शरीर के सेलों में उत्पत्ति होती है और वृक्षों का शरीर बढ़ता है।

मनुष्य को शरीर की वृद्धि के लिये, उसके पोषण के लिये और जो कार्य वह रात-दिन करता है उसको करने के लिये पर्याप्त शक्ति प्राप्त करने के वास्ते भोजन की आवश्यकता होती है। जब तक बच्चा माता के गर्भ में रहता है वह अपने शरीर के पोषण के वास्ते सारा भोजन माता के रक्त द्वारा प्राप्त करता है। माता का रक्त गर्भाशय के पुरइन (Placenta) द्वारा बच्चे के शरीर में भोजन पहुँचाता है। किंतु जब बच्चा गर्भ से बाहर आ जाता है, तब उसको स्वयं भोजन ग्रहण करना पड़ता है और उसका समीकरण भी स्वयं ही करना पड़ता है। आयु के कुछ मास तक माता का दूध ही बच्चे के शरीर को सब आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करता है। माता के दूध में बच्चे के शरीर की वृद्धि के लिये सब अवयव ऐसे उत्तम स्वरूप से उपस्थित रहते हैं कि बच्चे की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये माता के दूध से अधिक कोई भी उत्तम वस्तु संसार में अबतक नहीं बन सकी है। बच्चे की पाचन-शक्ति बहुत कमज़ोर होती है, उसका पाचन तनिक-सी भी कोई अपच्य-वस्तु खाने से बिगड़ जाता है। इस वास्ते प्रकृति ने उसके लिये ऐसा प्रबंध किया है कि ठीक वही वस्तुएँ जो उसके शरीर के लिये आवश्यक हैं उसको ऐसे रूप में मिलें कि वह उनका पूर्णतया समीकरण कर सके। केवल माता का दूध ही ऐसी वस्तु है जिसमें बच्चे के लिये सारे आवश्यक अवयव उचित और शीघ्र पचनेवाले स्वरुप में उपस्थित हैं।

ज्यों-ज्यों बच्चे की आयु बढ़ती है त्यों-त्यों उसके शरीर को आवश्यकताएँ भी बढ़ती हैं। उसकी पाचन-शक्ति भी बढ़ती है और

इस कारण उसको कई प्रकार के भोजन की आवश्यकता होती है। दाँत निकलने से यह विदित हो जाता है कि बच्चा अब कारबोहाइड्रेट पचा सकता है और उसको इस वस्तु की आवश्यकता है। धीरे-धीरे उसको सब प्रकार के भोजनों की जिनको मनुष्य ने अब तक खोजा है आवश्यकता होती है। वह भोजन को अपने दाँतों द्वारा चबाना सीखता है, इससे उसके दाँत भी दृढ़ होते हैं और मुख का रस व थूक (Saliva) भी बनता है जो कारबोहाइड्रेट को पचाने के लिये आवश्यक है।

भोजन को पचाने में सबसे बड़े सहायक दाँत होते हैं। ये भोजन को बहुत छोटे-छोटे कणों में विभाजित कर देते हैं जिससे पाचक रसों की उनपर भलीभाँति क्रिया होती है। दाँतों की बनावट इस प्रकार की है कि ऊपर और नीचे के दाँत एक चक्की की भाँति काम करते हैं। यदि मुँह को बंद करके देखें तो मालूम होगा कि नीचे के दाँत ठीक ऊपर के दाँतों पर नहीं बैठते। जब हम मुँह बंद करते हैं तो नीचे के दाँत ऊपर के दाँतों के भीतर की ओर रगड़ खाते हुए कुछ ऊपर आकर ठहर जाते हैं, जहाँ वे ऊपर के दाँतों की पीठ पर लगे रहते हैं। यदि ऐसा न हो और दोनों जबड़ों के दाँत बीच ही में मिल जाया करते तो कुतरने का कार्य संभव नहीं था। जब तक नीचे के दाँत ऊपर के दाँतों से कुछ अंतर पर रहते हुए उनसे न रगड़ेंगे तबतक कोई वस्तु काटी नहीं जा सकती।

दाँत भी कई प्रकार के होते हैं। आगे के दो दाँतों का काम कुतरने का है। उनके पीछे एक नुकीला दाँत होता है जिसे कीला कहते हैं। उसमें वस्तु को भेदने की शक्ति होती है। यदि कोई वस्तु सहज में आगे के दाँतों से नहीं कटती त

उसको इसी दाँत की सहायता से काटना होता है। इसके पीछे जो दाँत होते हैं उनका काम चबाने का है। इनमें भी दो प्रकार के दाँत होते हैं। सबसे पीछे की दो डाढ़ें बड़ी और चौड़ी होती हैं किंतु उनके आगे की तीन डाढ़ें छोटी होती हैं। इन दोनों प्रकार के डाढ़ों की बनावट भी कुछ भिन्न होती है।

चित्र नं० ५१—दाँत की आंतरिक रचना—लंबाई की ओर से लिया हुआ परिच्छेद।
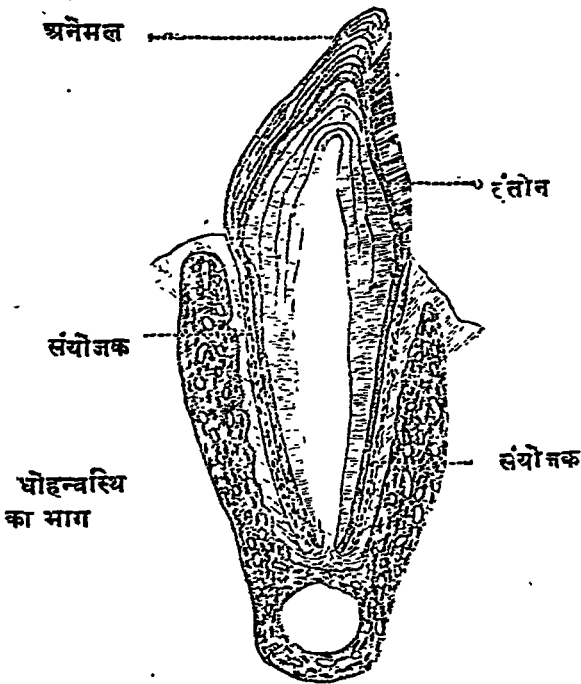
इस प्रकार युवा मनुष्य के मुख में ३२ दाँत होते हैं। यदि हम

नीचे और ऊपर के जवड़ों में एक ओर से दूसरी ओर के दाँतों को गिनें तो हमको दाँतों का निम्न-लिखित क्रम मिलेगा।

	चर्वण	अग्रचर्वण	भेदक	छेदक	छेदक	भेदक	अग्रचर्वण	चर्वण
ऊपर का जवड़ा	२	३	१	२	२	१	३	२
नीचे का जवड़ा	२	३	१	२	२	१	३	२

इस तरह कुल मिलकर ३२ दाँत होते हैं। प्रत्येक आधे जवड़े में ८ दाँत रहते हैं जिनका क्रम उपर-लिखित होता है। यह सव भिन्न-भिन्न आयु में निकलते हैं। बच्चे के दाँत युवा मनुष्य के दाँतों से भिन्न होते हैं। उसमें अग्रचर्वण बिल्कुल नहीं होते। इस कारण बच्चों के जवड़ों में केवल २० दाँत मिलेंगे। प्रत्येक जवड़े में ४ छेदक, २ भेदक, और ४ चर्वण दाँत होते हैं। इसके अतिरिक्त बच्चे के दाँत कोमल होते हैं; उनमें इतनी दृढ़ता नहीं होती जितनी कि युवा मनुष्य के दाँतों में होती है।

युवा मनुष्य और बालक दोनों का दाँत निकलने का समय निश्चित होता है। कभी-कभी समय में घटावढ़ी हो जाती है किंतु अधिकतर दूध के दाँत व स्थायी दाँत अपने समय पर निकलते हैं। इस कारण इनसे व्यक्ति की आयु का पता लगाने में वड़ी सहायता मिलती है।

दाँतों द्वारा चावा हुआ भोजन, अन्न-प्रणाली में होकर आमाशय में पहुँचता है। वहाँ पाचन आरंभ होता है। इसके पश्चात् भोजन अंत्रियों में जाता है। क्षुद्र अंत्रियों में भोजन का शोषण होता है। इसके पश्चात् बचा हुआ भाग बृहत् अंत्रियों में जाता है और अंत में मल के रूप में मलद्वार से वाहर निकल जाता है।

यह पाचन-प्रणाली बहुत लंबी और चक्रव्यूह के समान गूढ़ है। यहाँ जो रासायनिक क्रियाएँ होती हैं वे भी अत्यंत गूढ़ हैं।

भोजन को पचाने के लिये यहाँ ऐसा प्रबंध किया गया है कि कोई भोजन यहाँ से बच कर न निकल जाय। इसीलिये पाँच पाचक रस बनाए गए हैं जो सबप्रकार के भोजनों को गलाकर द्रव्य कर देते हैं। इस द्रव्य के शोषण के लिये बाइस फुट लंबी अंत्रियों के भीतर कोई ७०० फुट कला को इस प्रकार लगाया गया है कि वह थोड़े से स्थान में आजाय और द्रव्य भोजन का पूर्ण शोषण कर ले। अतएव इस प्रणाली का कुछ अधिक निरीक्षण करना आवश्यक है।

सब से पूर्व भोजन मुख में जाता है। यहाँ पर भोजन चबाया जाता है और उसमें थूक मिलता है। जैसा आगे चलकर मालूम होगा, थूक शरीर की त्याज्य वस्तुओं में नहीं है। यह एक पाचक रस है। मुँह में चारों ओर कुछ ग्रंथियाँ होती हैं जो इस रस को बनाया करती हैं। इस प्रकार मुख में चबाए हुए भोजन और थूक से मिलकर एक ग्रास बनता है जो अन्न-प्रणाली (Oesophagus) में होकर आमाशय में पहुँचता है।

अन्नप्रणाली लगभग १९ इंच लंबी एक मांस की नलिका है, जो भोजन को मुख से आमाशय तक पहुँचाती है। उसमें किसी प्रकार की अस्थि नहीं होती। इस कारण इस नली के पूर्व और पश्चिम दोनों भाग साधारणावस्था में मिले रहते हैं अर्थात् इसके भीतर कुछ स्थान नहीं रहता। जब मुख से भोजन जाता है, तब यह नलिका खुलती चली जाती है। इस नलिका के सामने की ओर श्वास-प्रणाली रहती है।

जिस स्थान पर अन्न-प्रणाली आमाशय से मिलती है, उस स्थान पर एक छिद्र रहता है। इस छिद्र में होकर भोजन आमाशय में पहुँचता है। इस छिद्र के चारों ओर पेशी के कुछ तंतु

इस प्रकार रहते हैं कि वे अपने संकोच से इस छिद्र को बंद कर देते हैं। जिस समय भोजन अन्न-प्रणाली से आमाशय में प्रवेश करता है, उस समय यह छिद्र खुल जाता है। इसको हार्दिक छिद्र कहते हैं।

आमाशय, जो पाचनकर्म का प्रधान अंग है, एक मांस का थैला है। शरीर में यह बाईं ओर पर्शुकाओं से नीचे उदर में रहता

चित्र नं० ४२—आमाशय
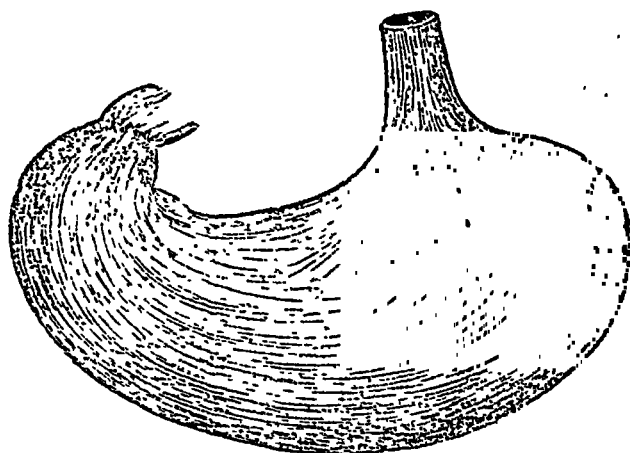
है। इस थैले का आकार भी विचित्र है। जैसे गोल थैलों के दो किनारे होते हैं, वैसे ही इसके भी हैं; किंतु एक छोटा है, जो ऊपर की ओर रहता है और दूसरा बड़ा है; वह नीचे की ओर रहता है। ऊपर से यह बिलकुल चिकना होता है। आगे की ओर जाकर आमाशय संकुचित हो जाता है; वहाँ से क्षुद्र अंत्रियों का आरंभ होता है।

आमाशय, पक्काशय इत्यादि। आमाशय के अंतिम भाग और पक्काशय के प्रारंभिक भाग की सामने की भित्ति काटकर दोनों भागों के बीच का द्वार दिखाया गया है।
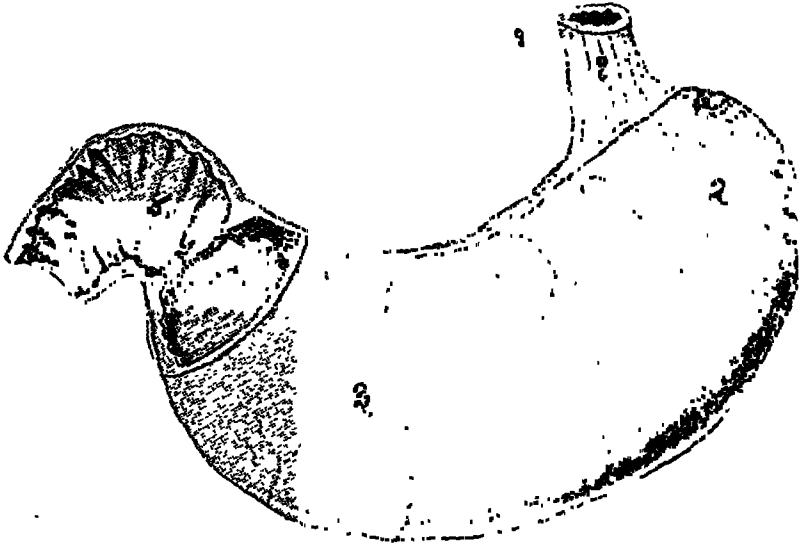
१. अन्न-प्रणाली का अंतिम भाग, जिसके द्वारा भोजन मुख से आमाशय में पहुँचता है। २, ३. आमाशय के मध्यांश और दक्षिणांश भाग। ४. पक्काशय। ५. पक्काशय और आमाशय के बीच का द्वार।

पृष्ठ-संख्या २२०

मानव-शरीर-रहस्य——प्लेट १३

आमाशय का भीतरी दृश्य। ऊपर की भित्ति फाड़ दी गई है।

पक्वाशय, अग्न्याशय, प्लीहा इत्यादि
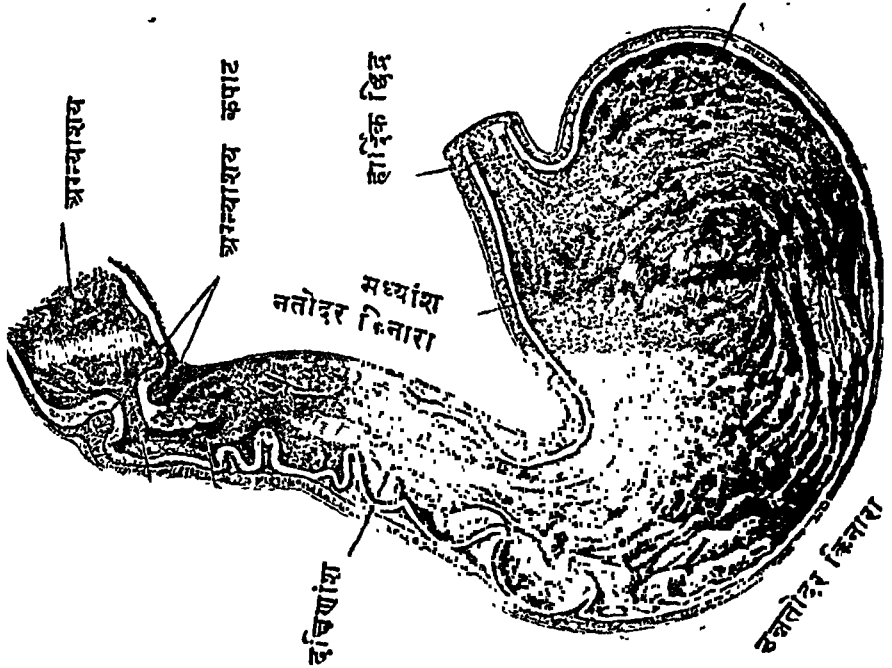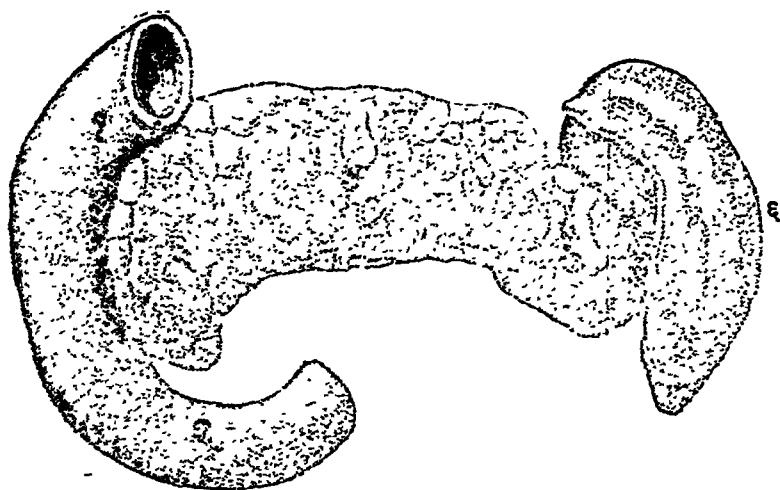
१, २. पक्वाशय के ऊर्ध्व और अधःभाग। ३, ४, ५. अग्न्याशय के शिर, गात्र और पुच्छ। ६. प्लीहा।

पृष्ठ-संख्या २२३
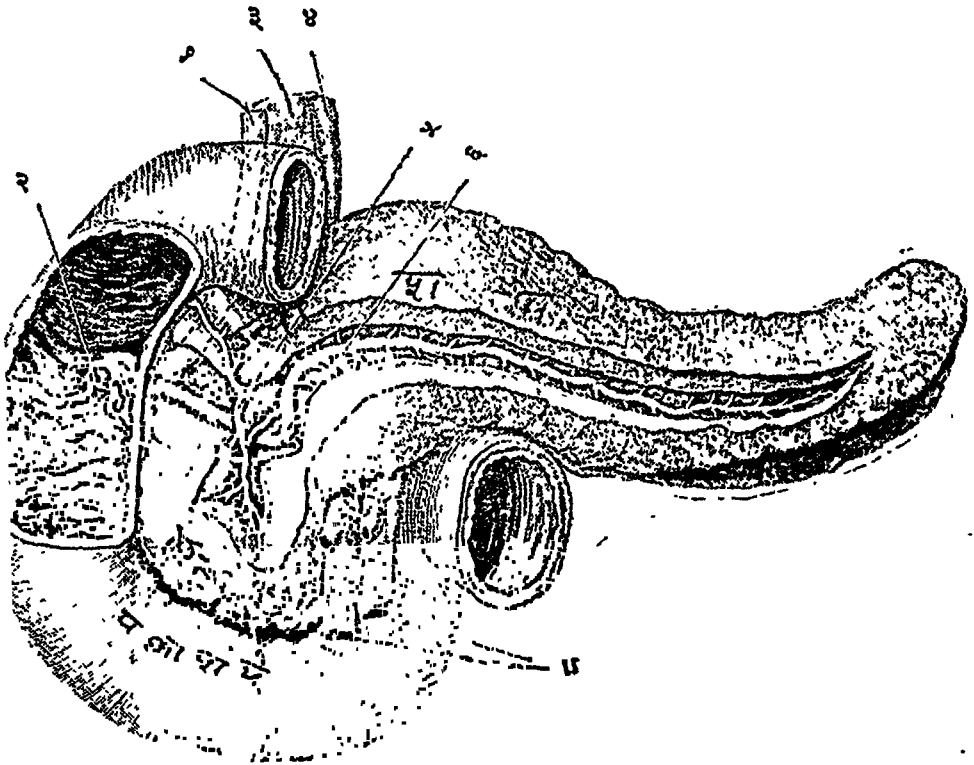
अग्न्याशय का कुछ भाग काटकर मुख्य नलिका और उसकी शाखाएं दिखाई गई हैं। साधारण पित्त-नलिका २ पित्त-नलिका और अग्न्याशय-नलिका का छिद्र; ३ प्रति-णी शिरा; ४ यकृतीय धमनी; ५ सहायक नलिका; ६ अग्न्याशय की नलिका; अग्न्याशय की पुच्छ; ८ अंत्रोधो रक्त-नलिका।

पृष्ठ-संख्या २२२

आमाशय में फैलने की शक्ति बहुत होती है। जिस समय इस में कुछ भोजन नहीं होता, उस समय इसकी भित्तियाँ आपस में मिली रहती हैं; किंतु जब यह भोजन से भर जाता है, तब फैलता है। कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा अधिक भोजन कर सकते हैं। उनके आमाशयों में अधिक स्थान होता है। कुछ मनुष्यों का व्यवसाय ही भोजन करने का होता है। उनके आमाशय बहुत अधिक फैले हुए मिलते हैं; किंतु उनमें वह शक्ति नहीं होती, जो एक साधारण स्वस्थ मनुष्य के आमाशय में होनी चाहिए।

दूसरी ओर जहाँ आमाशय समाप्त होता है और क्षुद्र अंत्रियों का वह भाग जो पक्काशय कहलाता है, आरंभ होता है, वहाँ भी एक छिद्र रहता है, जिसके चारों ओर पेशियाँ रहती हैं। यह पेशी संकुचित होकर इस छिद्र को बंद कर देती है, जिससे प्रत्येक समय भोजन आमाशय से पक्काशय में नहीं जा सकता। जब आमाशय में भोजन पक चुकता है, तब यह द्वार खुलता है और भोजन पक्काशय में आता है।

यदि भीतर से आमाशय को काटकर देखा जाय, तो वहाँ भी विचित्र बनावट दिखाई देगी। भीतर की कला समान नहीं होती; किंतु झालर की भाँति वह सिकुड़ी हुई रहती है। कहीं पर वह उठी रहती है, और कहीं पर फिर नीचे की ओर दब जाती है। इस प्रकार सारे आमाशय में भीतर की ओर बहुत बड़ी और गहरी झुर्रीं पड़ी रहती हैं। कभी-कभी माथे की पेशियों को सिकोड़ने से वहाँ के चर्म में सिकुड़न पड़ जाती है। यदि इन सिकुड़नों को गहरी और बड़ी कल्पना कर लें, तो हम आमाशय के भीतर की कला के सिकुड़नों की कपना कर सकते हैं।

आमाशय की दीवारों में वे ग्रंथियाँ रहती हैं जो आमाशय

के पाचक रस को बनाती हैं। ये ग्रंथियाँ कई प्रकार की होती हैं और भिन्न-भिन्न ग्रंथियों से रस के भिन्न-भिन्न भाग बनते हैं।

आमाशय के दूसरे सिरे से पक्वाशय आरंभ होता है। यह क्षुद्र अंत्रियों का मुड़ा हुआ छोटा-सा भाग है। यदि इसको खोलकर सीधा कर दें, तो यह बारह अंगुल के लगभग लंबा होगा। आकार में क्षुद्र अंत्रियों की भाँति यह एक गोल नलिका के समान दिखाई देता है। इसके मुड़ने से जो एक छोटा चक्र बन जाता है उसमें एक विशेष ग्रंथि रहती है। इसको अग्न्याशय कहते हैं। पाचन के लिये यह ग्रंथि बहुत महत्त्व की है। इस कारण संक्षेपतः इसका वर्णन आवश्यक मालूम होता है। आजकल मधुमेह (Diabetes) का कारण इसी को मानते हैं।

इस ग्रंथि का सिर पक्वाशय के चक्र में रहता है, और पुच्छ पीछे की ओर रहती है, जहाँ इसका अंतिम भाग प्लीहा से मिल जाता है। इसका गात्र आमाशय के पीछे की ओर रहता है। ऊपर से देखने से इसकी बनावट एक बहुत बड़े शहतूत की भाँति दिखाई देती है। जिस प्रकार शहतूत पर बहुत-से दाने उभरे रहते हैं, उसी भाँति यह ग्रंथि भी ऐसे ही दानों की बनी हुई दिखाई देती है। यह पाँच या छः इंच लंबी होती है।

यह ग्रंथि एक पाचक रस बनाती है, जो एक नलिका में होकर पक्वाशय में पहुँचता है। ग्रंथि के भिन्न-भिन्न भागों से पतली-पतली नलिकाएँ निकलकर उसमें मिलती हैं। इस प्रकार यह पाचक रस सारी ग्रंथि से तैयार होकर बृहत् नलिका के द्वारा पक्वाशय में पहुँचकर वहाँ भोजन के पाचन में सहायता देता है।

पक्वाशय के पश्चात् क्षुद्रांत्रियाँ आरंभ होती हैं। यह एक बाइस फुट लंबी नली है और इस नली का व्यास कोई डेढ़ इंच है।

आमाशय के दक्षिणांश भाग का परिच्छेद जिसमें इस भाग की ग्रंथियाँ दीखती हैं। आंतरिक श्लैष्मिक कला अंकुरों का रूप धारण कर लेती हैं।
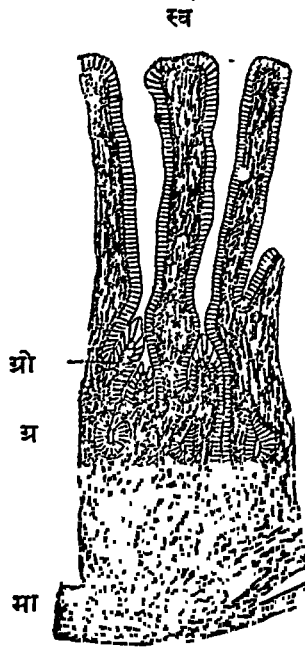
स्व—स्वतंत्र नल
न—ग्रंथियों की नलिका
ग्री—ग्रीवा
ग्र—ग्रंथि
मा—मांशपेशी श्लैष्मिक कला-सहित

Klien and Noble Smith

पृष्ठ-संख्या २२३

मानव-शरीर रहस्य—प्लेट १७

उदर के सामने की पेशी इत्यादि काटकर अँत्रियाँ और उनको आच्छादित करनेवाली कला दिखाई गई है।
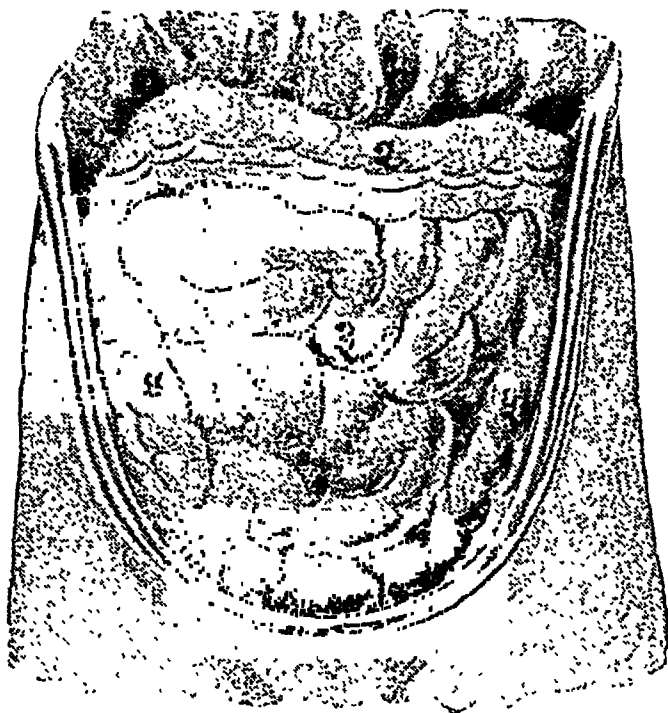
१. अनुप्रस्थ बृहदन्त्र को आच्छादित करनेवाली कला जो ऊपर की ओर उठा दी गई है। २. अनुप्रस्थ बृहदन्त्र। ३. क्षुद्रांत्रा। ४. ऊर्ध्वगामी बृहदन्त्र। ५. अधोगामी बृहद-अंत्र।

पृष्ठ-संख्या २२३

उदर में इस नली की गेंडलिएँ बनी रहती हैं ; अर्थात् जिस प्रकार सर्प गेंडलिएँ मारे रहता है, उसी प्रकार यह नली भी रहती है। एक भाग दूसरे के ऊपर चढ़ा रहता है। इसमें विशेपता आंतरिक रचना में है। भीतर की कला का प्रबंध वैसा ही होता है, जैसा आमाशय की कला का ; किंतु यहाँ पर कला की सिकुड़न आमाशय की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। सिलवटों की अधिकता और उनका प्रयोजन उस समय स्पष्ट होगा जब क्षुद्रांत्रियों के कार्य का वर्णन किया जायगा।

क्षुद्रांत्रियों की दीवारें अनैच्छिक पेशियों की बनी होती हैं, जिनमें प्रत्येक समय गति हुआ करती है। इन पेशियों के बीच में कुछ ग्रंथियाँ रहती हैं, जो आंत्रिक रस को बनाती हैं।

क्षुद्रांत्रियों के पश्चात् बृहद् अंत्रि आरंभ होती है। बृहद् अंत्रि क्षुद्रान्त्र की अपेक्षा अधिक चौड़ी होती है। इसकी लंबाई पाँच फ़ुट के लगभग है। क्षुद्र अंत्रि बृहदान्त्र के साथ दाहिनी ओर श्रोणिफलक के पास जुड़ती है। यहाँ से बृहद् अंत्र ऊपर की ओर चढ़ता है। यकृत के नीचे पहुँचकर फिर यह बाईं ओर को मुड़ता है। वहाँ प्लीहा तक पहुँचकर फिर नीचे की ओर चलता है। यह भाग अधोगामी बृहद् अंत्र कहलाता है। बाईं ओर के श्रोणिफलक के पास यह भीतर को ओर मुड़कर वस्ति-गह्वर में चला जाता है।

जो भाग वस्ति में रहता है, वह २२ इंच के लगभग लंबा है। इसका अंतिम डेढ़ या दो इंच का भाग गुदा कहलाता है, जिसका अंत मलद्वार पर होता है। गुदा के ऊपर का पाँच इंच लंबा भाग मलाशय कहलाता है। जिस प्रकार का मल बाहर निकलता है, वह मलाशय और वस्ति के भीतर स्थित बृहदान्त्र में बनता है।

पाचन में विशेष सहायता देनेवाली एक और ग्रंथि है। वह यकृत है। उसके कार्य और आकार का विस्तारपूर्वक वर्णन आगे चलकर किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि पित्त, जिससे बहुत-सी वस्तुओं के पाचन में सहायता मिलती है, यकृत में बनता है। यह ग्रंथि शरीर में दाहिनी ओर नीचे की छठी पशुका के नीचे से आरंभ होकर दसवीं पशुका के नीचे तक फैली रहती है। साधारण अवस्था में इसको हाथ से स्पर्श नहीं कर सकते, किंतु जब किसी रोग से यह बढ़ जाती है, तब उँगलियों से उदर को दबाकर इसको प्रतीत कर सकते हैं। पित्त यकृत में बनता है। यकृत से एक नली द्वारा वह पित्ताशय में आकर एकत्रित हो जाता है। यह पित्ताशय यकृत के अगले किनारे के सामने रहता है। दाहिनी ओर की नवीं पशुका का कारटिलेज पित्ताशय को ढक लेता है। पित्ताशय से एक नलिका पित्त को पक्काशय तक पहुँचाती है।

प्रकृति ने मनुष्य के शरीर के पोषण के लिये इतना विस्तृत प्रबंध कर रखा है। इस सारे प्रबंध का प्रयोजन यही है कि मनुष्य संसार में उपस्थित वस्तुओं से अपने शरीर के मुख्य अवयवों को ढूँढ़ ले और उनको ग्रहण करे। हम पहले देख चुके हैं कि मनुष्य का शरीर हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, कार्बन, नाइट्रोजन, गंधक, फ़ास्फ़ोरस, केलशियम, लोह, पोटाशियम इत्यादि वस्तुओं के संयोग से बना है। ये वस्तुएँ संसार को सृष्टि के समय से उपस्थित थीं और अब भी इनकी कुछ कमी नहीं है। किंतु मनुष्य का शरीर इन मौलिक वस्तुओं का कुछ भी उपयोग नहीं कर सकता। वायु-मंडल के नाइट्रोजन से शरीर को कुछ लाभ नहीं। कोयले के काले कार्बन से मनुष्य को शक्ति नहीं मिल सकती। दियासलाई की गंधक भी

मानव-शरीर-रहस्य—प्लेट १८

पक्वाशय की आंतरिक रचना, चौड़ाई का परिच्छेद
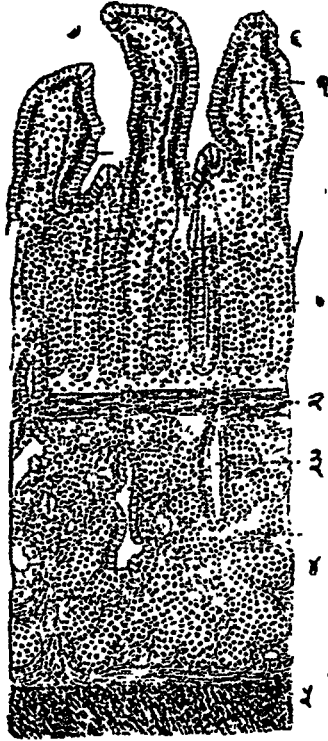
१. अंकुर; २. पेशी का सूक्ष्म स्तर; ३. ग्रंथियों की नलिकाएँ; ४. ग्रंथि; ५. मांसपेशी।

पृष्ठ-संख्या २२४

शरीर के किसी काम में नहीं आ सकतों। इन मौलिक-स्वरूप पदार्थों को शरीर ग्रहण नहीं कर सकता।

शरीर के लिये इन मौलिकों के उन संयुक्त पदार्थों की आवश्यकता है जिनमें सूर्य की शक्ति छिपी हुई है, जिनके तैयार होने में सूर्य की शक्ति से काम लिया गया है। ऐसी वस्तुओं से मनुष्य को वह शक्ति मिल सकती है, जो उसके शारीरिक परिश्रम के लिये व भिन्न-भिन्न शक्ति के प्रयोगों के लिये आवश्यक है। इनका कुछ वर्णन पहले किया जा चुका है।

संसार में नाना प्रकार के भोजन के पदार्थ हैं। वृक्ष बहुत भाँति की ऐसी वस्तुओं को बनाते हैं, जिनमें ये सब मौलिक उपस्थित हैं। इन्हीं के प्रयोगों से हमको शक्ति मिलती है। शरीर इन वस्तुओं का प्रयोग करता है, उनका भंजन करता है और सूर्य की शक्ति से, जो उनमें छिपी हुई है, शक्ति ग्रहण करता है।

जैसा पूर्व में कहा जा चुका है, संसार के भोजन-पदार्थ रासायनिक संगठन के अनुसार तीन बड़ी श्रेणियों में विभाजित किए जा सकते हैं—१ प्रोटीन, २ वसा, ३ कर्बोज या कारबोहाइड्रेट। अंडा, मांस, दूध, दही प्रोटीन हैं। घी, मक्खन, तेल वसा हैं। श्वेतसार, मैदा, गेहूँ का आटा, चावल इत्यादि नित्यप्रति खाने की वस्तुओं में कर्बोज का बहुत अधिक भाग है। ये वस्तुएँ कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, गंधक, फ़ास्फोरस इत्यादि के भिन्न-भिन्न संयोगों से बनी हैं। इन भिन्न-भिन्न वस्तुओं का रासायनिक संगठन पूर्व ही बताया जा चुका है। प्रोटीन में नाइट्रोजन होता है; दूसरी वस्तुओं में नाइट्रोजन नहीं होता।

मनुष्य को भोजन की आवश्यकता कई कारणों से होती है। उसको दिन-रात काम करने के लिये शक्ति की आवश्यकता होती

है। कार्य करने से उसके शरीर के तंतुओं में जो क्षति होती है, उसकी पूर्ति करना भी आवश्यक है। इन दोनों कामों के लिये भोजन की आवश्यकता होती है। अतएव भोजन ऐसा होना चाहिए, जो इन बातों को पूरा करे। (Eat to live and not live to eat) अर्थात् भोजन जीवन के लिये है, न कि जीवन भोजन के लिये। हमारे देश में कुछ लोग तो अवश्य ही ऐसे हैं, जिनका जीवन भोजन के लिये है, इसके अतिरिक्त उनके जीवन का और कुछ प्रयोजन ही नहीं है।

अतएव वही उत्तम भोजन है, जो शारीरिक आवश्यकताओं को पूर्ण करे। शरीर के तंतुओं में नाइट्रोजन होती है। अतएव उनकी पूर्ति के लिये प्रोटीन आवश्यक है। शारीरिक परिश्रम की शक्ति के लिये कर्बोज और वसा आवश्यक हैं। इन सब वस्तुओं के गुणों का वर्णन आरंभ में किया जा चुका है। ये अंतिम दोनों वस्तुएँ शारीरिक एंजिन के लिये कोयला हैं। आगे चलकर इसका विचार करना होगा कि मनुष्य को किस-किस वस्तु की कितनी आवश्यकता है। पहले यह देखना है कि शरीर इनको किस प्रकार पचाता और ग्रहण करता है।

हम देख चुके हैं कि पाचक-विभाग के मुख्य कर्मचारी पाँच हैं— मुख, आमाशय, पक्वाशय, क्षुद्रांत्रियाँ और यकृत। ये कर्मचारी-गण अपने भिन्न-भिन्न दंड रखते हैं, जिनके प्रताप से उनके सामने आनेवालों को सिर झुकाना पड़ता है। सबसे प्रथम आगंतुकों को मुख का सामना करना पड़ता है, जिसकी चक्की सदा चला ही करती है।

लाला (Saliva)—मुख का थूक व लाला निकृष्ट वस्तु नहीं है। यह एक रासायनिक वस्तु, है जिसकी भोजन पर

विशेष क्रिया होती है। इसमें एक अवयव होता है, जिसको टायलिन (Ptyalin) कहते हैं। इसका यह गुण है कि वह भोजन के कर्वोज व श्वेतसार को, जो पानी में उबला हुआ है या गरम किया हुआ है, दो वस्तुओं में विभाजित कर देता है जिसको डैक्सट्रिन और माल्टोज़ (Dextrin & maltose) कहते हैं। माल्टोज़ एक प्रकार की शर्करा होती है। डैक्सटिन का संगठन माल्टोज़ से भिन्न होता है, किंतु लाला की अधिक क्रिया होने से वह भी शर्करा के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

थूक को रासायनिक क्रिया के अतिरिक्त कुछ भौतिक क्रिया भी होती है। वह मुख की कला को गीली रखता है और भोजन को भी गीला कर देता है। यदि चबा हुआ भोजन गीला न हो, तो उसका निगलना बड़ा कठिन है। यह थूक मुख्यतया छः बड़ी ग्रंथियों में बनता है, जो मुख के चारों ओर स्थित हैं। उन ग्रंथियों से विशेष नलिकाएँ आकर मुख में यतस्तत: खुलती हैं, जिनके द्वारा थूक मुख में आता है।

इन ग्रंथियों का नाड़ी द्वारा मस्तिष्क से संबंध रहता हैं। जब उन नाड़ियों में उत्तेजना उत्पन्न होती है, तो ये ग्रंथियाँ तेज़ी से काम करने लगती हैं और थूक खूब बनता है। यह एक साधारण अनुभव है कि उत्तम स्वादिष्ट भोजन को देखकर मुँह में पानी भर आता है। वह पानी यह रासायनिक पदार्थ लाला ही है। स्वादिष्ट भोजन को देखकर या उसकी सुगंध से नाड़ियाँ उत्तेजित हो जाती हैं और ग्रंथियों की फैक्टरी तेज़ी से काम करने लगती है।

थूक में क्षार रहता है। इस कारण अम्ल के उपस्थित होने से उसका नाश हो जाता है। आमाशय के रस में अम्ल रहता है। इस कारण थूक से मिला हुआ जो भोजन आमाशय में पहुँचता

है, उसका थूक बहुत कुछ नष्ट हो जाता है। बहुतों का कहना है कि आमाशय में भी थूक की कुछ समय तक क्रिया होती रहती है, क्योंकि आमाशय-रस की क्रिया सबसे पहले तो भोजन के ग्रास के उस भाग पर होती है, जो बाहर की ओर होता है। अतएव भीतर के भाग में मिला हुआ थूक कुछ समय तक अपना काम करता रहता है।

आमाशय-रस (Gastric-juice)—मुख में पचा हुआ भोजन जब आमाशय में पहुँचता है, तो उस पर आमाशय-रस की क्रिया होना आरंभ होती है। इस रस में क्रिया करनेवाली दो मुख्य वस्तुएँ होती हैं—एक पेप्सिन और दूसरा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल (Pepsin and Hydrochloricacid)। इनके अतिरिक्त सोडियम, पोटाशियम, केलशियम, लोह इत्यादि के कुछ लवण भी रहते हैं। किंतु पाचन करनेवाली मुख्य वस्तु पेप्सिन और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल ही हैं।

ये दोनों वस्तुएँ आमाशय की भित्तियों में स्थित ग्रंथियों में बनती हैं। किंतु दोनों वस्तुओं को बनानेवाली ग्रंथियाँ भिन्न होती हैं, अथवा यों कहना चाहिए कि भिन्न-भिन्न सेलों द्वारा ये भिन्न वस्तुएँ बनती हैं। रक्त, जिससे ये ग्रंथियाँ इस आम्लिक रस को तैयार करती हैं, क्षारीय होता है; किंतु आमाशय के सेल उसी रक्त से यह अम्लिक वस्तु तैयार करते हैं। बहुत लोग इस क्रिया को रक्त के कुछ लवणों पर निर्भर बताते हैं, किंतु इसमें संदेह नहीं है कि यह आमाशय के ग्रंथियों के सेलों का विशेष गुण है, जिससे क्षारीय रक्त से यह अम्लिक रस तैयार हो जाता है।

पेप्सिन के अतिरिक्त अन्य सब पाचक रसों की क्रिया के लिये क्षार की आवश्यकता है। थूक का टायलिन क्षार के साथ मिल

कर कार्य करता है । अग्न्याशय-रस में भी क्षार होता है । आंत्रिक रस की क्रिया भी विना क्षार के नहीं होती । केवल आमाशय के पेप्सिन ही को अम्ल की आवश्यकता होती है; और वह भी हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की । यदि इसके स्थान में कोई दूसरा अम्ल हो, तो उसकी उतनी उत्तम क्रिया नहीं होगी ।

प्रोटीन पर रस की क्रिया—आमाशय-रस की सबसे मुख्य क्रिया प्रोटीनों पर होती है । प्रोटीनों का पाचन आमाशय में होता है । यह क्रिया पेप्सिन और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की होती है । ये दोनों वस्तुएँ मिलकर प्रोटीन को पचा देती हैं । पचाने से यह प्रयोजन है कि प्रोटीन के कण जो बहुत बड़े-बड़े होते हैं, वे छोटे अवयवों में टूट जाते हैं और अंत में वे इस दशा में आ जाते हैं कि शरीर उनको ग्रहण कर सकता है । यह एक रासायनिक क्रिया होती है, जो शरीर के बाहर भी परीक्षा-नलिका में की जा सकती है । जब हम एक नली में थोड़े-से आमाशय-रस को मांस के एक टुकड़े व अंडे की सफ़ेदी के साथ मिलाते हैं, तो इन भोजन पदार्थों पर रस की रासायनिक क्रिया होना आरंभ होता है, जिससे प्रोटीन के कण घुलने लगते हैं । वैज्ञानिकों ने उन सब वस्तुओं का, जिनमें प्रोटीन का परिवर्तन होता है, और इस रासायनिक क्रिया की सब अवस्थाओं का पता लगा लिया है । उनके विचारों के अनुसार प्रोटीन से निम्न-लिखित वस्तुएँ क्रम से बनती हैं ।

प्रोटीन से ———> आम्लिक मेटा प्रोटीन ———> प्रोटीयोज़
Acid Meta Protien   Proteoses

———> पेपटोन
Peptories

कुछ विद्वानों का विचार है कि यदि इस रस की क्रिया अधिक समय तक होती रहे, तो प्रोटीन भी अमीनो-अम्ल (Amino-Acids) के रूप में परिवर्त्तित हो जाते हैं। अमीनो-अम्ल प्रोटीन की अंतिम अवस्था होती है। इसी रूप में यह शरीर द्वारा ग्रहण किए जाते हैं।

इस क्रिया के अतिरिक्त वसा के ऊपर भी आमाशय-रस की कुछ क्रिया होती है। इसका कारण एक वस्तु 'लायपेज' (Lipase) है, जो इस रस में उपस्थित रहती है। इस क्रिया से वसा वसाम्ल (Fatty acids) और ग्लिसरिन (Glycerin) के रूप में भंजित हो जाती है।

रस के गुण—आमाशय-रस की पाँच क्रियाएँ होती हैं—(१) सबसे प्रथम वह रोगों के जीवाणुओं को नष्ट करता है। भोजन के पदार्थों के साथ बहुधा जो रोगोत्पादक जीव आमाशय में पहुँच जाते हैं, उनका वहाँ नाश हो जाता है। इनको नाश करनेवाला हाइड्रोक्लोरिक अम्ल होता है। (२) दूसरी क्रिया शकर पर होती है। रसायन-विज्ञान के अनुसार साधारण शर्करा, जो गन्ने से बनती है, दो भाँति की शकर से मिलकर बनी हुई है। उनमें से एक प्रकाश की रश्मियों को दाहिनी ओर को घुमाती है और दूसरी बाईं ओर को। इन दोनों शर्कराओं के मिलने से, जिनको डेक्सट्रोज़ और लेव्यूलोज़ (Dextrose and Loevulose) कहते हैं. साधारण शर्करा बन जाती है। आमाशय-रस की क्रिया से शर्करा अपने ऊपर बताए हुए दोनों अवयवों में विभक्त हो जाती है। (३) रस की तीसरी क्रिया यह होती है कि यदि उसको दूध में मिला दें, तो वह फट जाता है। इसका कारण 'रेनिन' (Renin)-नामक वस्तु होती है।

आमाशय-रस की तीसरी और चौथी क्रियाओं का ऊपर वर्णन किया जा चुका है । (४) वसा लायपेज़ के कारण वसाम्ल और ग्लिसरिन में टूट जाती है। (५) पेप्सिन और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से प्रोटीन का पाचन होता है । इन सब पाँचों क्रियाओं में सबसे मुख्य प्रोटीन-भंजन क्रिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भोजन के भिन्न-भिन्न भागों पर भिन्न-भिन्न रस की क्रियाएँ होती हैं। भोजन के श्वेतसार का पाचन मुख के रस ने किया। प्रोटीन पर आमाशय ने अपना दंड चलाया। वसा पर भी कुछ हाथ फेंका; किंतु वह काम मुख्यतया दूसरों के लिये छोड़ दिया। संभव है कि मौखिक रस और आमाशयिक रस के होने पर भी कुछ प्रोटीन और कर्बोज बच जाय। इसलिये आगे चलकर पचे हुए भोजन को फिर ऐसी वस्तुओं का सामना करना पड़ता है, जो इन सब वस्तुओं पर फिर से क्रिया करती हैं।

आमाशय की ग्रंथियों पर नाड़ी का प्रभाव—मौखिक रस को बनानेवाली ग्रंथियों की भाँति आमाशय की ग्रंथियाँ भी नाड़ियों से संबंध रखती हैं। सन् १८७८ में एक रोगी पर इस बात का पूरा निरीक्षण किया गया था। उस रोगी के अन्न-प्रणाली में एक ऐसा अर्बुद हो गया था कि किसी भाँति भी भोजन गले से नीचे न उतरता था। अतएव यह आवश्यक था कि उदर द्वारा आमाशय को खोलकर उसको भोजन दिया जाय। इसलिये आमाशय के ऊपर की दीवार में एक छेद करके उसके द्वारा एक रबड़ की नली लगा दी गई, जिसमें होकर दूध व मांस का रस इत्यादि आमाशय के भीतर पहुँचा दिया जाता था और इस भाँति उस रोगी के जीवन की रक्षा की जाती थी। उस रोगी

में यह देखा गया कि यदि उसको मांस खाने को दिया जाता और ज्यों ही वह उसको चबाना आरंभ करता अथवा केवल देखता, त्यों ही उसके आमाशय में रस का निकलना आरंभ हो जाता था। यद्यपि मांस का तनिक-सा भी टुकड़ा उसके आमाशय में नहीं पहुँचता था, किंतु रस बनने लगता था।

इसके पश्चात् इसी प्रकार के और भी प्रयोग किए गए। इस संबंध में रूस के पेवला (Pavloff) के प्रयोग अधिक प्रसिद्ध हैं। उसने कुत्तों पर प्रयोग किए। गले में अन्न-प्रणाली को बीच से काट दिया और दोनों भागों के दोनों सिरों को गले के चर्म में सी दिया। इस भाँति गले में दो छिद्र हो गए। आगे-वाला छिद्र मुख से संबंध रखता था। दूसरा छिद्र अन्न-प्रणाली के उस भाग का मुख था, जो आमाशय को जाता था। इस प्रकार यदि उस कुत्ते को मुख से कुछ भोजन के लिये दिया जाता था, तो वह गले के अन्न-प्रणाली के पहिले छिद्र से निकल आता था; किंतु यदि कुछ वस्तु दूसरे छिद्र के द्वारा प्रविष्ट की जाती थी, तो वह आमाशय में पहुँच जाती थी। ऐसे कुत्ते पर तीन प्रकार से प्रयोग किए जा सकते थे—एक उसको मुख द्वारा भोजन देकर, (२) उसके आमाशय में भोजन पहुँचाकर और (३) केवल उसको भोजन दिखाकर। ऐसा करने के पश्चात् यह देखा जाता है कि इन प्रयोगों का आमाशय के रस पर क्या प्रभाव हुआ; उसका उद्रेचन हुआ या नहीं ?

यदि ऐसे कुत्तों को भूख लगने पर मांस दिखाया जाता है, तो आमाशय में बड़ी ज़ोर से रस बनने लगता है। उनको यदि चावने को दिया जाता है, तो भी रस उसी प्रकार बनता है। किंतु यदि उनको विना दिखाए हुए मांस उनके आमाशय में डाल

दिया जाता है, तो उससे कुछ भी नहीं होता। किंतु जब कुत्ते को मक्खन, मिरच, पत्थर के टुकड़े, राई इत्यादि वस्तुएँ दिखाई गईं, तो उनसे किसी प्रकार का भी रस नहीं निकला। इससे मालूम होता है कि रस का उद्रेचन भी खाने की वस्तु पर निर्भर करता है। यदि वह वस्तु ऐसी होती है, जिसको आमाशय पचा सकता है अर्थात् प्रोटीन है, तो रस अधिक बनेगा। यदि वह वस्तु आमाशय-रस के प्रांत के बाहर है, तो उससे रस नहीं बनेगा।

केवल देखने का भी उतना ही प्रभाव पड़ता है, जैसा कि चाबने का। दो कुत्तों को तोलकर मांस दिया गया। एक कुत्ते ने उसे मुँह में चबाकर खाना आरंभ किया। दूसरे कुत्ते को गले के छेद द्वारा दिया गया, जिससे वह आमाशय में जा पहुँचा। डेढ़ घंटे के पश्चात् आमाशय की प्रोटीन को देखने से मालूम हुआ कि जिस कुत्ते को दिखाकर मांस दिया गया था, उसने दूसरे कुत्ते की अपेक्षा पाँच गुणा अधिक मांस पचा लिया था।

इन सब प्रयोगों से यही फल निकलता है कि पाचन पर मस्तिष्क का बहुत प्रभाव पड़ता है। हम देखते हैं कि स्वादिष्ट भोजन का ध्यान करने से उस भोजन को खाने की प्रबल इच्छा हो उठती है। मुँह में रस बनने लगता है और भूख भी प्रतीत होने लगती है। यह तो बहुत करके देखा गया है कि भोजन आरंभ करने से पूर्व भूख नहीं होती, किंतु भोजन आरंभ करते ही क्षुधा मालूम देने लगती है।

इस प्रकार जब भोजन आमाशय में पच चुकता है, तो पक्काशय का द्वार खुलता है। उससे पहले वह बंद रहता है। इस द्वार के खुलने पर भोजन पक्काशय में धीरे-धीरे प्रवेश करता है। जब

आमाशय से सारा भोजन पक्वाशय में चला आता है, तब यह द्वार फिर बंद हो जाता है।

अग्न्याशय-रस व अग्नि-रस (Pancreatic Juice)— जैसा पक्वाशय के नाम से विदित है, यहाँ भोजन परिपक्व होता है। यहाँ पर जो रस भोजन में मिलता है, वह सब दूसरे रसों की अपेक्षा तीव्र है। भोजन के प्रत्येक भाग पर उसका कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता है। मौखिक रस के टायलिन की भाँति वह श्वेतसार पर क्रिया करता है और उसको माल्टोज़ में परिवर्तित कर देता है। किंतु इस रस की क्रिया टायलिन की क्रिया से बहुत तेज़ और तीव्र होती है। यदि श्वेतसार उबला हुआ नहीं होता, तो टायलिन उस पर क्रिया नहीं कर सकता; किंतु यह रस उस दशा में भी श्वेतसार को माल्टोज़ में बदल देता है। इस क्रिया को करनेवाली वस्तु को एमायलेज़ (Amylase) कहते हैं।

आमाशय-रस का लायपेज़ वसा के कणों पर क्रिया करता है। उसी प्रकार इस रस से भी वसा के कण ग्लिसरिन और वसाम्ल में टूट जाते हैं। इस क्रिया में पित्त के लवणों से बहुत कुछ सहायता मिलती है। वसाम्ल वहाँ पर उपस्थित क्षारीय वस्तुओं से मिल जाते हैं और दोनों के मिलने से साबुन बन जाता है। यह साबुन वसा को घोलने का काम करते हैं।

प्रोटीन पर भी इस रस की क्रिया बहुत तीव्र और गहरी होती है। इस रस में प्रोटीन भंजन की शक्ति आमाशय-रस से भी अधिक है। हम देख चुके हैं कि आमाशय-रस का पेप्सिन हाइड्रोक्लोरिक अम्ल प्रोटीन का भंजन करके पेप्टोन बना देता है। कुछ का मत है कि वह इससे भी अधिक क्रिया कर सकता है, किंतु अधिकतर विद्वान् इस बात को नहीं मानते। किंतु इस

बात में किसी को संदेह नहीं है कि अग्नि-रस, जो अग्न्याशय ग्रंथि से पक्काशय में पहुँचता है प्रोटीन का पहले पेप्टोन के रूप में भंजन करता है। इसके पश्चात् यह पेप्टोन पोलीपेप्टाइड (Polypeptides) के रूप में परिवर्तित होता है और अंत में पोलीपेप्टाइड से अमीनोअम्ल (Amino-Acids) बन जाते हैं। यह प्रोटीन के अंतिम स्वरूप हैं। इस प्रकार भोजन के सब अवयवों पर इस रस की क्रिया अन्य रसों की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है।

आमाशय में पहुँचने पर दूध फट जाता है। इससे छेना और पानी अलग हो जाते हैं। अग्न्याशय-रस में भी आमाशय-रस की भाँति रेनिन रहता है, जिससे दूध तुरंत ही फट जाता है। दूध के फटने की क्रिया शरीर में आमाशय ही में पूर्ण हो जाती है। पक्काशय तक पहुँचने पर दूध का कुछ भी भाग साधारण दशा में नहीं रहता।

. अग्नि-रस का वह भाग जो प्रोटीन पर क्रिया करता है, ट्रिप्सिन (Trypsin) कहलाता है। जिस भाँति आमाशय-रस में पेप्सिन और मौखिक रस में टायलिन होती हैं, उसी भाँति इस रस में ट्रिप्सिन होती है। इसके अतिरिक्त लायपेज़ और एमायलेज़, वसा और श्वेतसार पर क्रिया करनेवाले अवयव भी इस रस में रहते हैं।

· यद्यपि अग्नि-रस सबसे तीव्र रस है और उसकी क्रिया भी बहुत विशेष है, क्योंकि वह भोजन के सब भागों को पचाता है, किंतु मुख का रस और आमाशय का रस भी शरीर के लिये कुछ कम महत्त्व का नहीं है। अग्नि-रस के कारण हम इन रसों की अवहेलना नहीं कर सकते। पाचन की क्रिया को आरंभ करने-वाले ये ही रस होते हैं और इन रसों की क्रिया से दूसरे रस

को बहुत सहायता मिलती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि मुख में जब पाचन होता है, तो उससे आमाशय उत्तेजित होता है और रस बनता है। आमाशय का पाचन अग्न्याशय को उत्तेजित करता है, जिससे वहाँ रस बनता है। जिस समय आमाशय में पचा हुआ भोजन पक्काशय की भित्तियों पर होकर निकलता है, उस समय अग्न्याशय को उत्तेजना मिल जाती है।

इस उत्तेजक वस्तु को जानने के लिये बहुत-से प्रयोग किए गए हैं। उनसे यह मालूम हुआ है कि एक रासायनिक वस्तु, जिसको अँगरेज़ी में Secretin कहते हैं, पक्काशय के रक्त से अग्न्याशय के सेलों में जाती है और वहाँ रस की उत्पत्ति आरंभ कर देती है।

पक्काशय में भोजन में पित्त भी मिलता है। इस स्थान में दोनों ओर से रस आते हैं। पित्ताशय से पित्त और अग्न्याशय से अग्नि-रस आते हैं। पित्त का पाचन-क्रिया में कोई विशेष भाग नहीं होता। उसमें कई गुण होते हैं, किंतु पाचन में उसकी इतनी ही क्रिया होती है कि वह अग्नि-रस को वसा के पचाने में सहायता देता है।

इस प्रकार पाचन-यंत्र के भोजन के सब पदार्थ पचाए जाते हैं। श्वेतसार, वसा, प्रोटीन सबका भंजन होता है, कोई शेष नहीं रहता। किंतु प्रकृति किसी काम को अपूर्ण होने का कभी अवसर नहीं देती। कदाचित् कोई चोर निकल गया हो, कुछ भोजन विना पचा हुआ रह गया हो, इसलिये आगे एक और भाग पुलीस का थाना बैठा दिया गया है।

आंत्रिक-रस—पक्काशय के नीचे के सिरे से क्षुद्र अंत्रियाँ आरंभ होती हैं। दोनों के बीच में कोई द्वार नहीं है। इस कारण पक्काशय से पचा हुआ भोजन क्षुद्र अंत्रियों में जाता है। यह अंत्रियाँ

पाँचवाँ पाचक रस बनाती हैं, जिसको पाश्चात्य विद्वान् (Succus Entericus) आंत्रिक-रस कहते हैं। कुछ समय हुआ तब तक केवल यही मालूम था कि यह रस केवल कर्बोज की ही कुछ जातियों पर क्रिया कर सकता है। इसकी क्रिया केवल कुछ शर्कराओं को परिवर्तित करने की है, इससे अधिक कुछ मालूम न था।

सबसे पहले पेवलो ने यह मालूम किया कि अग्नि-रस की जो प्रोटीन पर इतनी तीव्र क्रिया होती है, उसका मुख्य कारण आंत्रिक-रस है। जब अग्नि-रस में यह रस मिल जाता है, तब उसमें प्रोटीन को पचाने की शक्ति आती है। इससे पूर्व वह प्रोटीन पर कुछ भी क्रिया नहीं कर सकता। यदि स्वयं अग्न्याशय से रस निकाला जाय, तो उसकी भी यही दशा होगी। आंत्रिक रस की भी प्रोटीन पर कुछ क्रिया नहीं होती। यदि दोनों रसों को पृथक्-पृथक् एकत्रित कर लें, और उनकी परीक्षा करें, तो वे दोनों प्रोटीन पर शिथिल पाए जायँगे। दोनों रसों को मिला दिया जाय, तो प्रोटीन को पचानेवाला एक बड़ा शक्तिशाली रस तैयार हो जायगा।

इन प्रयोगों से यह मालूम होता है कि आंत्रिक रस में कोई ऐसी वस्तु है, जो अग्नि-रस को क्रियमान् कर देती है। पाश्चात्य विद्वानों ने उस वस्तु को, जो अग्नि-रस में प्रोटीन को पचाने की शक्ति उत्पन्न कर देता है, Entero-kinase कहा है। वह यह मानते हैं कि अग्नि-रस में तीन वस्तुएँ रहती हैं, पूर्व-एमायलेज़, पूर्व-लायपेज़, और पूर्व-ट्रिप्सिनोजन (Pro Amylase, Pro-lipase & Pro-trypsinogen)। जब सिक्रिटिन अथवा उद्वेचक वस्तु रक्त के द्वारा आमाशय से पक्वाशय में पहुँचती है, तो वह इन तीनों वस्तुओं को अपने पूर्व-भाग से

छुड़ाकर लायपेज़, एमायलेज़ और ट्रिप्सिनोजन के रूप में ले आती है। प्रथम दो वस्तुएँ तो काम करने के स्वरूप में आ जाती हैं; तीसरी ट्रिप्सिनोजन अभी तक अपनी क्रिया नहीं कर सकती। जिस समय उसके साथ आंत्रिक रस अथवा Entero-kinase मिलता है, तो ट्रिप्सिनोजन ट्रिप्सिन के रूप में आ जाती है। इस रूप में आते ही अग्नि-रस की प्रोटीन पर क्रिया प्रारंभ हो जाती है।

इस प्रकार आंत्रिक-रस अग्नि-रस को प्रोटीन-भंजक शक्ति प्रदान करता है। स्वयं आंत्रिक-रस में भी प्रोटीन-भंजक शक्ति है, किंतु बहुत कम है। वह प्रोटीन पर क्रिया नहीं कर सकता, किंतु पोटीन व प्रोटीयोज़ पर क्रिया कर सकता है। इन वस्तुओं पर इस रस की क्रिया काफ़ी तेज़ होती है। अंडे की सफ़ेदी को वह नहीं पचा सकता; किंतु दूध के केसीनोजन को वह पचा सकता है।

इन सब रसों की क्रिया से पचा हुआ भोजन बाइस फुट लंबी क्षुद्रांत्रियों में होकर बहता है। उस समय भोजन की तरल अवस्था होती है, जिसमें कुछ कण कहीं-कहीं मिलते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाचन एक साधारण क्रिया नहीं है, किंतु एक बड़ा ही गूढ़ कर्म है। इसमें साधारण रासायनिक प्रयोगशाला में होनेवाली क्रियाओं से कहीं अधिक गूढ़ रासायनिक क्रियाएँ हुआ करती हैं। जितनी भी पाचन में क्रियाएँ व घटनाएँ होती हैं, वे सब एक दूसरे से किसी-न-किसी प्रकार संबंध रखती हैं। मुख में जब क्रिया होती है, तो उससे आमाशय क्रिया करता है। वहाँ रस उत्पन्न होता है। इस रस को लिए हुए जब भोजन, जिसमें काफ़ी अम्ल मिला हुआ है, पक्वाशय में पहुँचता है, तो वह अग्न्याशय को उत्तेजित करता है, जिससे अग्नि-रस बनता है।

इस अग्नि-रस में जब तक क्षुद्रांत्रियों का रस नहीं मिल जाता, तब तक इसमें प्रोटीन को पचाने का गुण नहीं आता। आंत्रिक-रस के मिलने पर अग्नि-रस में ट्रिप्सिन उत्पन्न होता है। यह ट्रिप्सिन और आंत्रिक रस का इरेप्सिन (Erepsin) मिलकर प्रोटीन को द्रवीभूत कर देते हैं, जिससे शरीर उन वस्तुओं को सहज में ग्रहण कर लेता है। इन सब गूढ़ क्रियाओं का परिणाम यह होता है कि भोजन के अवयव अपने अत्यंत सूक्ष्म रूप में आ जाते हैं। प्रोटीन अमीनो अम्ल बन जाते हैं, श्वेतसार और भिन्न-भिन्न कर्बोज शर्करा के रूप में परिणत हो जाते हैं और वसा ग्लिसरिन और वसाम्ल बन जाते हैं। इस स्वरूप में शरीर इनको ग्रहण करके अपने काम में लाता है।

पाचन में सहायता देनेवाले जीवाणु—एक और वस्तु है जिससे पाचन को बहुत सहायता मिलती है, उसका वर्णन करना आवश्यक है। जीवाणुओं के नाम से आजकल सभी परिचित हैं। जितने भी रोग होते हैं, उनमें से अधिक रोगों का कारण जीवाणु ही बताए जाते हैं। प्लेग, हैज़ा, मोतीझरा, राजयक्ष्मा इत्यादि बुरे-बुरे रोग, जिनसे सहस्रों की मृत्यु होती है, इन जीवाणुओं ही के कारण उत्पन्न होते हैं। किंतु जहाँ वह मानव-जाति को इतनी हानि पहुँचाते हैं, वहाँ उनकी कुछ सेवा भी करते हैं। कुछ जीवाणु ऐसे हैं, जो वृक्षों को उनकी जड़ों के द्वारा पृथ्वी से नाइट्रोजन देते हैं, जो अंत में हमारे शरीर में पहुँचती है। कुछ ऐसे हैं, जो हमारे शरीर में रहकर रोग को उत्पन्न करनेवाले जीवाणुओं से युद्ध करते हैं और हमारे शरीर को रोग से मुक्त रखने का उद्योग करते हैं। दूध को दही में परिवर्त्तित करनेवाला एक जीवाणु ही होता है। शर्करा से मद्य भी एक जीवाणु ही की क्रिया से बनता है। इसी

प्रकार इन जीवाणुओं द्वारा अनेक लाभदायक कार्य होते हैं। मद्य बहुत बार उत्तम प्रयोगों में भी आता है। कभी-कभी मनुष्य के प्राणों को बचाता है।

इसी प्रकार कुछ जीवाणु, जो हमारी अंत्रियों में रहते हैं, हमारे पाचन में सहायता देते हैं। मुख का रस क्षारीय होता है, इस कारण उसमें जीवाणु रह सकते हैं। आमाशय के रस में अम्ल होता है, इस कारण वहाँ जीवाणुओं का नाश हो जाता है। अतएव आमाशय में जीवाणुओं का रहना संभव नहीं है। पक्वाशय में रस इत्यादि सब वस्तुएँ क्षारीय होती हैं। इस कारण वहाँ जीवाणु रह सकते हैं और वृद्धि कर सकते हैं। हमारा अंत्रियों का सारा प्रांत इन जीवाणुओं से भरा हुआ है। इनमें से बहुत-से जीवाणु ऐसी वस्तुएँ बनाते हैं, जिनकी क्रिया ठीक पाचक रसों की भाँति होती है। पक्वाशय के नीचे क्षुद्र अंत्रियों के ऊपर के भाग में, जो जीवाणु होते हैं, उनकी क्रिया ठीक पक्वाशय के रसों की भाँति होती है। कोई जीवाणु श्वेतसार से शर्करा बनाते हैं। कुछ प्रोटीन का भंजन करते हैं, कुछ वसा को पचाते हैं। इस प्रकार यह जीवाणु भी हमारे शरीर को सहायता देते हैं।

अंत्रियों में एक प्रकार का जीवाणु होता है, जो लेक्टिक अम्ल बनाता है। दही को बनानेवाला यही जीवाणु है। यह दूसरे रोगोत्पादक जीवाणुओं की वृद्धि को बहुत कम कर देता है और इस प्रकार जीवन की इन शत्रुओं से रक्षा करता है। बहुत लोगों का विचार है कि यदि अंत्रियों में इन जीवाणुओं की पर्याप्त संख्या रहे, तो अंत्रियों के रोग एकदम बिलकुल बंद हो जायँ। इस कारण वह दही के प्रयोग की बड़े ज़ोर से सलाह देते हैं। मीठे दही से खट्टा दही अधिक लाभदायक है, क्योंकि उसमें जीवाणुओं की

संख्या अधिक होती है। रूस के विख्यात वैज्ञानिक मेचनिकाफ का विचार है कि वृद्धावस्था केवल एक रोग है। यह रोग वृहत् अंत्रियों के कारण मुख्यकर और लघु अंत्रियों के कारण साधारणतः उत्पन्न होता है। उसके मतानुसार ये अंत्रियाँ विषैले पदार्थों को संग्रह करके उनके द्वारा सारे रक्त को विषमय बना देती हैं और शारीरिक सहनशक्ति को घटा देती हैं। उसका कहना है कि यदि दही उपयुक्त मात्रा में प्रयोग किया जाय, तो यह शारीरिक विष न फैलने पाएगा, क्योंकि दही के जीवाणु विष उत्पन्न करनेवाले जीवाणुओं का नाश कर देंगे और इस प्रकार मनुष्य का जीवन दीर्घ हो जायगा; अर्थात् वृद्धावस्था बहुत देर से आरंभ होगी। और मनुष्य की शक्तियाँ बहुत समय तक बनी रहेंगी। जिन देशों में दही का अधिक प्रयोग किया जाता है, वहाँ के निवासियों की आयु अधिक लंबी होती है।

भोजन का शोषण—ऊपर कही हुई क्रियाओं द्वारा भोजन का रूप बिलकुल बदल जाता है। इस परिवर्तन का प्रयोजन यही है कि शरीर भोजन को ग्रहण कर सके। यह काम अंत्रियों का है। क्षुद्रांत्रियों द्वारा भोजन का शोषण होता है। अतएव पाचन और शोषण दो भिन्न-भिन्न क्रियाएँ हैं। पाचन का अर्थ केवल भोजन को उसके छोटे से छोटे अवयव में तोड़ देना है। इसके पश्चात् शोषण-क्रिया द्वारा शरीर इन अवयवों को ग्रहण करता है।

शोषण काम विशेषकर क्षुद्रांत्रियों का है। इसकी रचना भी इस काम के लिये बहुत उपयुक्त है। इसको बाइस फ़ीट लंबी बनाने का भी यही अभिप्राय है कि जिससे भोजन का शोषण करने के लिये शरीर को काफ़ी समय मिले और शोषक-तल भी काफ़ी हो। अंत्रियों के भीतर की रचना पूर्व ही में बताई जा चुकी है।

भीतर की श्लैष्मिक कला में सिलवटें पड़ी हुई हैं । ये सिलवटें बड़ी और गहरी हैं । इन सिलवटों को अंकुर (Villi) कहते हैं । ये सब सिलवटें मिलकर शोषक-तल का वर्गक्षेत्र बढ़ा देती हैं ।

चित्र नं० ४३—१. भेड़ का अंकुर; २. मनुष्य का अंकुर ।

२ १

इन सिलवटों के भीतर धमनी, शिरा और रस-वाहनी नलिका उपस्थित रहती हैं । यही भोजन के शोषण का मार्ग है । रक्त-नलिकाएँ प्रोटीन और कर्बोज का शोषण करती हैं और इन

अवयवों को रक्त में मिला देती हैं । रस-वाहिनी नलिकाएँ वसा के कणों को सोख लेती हैं ।

भोजन का बहुत कुछ शोषण भौतिक सिद्धांतों के अनुसार होता है ।

व्यापन और अभिसरण (Diffusion & Osmosis) की क्रियाएँ अंत्रियों में होती हैं । यदि किसी लवण की काफी मात्रा थोड़े-से जल में घोलकर अंत्रियों के भीतर रख दी जाय, तो लवण तुरंत ही अंत्रियों के भित्तियों के द्वारा रक्त में जाने लगेगा और रक्त से जल निकलकर लवण में मिलने लगेगा, जब तक लवण की मात्रा रक्त और अंत्रियों में समान न हो जायगी । अगर स्वयं पशु का सीरम ही उसकी अंत्रियों में रख दिया जाता है, तो अंत्रियाँ उसको भी सोख लेती हैं, यद्यपि उसमें लवणों की कोई भी अधिकता नहीं है । यह शोषण की शक्ति अंत्रियों के भीतर की श्लैष्मिक कला के सेलों की शक्ति है । हमको अभी तक शोषण-क्रिया का पूर्ण ज्ञान नहीं है । केवल रासायनिक और भौतिक सिद्धांतों से इस क्रिया की पूर्ण व्याख्या नहीं होती । अंत्रियों की कला के सेलों में यह विशेष शक्ति मालूम होती है कि वहाँ पर जो शोषण के योग्य वस्तु पहुँचती है, उसे वह तुरंत ही सोख लेते हैं ।

मुख और आमाशय में भोजन का शोषण नहीं होता । मुख में एक तो भोजन को समय ही बहुत कम मिलता है ; अन्न-प्रणाली के द्वारा भोजन तुरंत ही निकल जाता है । इसके अतिरिक्त यहाँ की कला भी ऐसी मोटी है कि वह शोषण के लिये उपयुक्त नहीं है । आमाशय में भी इसी प्रकार भोजन के शोषण की शक्ति नहीं है । यदि आमाशय के भीतर जल को कुछ समय तक रहने दें, तो जल की बहुत थोड़ी सी मात्रा का शोषण होता है । जब तक

लवण अथवा शकर इत्यादि की भी मात्रा बहुत अधिक नहीं होती शोषण नहीं होता।

प्रोटीन और कर्बोज के टूटने से जो पदार्थ बनते हैं, उनका रक्त नलिकाओं द्वारा शोषण होता है। बसा के कणों को ले जाने-वाली दूसरी ही नलिकाएँ होती हैं, जो स्नेहवाहिनी व पाय-सनियाँ (Lacteals) कहलाती हैं। इनका यह नाम इस कारण पड़ा है कि जब वह बसा का शोषण करती हैं, तो उनका रंग श्वेत दूध के समान हो जाता है। ये दोनों प्रकार की नलि-काएँ क्षुद्र अंत्रियों की कला के अंकुरों में रहती हैं।

प्रोटीन, कर्बोज और बसा अपने अंतिम अवयवों के रूप में इन नलिकाओं द्वारा शरीर के भीतर जाते हैं। हम देख चुके हैं कि मौखिक-रस और अग्नि-रस की क्रियाओं से कर्बोज माल्टोज़ बन जाता है। यही कर्बोज का अंतिम स्वरूप है। किंतु रक्त में शर्करा अंगूर की शकर के रूप में, जिसको ग्लूकोज कहते हैं, पाई जाती है। अतएव यह स्पष्ट है कि किसी-न-किसी भाँति माल्टोज़ अंत्रियों में अथवा रक्त में फिर से ग्लूकोज़ बनती है। यह पाया गया है कि आंत्रिक रस में और अंत्रियों के सेलों में यह शक्ति है कि वह माल्टोज़ को ग्लूकोज़ में परिवर्त्तित कर देते हैं। जितनी भी शर्करा होती है, वह सब पहिले इसी रूप में आ जाती है। इसके पश्चात् उनका शोषण होता है। यह शर्करा शोषित होने के पश्चात् यकृत के पास ले जाई जाती है, जहाँ वह ग्लायकोजिन के रूप में संग्रह कर ली जाती है। अतएव यकृत शर्करा का भंडार है, जहाँ वह ग्लायकोजिन के रूप में रहती है। जब शरीर में कहीं आवश्यकता होती है, तो उस समय वह फिर शर्करा के रूप में आ जाती है और आवश्यकता के स्थान पर पहुँच जाती है।

जैसा हम पहले देख आए हैं, प्रोटीन से अंतिम पदार्थ अमीनो-अम्ल बनते हैं। इसी स्वरूप में प्रोटीन अंत्रियों के पास शोषण के लिये पहुँचती है। किंतु रक्त में अमीनो-अम्ल बिलकुल नहीं पाए जाते। इसके बहुत से कारण बताए जाते हैं। यह कहा जाता है कि शोषण के समय इन प्रोटीन के अवयवों का फिर से संश्लेषण (Synthesis) होता है। अंत्रियों के कला में यह शक्ति है कि वह इन टूटी हुई वस्तुओं से उनके लिये जो उपयुक्त वस्तु है, उसको बना लेती है। यही कारण है कि शरीर के भिन्न-भिन्न भाग, जिनको प्रोटीनों के संगठन में भेद होता है, इन अमीनो-अम्लों के संश्लेषण से आवश्यक प्रकार की प्रोटीनें तैयार कर लेते हैं।

शरीर प्रोटीनों के संबंध में बड़ी कंजूसी के साथ काम करता है; उनका जितना भी कम व्यय हो सकता है, करता है। इसलिये शारीरिक प्रोटीन अधिक नहीं ख़र्च होती। अतएव भोजन के थोड़े से ही प्रोटीन से इनकी क्षति पूर्ण हो जाती है। भोजन की सारी प्रोटीन काम में नहीं आती। उसमें से बहुत-सी व्यर्थ जाती है। किंतु शरीर को जितनी प्रोटीन मिलती है, उसमें से सबसे उत्तम भाग वह चुन लेता है और उसके संश्लेषण से वह अपने लिये उपयुक्त वस्तु तैयार कर लेता है।

यदि किसी राज को पुराने मकान की वस्तुओं से एक नया मकान तैयार करना होता है, तो वह पहले पुराने मकान को ढहा देता है। उसके पश्चात् उसमें से जितनी वस्तुएँ ठीक दशा में होती हैं या उसको उपयुक्त मालूम होती हैं, वह ले लेता है। उनको वह एक नए क्रम से लगाकर फिर नया मकान बनाता है। न केवल यही, किंतु उसको बहुत-सा नया मसाला व ईंटें भी

आवश्यक होती हैं । पुराने मकान का जो निकृष्ट भाग होता है, वह पड़ा रह जाता है।

ठीक इसी प्रकार शरीर भी कार्य करता है। पहले प्रोटीनों को छोटे-छोटे अवयवों में तोड़ डालता है। उन अवयवों का आवश्यकतानुसार फिर से संश्लेपण करता है, जिससे नए प्रकार के प्रोटीन बन जाते हैं। जितने प्रोटीन भोजन के द्वारा शरीर के पास पहुँचते हैं, उनमें से बहुतों से कुछ काम नहीं लिया जाता । उनमें से कुछ थोड़ी-सी को क्षति पूर्त्ति के लिये चुन लिया जाता है। शेप सब निरर्थक ही पड़े रहते हैं। अब इस निरर्थक भाग का भी तो कुछ-न-कुछ अवश्य ही करना चाहिए। यह यकृत के पास ले जाए जाते हैं, जो उनमें से नाइट्रोजन को अलग कर देता है। इस नाइट्रोजन से यूरियाँ इत्यादि वस्तु बनाई जाती हैं, जिनका वर्णन आगे किया जायगा।

इसी प्रकार वसा का शोषण होता है। किंतु वसा का मार्ग भिन्न है। भोजन के पश्चात् जिसमें वसा का काफ़ी भाग उपस्थित है, अंत्रियों की कला के ऊपरी स्तरों के भीतर वसा के बहुत छोटे-छोटे कण देखे जा सकते हैं । इन सेलों के नीचे एक विशेप प्रकार का तंतु रहता है, जिसको वसा-तंतु कहते हैं। इस तंतु में अमीवा के सदृश सेल होते हैं और वह अमीबा ही की भाँति अपना भोजन भी ग्रहण करते हैं। वह वसा के कणों से बहुत प्रीति रखते हैं और उनके लिये सदा ही क्षुधार्थ रहते हैं। वसा के कण, जो बहुत ही छोटे-छोटे हो चुके हैं, ऊपरी सेलों से नीचे के वसा तंतु के सेलों में पहुँच जाते हैं और यहाँ अंकुर के बीच की रस-नलिका में प्रवेश करते हैं। इस नलिका के द्वारा सारी वसा छोटे-छोटे कणों के स्वरूप में विभाजित होकर वृहत् रस-नलिका में

आती है, (Thoracie Duch) । यह नलिका अंत्रियों से आरंभ होकर ग्रीवा की ओर आती है और वहाँ आकर महा शिरा में मिल जाती है । वसा के कारण यह रस-नलिकाएँ बिलकुल दूध के समान श्वेत दिखाई देती हैं। शरीर के रक्त का प्लाज़्मा भी वसा के मिलने के कारण श्वेत हो जाता है । अंत में यह वसा के कण शरीर के वसामय तंतु में जाकर जमा हो जाता है । शरीर के चर्म के नीचे जो चरबी का एक परत रहता है, वही वसामय तंतु है । इसके अतिरिक्त और भी स्थानों पर यह तंतु रहता है । इस प्रकार शरीर में चरबी की मात्रा बढ़ती है ।

वसा की वृद्धि के लिये यह आवश्यक नहीं है कि भोजन के वसा ही से शरीर की वसा बढ़े । प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि भोजन के कर्बोज से भी वसा बन सकती है । किसी-किसी दशा में प्रोटीन से वसा बन जाती है ।

ऊपर बताए हुए शोषण-विधि से यह विदित होगा कि वसा के कण में इतनी टूट-फूट नहीं होती, जितनी कि प्रोटीन में होती है । वसा का परिवर्त्तन ग्लिसरिन और वसाम्ल में होता है और इन वस्तुओं का पूर्ण शोषण होता है । अंत्रियों के सेलों में इन दोनों वस्तुओं का फिर से संश्लेषण होता है और वसा फिर अपने पुराने रूप में आ जाती है ।

बाइस-फ़ीट लंबी अंत्रि-नलिका में यह शोषण होता है । यदि अंत्रियों की इतनी लंबाई न होती, तो कदाचित् भोजन के सारे भागों का शोषण होना अत्यंत कठिन अथवा असंभव हो जाता । न केवल अंत्रियों की लंबाई, किंतु उनकी भीतर की श्लैष्मिक कला का प्रबंध ऐसा है कि जिससे शोषण क्रिया पूर्ण होती है । प्रकृति सदा बहुत ही कौशल और कंजूसी के साथ काम करती

है। उसनें फुस्फुस की विचित्र रचना करके ऑक्सीजन के शोषण के लिये इतना अधिक स्थान बना दिया है कि उनके द्वारा प्राप्त की हुई ऑक्सीजन शरीर की आवश्यकता से कहीं अधिक होती है। इसी प्रकार अंत्रियों को उसनें इस प्रकार रचना की है कि तनिक सा भी भोजन व्यर्थ न जानें पावे। उसका जितना भी भाग काम में लाया जा सके, उससे पूर्ण लाभ उठाया जाय।

जिस समय अंत्रियों में भोजन रहता है, उस समय अंत्रियों में ऐसी गति होती रहती है कि उससे भोजन आगे चलता जाता है। वास्तव में पाचन की सब क्रियाओं में और पाचन-क्रिया करनें-वाले अंगों में गति होती रहती है। उनके विना भोजन का आमाशय तक और आमाशय से मलाशय तक पहुँचाना कैसे हो सकता है, इनका वर्णन आगे किया जायगा।

मल—इस प्रकार जब भोजन का शोषण हो चुकता है, तो उसके पश्चात् अंत्रियों में जो कुछ बचता है वह मल कहलाता है। यह भोजन का निकृष्ट भाग है, जिसको शरीर अपनें काम में नहीं लाता। यदि कुछ भी भोजन न किया जाय, तब भी अंत्रियों में मल बनता है। मल में अंत्रियों की कला, अंत्रियों के जीवाणु, और सेल्यूलोज़ रहते हैं। सेल्यूलोज़ वह वस्तु है, जो शाक इत्यादि के ऊपर रहता है। गोभी व किसी दूसरे शाक के डंठलों का, सबसे ऊपर का परत सेल्यूलोज़ का बना होता है। सेल्यूलोज़ पर किसी पाचक-रस की कुछ क्रिया नहीं होती। इसी कारण भोजन का सेल्यूलोज़ वैसी ही दशा में मल द्वारा निकल जाता है। सेल्यूलोज़ के भोजन में अधिक होने से अंत्रियों की गति बढ़ जाती है और उनके भीतर की वस्तु भी मलाशय की

और तेज़ी से यात्रा करती है। जिनको स्वाभाविक क़ब्ज़ रहता है, उनके लिये यह वस्तु उत्तम है।

मल में जीवाणुओं की संख्या बहुत अधिक होती है। यह अनुमान किया जाता है कि शुष्क मल के भार का $\frac{1}{3}$ से $\frac{1}{5}$ भाग जीवाणुओं का होता है। स्ट्रेस्बर्गर ने हिसाब लगाया है कि प्रत्येक बार जब हम मल त्याग करते हैं, तो हम १२,८०,०००,०००,००,००, जीवाणु मल के साथ शरीर से निकालते हैं। मल में १% के लगभग नाइट्रोजन होती है। किंतु वह सब मल के जीवाणुओं के शरीर की नाइट्रोजन होती है। सेल्यूलोज़ के खाने से मल का भार बढ़ जाता है। जो लोग मांस और शाक का मिला हुआ भोजन करते हैं अथवा योरप में जो भोजन किया जाता है, उससे जो मल बनता है उसमें ३५ ग्राम (Grams) घन भाग और १०० ग्राम जल रहता है; किंतु शाकाहारियों के भोजन में ७५ ग्राम ठोस भाग और २६० ग्राम जल होता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि मल द्वारा जो वस्तुएँ हमारे शरीर से बाहर निकलती हैं वे शरीर के लिये हानिकारक होती हैं। यदि एक दिन भी मल-त्याग नहीं होता तो क़ब्ज़ हो जाता है, और उससे चित्त बहुत गिरने लगता है। उदर की मांस-पेशियाँ अंत्रियों की गति को सहायता देकर मल-त्याग-क्रिया के पूर्ण होने में बहुत कुछ सहायता देती हैं।

पाचक-अंगों में गति—ऊपर कहा जा चुका है कि पाचन-क्रिया के समय पाचन यंत्र के सब अंगों में गति होती है। सब से पहले जब मौखिक रस की क्रिया होती है, उस समय स्वयं मुख ही क्रिया करता है, ऊपर और नीचे के दोनों जबड़े चलते हैं।

इससे केवल भोजन पिसता ही नहीं, किंतु थूक भी अधिक बनता है जो भोजन पर क्रिया करता है।

ग्रास को निगलना—मुख में जब भोजन का चर्वण हो चुकता है और थूक मे मिलकर वह ग्रास बन जाता है, तब वह निगला जाता है। ग्रास को निगलने की क्रिया बड़ी गूढ़ और टेढ़ी है। यह क्रिया बड़ी भयंकर है; क्योंकि निगलनेवाली पेशियों को ऐसा काम करना होता है, जिसमें तनिक-सी भी चूक होने पर प्राणों पर आ बन सकती है। इस क्रिया में पहले तो चाबा हुआ भोजन ग्रास के रूप में जिह्वा के ऊपर से गले के पिछले भाग तक जाता है, वहाँ से स्वर-यंत्र के ऊपर होते हुए अन्न-प्रणाली के मुख तक पहुँचता है और अन्न-प्रणाली के द्वारा आमाशय में पहुँचता है।

जिस समय हम ग्रास को निगलने का उद्योग करते हैं, उस समय जिह्वा सिकुड़कर छोटी और मोटी हो जाती है और उसके आगे का भाग ऊपर को उठ जाता है। इससे ग्रास, जो इसके पिछले भाग में रहता है, स्वयं पीछे की ओर गिर पड़ता है उसमें जिह्वा के एकदम सिकुड़कर ऊपर को उठ जाने से और भी सहायता मिलती है। इस प्रकार ग्रास गले के पिछले भाग तक पहुँच जाता है।

इसके पश्चात् की क्रिया बड़ी टेढ़ी होती है। भोजन को जिस मार्ग से होकर जाना पड़ता है उसके बीच में श्वास-यंत्र का ऊपर का छिद्र रहता है। इस छिद्र के ऊपर एक मांस-पेशी इस प्रकार से रहती है कि वह उसको ऊपर से बंद कर देती है। साधारण अवस्था में यह मांस-पेशी ऊपर को ओर उठी रहती है और यह छिद्र खुला रहता है। किंतु जिस समय भोजन के ग्रास को ि

लते हैं, उस समय यह पेशी नीचे की ओर गिरकर स्वर-यंत्र के छिद्र को बंद कर देती है और भोजन का ग्रास इस पेशी पर हो-कर अन्न-प्रणाली में चला जाता है। यदि किसी कारण मांस-पेशी समय पर बंद न हो सके, तो भोजन का ग्रास स्वर-यंत्र के छिद्र में होकर फुस्फुस में जा पहुँचेगा। पहले तो श्वास-नलिका का ही अवरोध हो जायगा, जिससे श्वास भीतर न जा सकेगा। यदि यह भी न हुआ, तो फुस्फुस में पहुँची हुई वस्तु वहाँ शोथ उत्पन्न करेगी, जिससे निमोनिया हो जायगा अथवा फुस्फुस सड़ने (Gangrene) लगेगा। किंतु प्रकृति ने नाड़ियों के द्वारा ऐसा प्रबंध किया है कि ज्यों ही भोजन गले के पिछले भाग में पहुँचता है त्यों ही स्वर-यंत्र के छिद्र पर की पेशी की नाड़ी उत्तेजित होकर पेशी को सिकुड़ने की आज्ञा भेज देती है और छिद्र बंद हो जाता है। कभी-कभी जब जल इत्यादि श्वास-नलिका में पहुँच जाता है, तो बड़े वेग से खाँसी आने लगती है। इसको कहीं-कहीं हूंता लगना कहते हैं। इसका कारण इस मांस-पेशी की भूल है।

अन्न-प्रणाली की दीवारें साधारण तथा आपस में मिली हुई रहती हैं। इसकी नलिका के भीतर कोई स्थान नहीं रहता। जब इसमें भोजन जाता है तब यह खुलती है। जब भोजन का ग्रास इसमें पहुँचता है तो उसकी मांस-पेशियों के सूत्रों में, जिनसे यह बनी होती है, संकोच होता है; यह संकोच भी अद्‌भुत होता है। नली में जिस स्थान पर भोजन का ग्रास होता है उसके ऊपर के सूत्र तो संकोच करते हैं किंतु आगे के सूत्र फैल जाते हैं। इस प्रकार पीछे से ग्रास को आगे की ओर धक्का लगता है और वह आगे को बढ़ता है। इसी प्रकार उसको आमाशय तक भेजा जाता है।

जब आमाशय में भोजन पहुँचता है तो वहाँ भी गति होती है। जिस समय उसमें भोजन नहीं होता, उस समय आमाशय पूर्णतया संकुचित अवस्था में रहता है। इसके दोनों ओर के छिद्र भी बंद रहते हैं। ज्यों ही अन्न-प्रणाली से भोजन आमाशय के हार्दिक छिद्र पर पहुँचता है त्यों ही वह छिद्र खुल जाता है और फिर बंद हो जाता है। भोजन के आमाशय के भीतर पहुँचने पर आमाशय चारों ओर से इस वेग से सिकुड़ता है कि मानो भोजन पर चिपट जाता है। इसकी भित्तियों में जो पेशियाँ होती हैं वे संकोच किया करती हैं जिससे इस भाँति की क्रिया होती है कि भीतर के भोजन की सब वस्तुएँ आपस में भली भाँति मिल जाती हैं। यह क्रिया भीतर के भोजन को नीचे की ओर धक्का देती है जहाँ पक्वाशय का द्वार है।

पहिले पक्वाशय का द्वार पूर्णतया बंद रहता है। ज्यों-ज्यों भोजन पचता जाता है, त्यों-त्यों वह द्वार भी खुलता जाता है। प्रथम तो केवल पका हुआ भोजन इस द्वार से पक्वाशय में जाने पाता है किंतु अंत में बिना पचे हुए भोजन के टुकड़े भी निकल जाते हैं। इस द्वार की क्रिया भी बड़ी विचित्र मालूम होती है। आमाशय में जब भोजन पूर्णतया पच चुकता है, जिससे उसमें अम्ल की अधिकता हो जाती है, तब वह द्वार खुलता है। ज्यों ही भोजन का वह भाग अम्ल के साथ पक्वाशय में पहुँचता है त्यों ही वह द्वार बंद हो जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि इस द्वार के ऊपर की ओर अर्थात् आमाशय की ओर यदि अम्ल होता है तो उसके प्रभाव से यह द्वार खुल जाता है, यदि अम्ल दूसरी ओर रहता है तो वह बंद हो जाता है। आमाशय से जब अम्ल दूसरी ओर पहुँचता है तो वह द्वार को

बंद कर देता है। जब वह अम्ल पक्वाशय के क्षार से नाश हो जाता है तब आमाशय की ओरवाला अम्ल फिर क्रिया करता है और द्वार खुल जाता है।

आमाशय में भोजन तीन घंटे के लगभग रहता है। किंतु भोजन की मात्रा, पचाने की शक्ति और शारीरिक दशा इत्यादि का उस पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। इनके अनुसार समय में बहुत भिन्नता हो सकती है। भोजन जितना अधिक तरल होता है उतना ही शीघ्रता से वह इस द्वार में होकर निकल जाता है। जल आमाशय में तनिक भी देर नहीं ठहरता। तुरंत ही पक्वाशय में चला जाता है। प्यास के समय जल पीने से प्यास तुरंत ही जाती रहती है। कमज़ोरी में जिन मनुष्यों को गरम-गरम दूध या दूसरे तरल पदार्थ दिए जाते हैं वे शीघ्र ही स्वस्थ हो जाते हैं। ये सब बातें यही बताती हैं कि तरल पदार्थ शीघ्र ही आमाशय से पक्वाशय में चले जाते हैं। साधारणतया आधे घंटे के पश्चात् भोजन आमाशय से निकलना प्रारंभ हो जाता है और इसके ४ घंटे के पश्चात् आमाशय बिलकुल ख़ाली हो जाता है।

वमन—वमन की क्रिया आमाशय ही से होती है। जिस समय वमन होता है, स्वर-यंत्र की पेशियाँ पूर्ण शक्ति के साथ स्वर-यंत्र को बंद कर लेती हैं, जिससे वमन की कोई वस्तु श्वास-नलिका में न जा सके। वक्षोदर मध्यस्थ पेशी (Diaphragm) भी कड़ी पड़ जाती है अर्थात् अपनी क्रिया रोक देती है। उधर उदर की पेशियाँ संकोच करती हैं। विशेष भार उदर की पेशियों के संकोच से पड़ता है। आमाशय के ऊपर का छिद्र, हार्दिक छिद्र खुल जाता है। बस इस प्रकार आमाशय वक्षोदर पेशी और उदर की पेशियों के बीच में दबता है और इससे जो कुछ आमाशय में

होता है वह हार्दिक द्वार द्वारा अन्न-प्रणाली में होता हुआ बाहर निकल आता है। कभी-कभी पक्काशय की वस्तुएँ भी वमन द्वारा मुख से निकलती हैं। ऐसी दशाओं में पक्काशय का द्वार भी खुल जाता है।

वमन की क्रिया नाड़ियों पर निर्भर करती है। कुछ मनुष्यों में ऐसी शक्ति होती है कि वह जब चाहें तब क़ै कर सकते हैं। किंतु साधारणतया यह एक परावर्त्तित क्रिया होती है। कुछ ओषधियाँ स्वयं आमाशय ही को उत्तेजित करके वमन करा देती हैं। कुछ नाड़ियों की उत्तेजना द्वारा इस कर्म को पूरा करती हैं।

अंत्रियों में गति—क्षुद्रांत्रियों की गति शरीर के लिये विशेष महत्त्व की होती है क्योंकि भोजन का शोषण उसी पर निर्भर करता है। पक्काशय की गति बहुत धीमी होती है।

क्षुद्रांत्रियों में जो गति होती है वह ठीक वैसी ही होती है जैसी कि अन्न-प्रणाली में। यदि हम इन अंत्रियों को काट कर सूक्ष्मदर्शक यंत्र के नीचे इनके भीतर की रचना को देखें तो हमको दिखाई देगा कि इनकी भित्तियों में दो प्रकार की पेशियों के सूत्र रहते हैं अथवा यों कहना चाहिए कि पेशी के सूत्र दो प्रकार से स्थित होते हैं। एक प्रकार के सूत्र तो इस नलिका को चारों ओर से घेरे रहते हैं। वह इस प्रकार स्थित होते हैं कि अंत्रियों के चारों ओर इनका एक चक्र बन जाता है। दूसरे प्रकार के सूत्र अंत्रियों की लंबाई की ओर रहते हैं। इस प्रकार एक सूत्र गोलाई में रहते हैं और दूसरे लंबाई में। पहिले सूत्रों को Circular Fibres और दूसरों को Longitudinal कहते हैं।

इन अंत्रियों में जो गति होती है वह इन सूत्रों के संकोच करने से उत्पन्न होती है, जब गोलाई के सूत्र संकोच करते हैं तो अंत्रियों की नलिका सिकुड़ जाती है। वहाँ के स्थान की चौड़ाई कम हो जाती है ; किंतु जब लंबाईवाले सूत्र सिकुड़ते हैं तो नलिका की लंबाई कम हो जाती है । इस क्रिया से भोजन दो प्रकार से आगे को बढ़ता है। जिस स्थान पर भोजन का कुछ भाग होता है, उस स्थान के पीछेवाले गोल सूत्र जब संकोच करते हैं तब उस स्थान के भोजन को आगे की ओर धक्का लगता है। इसके साथ ही संकोच करनेवाले सूत्रों से आगे की ओर के गोल सूत्र चौड़े जाते हैं। इस प्रकार आगे का मार्ग खुल जाता है । अतएव भोजन को आगे बढ़ने में कोई कठिनाई नहीं होती। साथ में भोजन से आगे लंबे सूत्र संकोच करते हैं । इस कारण आगे के स्थान की लंबाई कम हो जाती है । इन दोनों प्रकार की क्रिया से भोजन को आगे की ओर बढ़ने का खूब अवसर मिलता है।

कुछ लेखक इस गति के अतिरिक्त अंत्रियों में एक और भी गति मानते हैं । वे कहते हैं कि उसके कारण अंत्रि इधर से उधर को गति करती है, जिससे अंत्रियों में सब वस्तुएँ उत्तम प्रकार से मिल जाती हैं। यह गति देखने में बड़ी विचित्र होती है । अंत्रि में एक छोटी सी लहर उत्पन्न होती है । वह आगे बढ़कर दो भागों में विभक्त हो जाती है । ये दोनों भाग फिर दो-दो में विभक्त हो जाते हैं। बाहर के दो भाग आगे की ओर बढ़ जाते हैं और बीच के दोनों भाग फिर मिल जाते हैं । यह प्रत्येक कुछ सेकिंड के पश्चात् होता है । इस गति से यह लाभ होता है कि प्रथम तो अंत्रियों के भीतर जितनी भी वस्तुएँ होती हैं वे सब आपस में मिल जाती हैं । दूसरे अंत्रियों का प्रत्येक भाग

भोजन के संपर्क में आता है, जिससे भोजन का शोषण उत्तम प्रकार से होता है।

अंत्रियों की जितनी गति हैं वे सब अनैच्छिक हैं। यह गति हमारी इच्छा के अधीन नहीं हैं। जिन पेशियों से अंत्रियों की भित्तियाँ बनी हुई हैं वे अनैच्छिक हैं। इन सबका मस्तिष्क से नाड़ियों द्वारा संबंध है और वहाँ से बराबर उत्तेजनाएँ आया करती हैं। उनकी क्रिया मस्तिष्क के केंद्र के अधीन हैं। वही आवश्यकता के अनुसार उनकी गति को घटाता-बढ़ाता है।

बृहत् अंत्रियों में भी लघु अंत्रियों की भाँति गति होती है किंतु वह बहुत धीमी होती है। जितना समय भोजन लघु अंत्रियों के २२½ फ़िट की लंबाई को पार करने में लेता है उतना समय यहाँ दो फ़िट की दूरी में व्यय हो जाता है। इससे इसकी गति का अनुमान किया जा सकता है।

भोजन करने के ४½ घंटे के पश्चात् बृहत् अंत्रियों में भोजन आना आरंभ हो जाता है। जिस समय भोजन यहाँ आता है तो उसमें ६५% जल रहता है। साथ में प्रोटीन, कर्बोज और बसा का भी कुछ भाग, जो लघु अंत्रियों में शोषित नहीं हुआ है, चला आता है। यहाँ पर इसका शोषण हो जाता है और जल का भी बहुत कुछ भाग सोख लिया जाता है। यह शोषण अधिकतर बृहत् अंत्रियों के प्रथम भाग में, जिसको Coecum कहते हैं, होता है। यह जिस स्थान पर क्षुद्र अंत्रियाँ बृहत् से मिलती हैं वहाँ के छोटे भाग का नाम है। मल का अंतिम स्वरूप उस समय तक नहीं बनता जब तक वह बस्ति के बृहत् अंत्र में नहीं आता। जल का शोषण बृहत्-अंत्र का मुख्य कार्य मालूम होता है।

इस भाग में गति वैसी ही होती है जैसी कि क्षुद्र अंत्रियों में। अंतर केवल यह है कि गति बहुत धीमी होती है। बृहद् अंत्रियों में भोजन बहुत आहिस्ते-आहिस्ते आगे की ओर बढ़ता है।

जैसा पूर्व में कहा जा चुका है ४½ घंटे के पश्चात् बृहद् अंत्रियों में भोजन आना आरंभ हो जाता है। लघु अंत्र और बृहद् अंत्र का मिलान दाहिनी ओर श्रोणिफलक के पास होता है यहाँ से बृहद् अंत्र का ऊर्ध्वगामी भाग आरंभ होता है जो यकृत् के पास तक चला जाता है। इस स्थान पर भोजन ६½ घंटे में पहुँचता है। बृहद् अंत्र यकृत् के नीचे के किनारे से मुड़कर दाहिनी ओर से बांई ओर को प्लीहा के पास पहुँच जाता है। और यहाँ से नीचे की ओर चलकर अंत में वस्ति में प्रवेश करता है। भोजन यकृत् के पास अंत्र के मुड़ाव से ६½ घंटे के पश्चात् चलकर बांई ओर प्लीहा के पास के मुड़ाव पर ६ घंटे पर पहुँचता है। वस्ति के ऊपर बारहवें घंटे पर पहुँचता है और बीसवें घंटे पर मलाशय में प्रवेश करता है। जिसके कुछ समय के पश्चात् मलाशय में होकर मल मलद्वार से शरीर त्याग करता है।

इस क्रम के विषय में भिन्न-भिन्न मनुष्य में भिन्नता पाई जा सकती है। साधारणतया यही क्रम देखा जाता है।

बृहद् अंत्रियों के कार्य—मांसाहारी पशुओं में बृहद् अंत्र की इतनी लंबाई नहीं होती जितनी कि शाकाहारी पशुओं में होती है। मांसाहारी पशुओं में बृहद् अंत्र का कार्य जल के शोषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं मालूम होता। वह जल को सोख कर मल का आयाम घटा देते हैं; किंतु शाकाहारी पशुओं में इनकी विशेष क्रिया प्रतीत होती है और इसी कारण इसकी अधिक लंबाई होती है। शाक पदार्थों में सेल्यूलोज़ का अधिक भाग

होता है। सेल्यूलोज़ पर पाचक-रसों की कुछ भी क्रिया नहीं होती। बृहद् अंत्र में जिस समय यह वस्तु आती है तो यहाँ जीवाणुओं की क्रिया से इसका भी भंजन होता है। इससे वसाम्ल बनते हैं जो शरीर द्वारा ग्रहण कर लिये जाते हैं। लघु अंत्र में यही वसाम्ल वसा के टूटने से बनता है।

मनुष्य में यह अंग चार क्रियाएँ करता है। सबसे पहले इस की भित्तियों की ग्रंथियाँ एक ऐसी चिकनी वस्तु बनाती हैं जिससे मल में चिकनाई आ जाती है और वह सुगमता से बाहर निकल जाता है। दूसरे बृहद् अंत्र कुछ वस्तुओं को शरीर से निकाल करके मल में मिला देता है। लोह, केलशियम, मेगनेशियम, फ़ास्फ़ोरस इत्यादि को यह शरीर से निकाल देता है। कुछ ओपधियाँ भी शरीर को इसी अंग द्वारा त्याग करती हैं। पारा यदि ओपधि की भाँति खाने को दिया जाता है तो वह बृहद् अंत्र द्वारा शरीर से निकल कर मल में मिलता है। तीसरी क्रिया, जो ऊपर कही जा चुकी है, वह भी इसी स्थान में होती है। सेल्यूलोज़ के भंजन से वसाम्ल बनते हैं। इनके अतिरिक्त मीथेन नामक गैस, कार्बन-डाई-ऑक्साइड, और हाइड्रोजन-सल्फ़ाइड भी बनते हैं।

चौथी जो इसकी सबसे मुख्य क्रिया है वह जल-शोपण की शक्ति है। चौबीस घंटे में बृहद् अंत्र द्वारा ४०० सी०सी० * जल का शोपण होता है। किंतु यहाँ किसी भाँति की भी पोपक वस्तु का शोपण होता हुआ नहीं मालूम होता। केवल ग्लूकोज़ एक ऐसी शर्करा है जिसका कुछ शोपण हो जाता है। जितनी मात्रा का शोपण होता है इससे शरीर को कुछ भी लाभ की आशा नहीं की जा सकती।

---

* १६ बूंद की एक सी० सी० होती है।

मल-त्याग—जो भोजन हम खाते हैं, वह शरीर के पाचक रसों की क्रियाओं से अपने अंतिम स्वरूप में परिवर्त्तित होकर शरीर द्वारा ग्रहण और शोषण किए जाते हैं। इन सब क्रियाओं के लिये शरीर में भिन्न-भिन्न प्रबंध हैं, जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। जब भोजन से सारा पोषक भाग निकल जाता है और अंत्रियों द्वारा उसमें और भी बहुत-सी वस्तुएँ मिला दी जाती हैं तो वह मल का रूप धारण कर लेता है। यह मल मल-द्वार से शरीर का त्याग करता है। मल त्याग की क्रिया मांस-पेशियों के संकोच से होती है, जिनमें उदर की पेशियाँ मुख्य हैं। मल-त्याग का जो नियमित समय होता है उस समय पर हमारे मस्तिष्क से मल-त्याग की क्रिया से संबंध रखनेवाली पेशियों को उत्तेजना मिलती है। सारी वृहद् अंत्रियों में तेजी से गति होने लगती है। उसके पश्चात् उदर की पेशियाँ अपने संकोच से मल को बाहर निकाल देती हैं।

भोजन—इस प्रकार शरीर जो भोजन ग्रहण करता है उससे उसका पोषण होता है। भोजन का अभिप्राय यही होता है कि वह शरीर का पोषण करे। अतएव यह प्रश्न उठता है कि मनुष्य के लिये कौन सा भोजन उत्तम है और उसको किस भोजन की कितनी मात्रा खानी चाहिए जिससे उसके शरीर की सब आवश्यकताएँ पूर्ण हो जायँ।

संसार में भोजन के नाना पदार्थ हैं। एक मनुष्य किसी एक पदार्थ का अधिक प्रयोग करता है, दूसरा दूसरे का। किंतु भोजन के सब पदार्थ तीन ही श्रेणियों के होते हैं, प्रोटीन, वसा, और कर्बोज। इन्हीं वस्तुओं के भिन्न-भिन्न योग से भोजन के पदार्थ बनते हैं। प्रोटीन में कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन

गंधक, स्फुर इत्यादि सब मौलिक रहते हैं । शरीर में भी येही मौलिक रहते हैं । तो बस प्रोटीनों के प्रयोग से शरीर को सब आवश्यक मौलिक मिल सकते हैं ।

किंतु ऐसा समझना भूल है । शरीर में ये मौलिक प्रोटीन, वसा और कर्बोज तीन स्वरूपों में रहते हैं । अतएव हमको भी भिन्न-भिन्न मौलिक इन तीनों पदार्थों के द्वारा प्राप्त करने चाहिए । अनुभव से यह मालूम हुआ है कि इन तीनों वस्तुओं का मिश्रित भोजन सदा उत्तम होता है । केवल एक वस्तु के भोजन पर मनुष्य का स्वास्थ्य नहीं रह सकता ।

यदि हम भिन्न जातियों के भोजन का तनिक निरीक्षण करें, तो हम देखेंगे कि संसार की सब जातियों का भोजन इन तीनों अवयवों का मिश्रण होता है । किसी देश में कोई विशेष वस्तु अधिक खाई जाती है, तो दूसरे देश में दूसरी वस्तु का अधिक प्रयोग होता है । एक जाति प्रोटीन अधिक खाती है, तो दूसरी के भोजन में वसा की अधिकता है और तीसरे के भोजन में कर्बोज अधिक है ; किंतु रहते सब अवयव हैं । जो लोग पृथ्वी के अत्यंत शीत प्रदेशों में रहते हैं, वे वसा और प्रोटीन अधिक खाते हैं । उनके भोजन में कर्बोज बहुत कम होता है । जापान में कर्बोज की बहुत अधिकता होती है ; किंतु वसा और प्रोटीन का कम प्रयोग होता है । अरब के रहनेवाले प्रोटीन अधिक खाते है तो भी सब लोग इन भिन्न-भिन्न प्रकार के भोजनों द्वारा पुष्ट रहते हैं । तो क्या कोई ऐसा एक भोजन नहीं हो सकता जो सबोंके लिये उत्तम हो ?

उपयुक्त भोजन—वैज्ञानिकों ने ऐसा भोजन मालूम करने का प्रयत्न किया है । यह तो स्पष्ट है कि देश, काल व वैयक्तिक आवश्यकताओं के अनुसार भोजन के स्वरूप और मात्रा में अवश्य

ही परिवर्त्तन करना पड़ेगा। जो लोग शीत प्रदेशों में रहते हैं और जो उष्ण प्रदेशों में रहते हैं, उन दोनों के लिये समान भोजन नहीं हो सकता। दिन भर मज़दूरी करनेवाले और कालेज में लेक्चर देनेवाले अध्यापक का भोजन समान नहीं हो सकता। किंतु हम कुछ ऐसे साधारण नियम मालूम कर सकते हैं जो भोजन के संबंध में हमारे पथ-प्रदर्शक हों।

इस संबंध में यह देखना आवश्यक है कि साधारण मनुष्य को एक दिन में कितना काम करना पड़ता है, क्योंकि उसी पर भोजन निर्भर करता है। भोजन भी ऐसा होना चाहिए कि वह दिन भर के काम के योग्य शक्ति उत्पन्न कर सके, और साथ में शरीर के ताप को ठीक रखने के लिये उचित उष्णता भी उत्पन्न कर सके। यह देखा गया है कि साधारण काम करनेवाला मनुष्य जो अधिक शारीरिक परिश्रम नहीं करता वह एक दिन में २५०० केलोरी उष्णता को उत्पन्न करनेवाला भोजन करता है।

भोजन का मूल्य—केलोरी उष्णता की एकाई मानी जाती है। जिस प्रकार लंबाई की एकाई इंच है, दूरी की एकाई मील है और तोल की एकाई छटाक है, उसी भाँति उष्णता की एकाई केलोरी मानी जाती है। एक केलोरी उतनी उष्णता है, जो एक ग्राम जल के ताप को एक डिग्री शतांश बढ़ा दे। भिन्न-भिन्न वस्तुओं को जलाकर यह मालूम किया जा सकता है कि उनके १ ग्राम (१ माशा) के जलने से एक ग्राम जल की उष्णता कितनी बढ़ी। इस प्रकार यह पता लगाया गया है कि

१ ग्राम प्रोटीन के जलने व ऑक्सजनीकरण से ४·१ केलोरी उष्णता उत्पन्न होती है
१ ,, वसा ,, ,, ,, ,, ९·१ ,, ,, ,, ,,
१ ,, कर्बोज ,, ,, ,, ,, ४·१ ,, ,, ,, ,,

यह अनुमान लगाया गया है कि एक मनुष्य जो कोई विशेष परिश्रम नहीं करता चौबीस घंटे में ४१० केलोरी के बराबर उष्णता का व्यय करता है। क्योंकि विश्राम की अवस्था में भी शरीर के अंगों में कर्म हुआ ही करते हैं। इस क्षति को पूर्ण करने के लिये ऐसे भोजन की आवश्यकता है, जो कम-से-कम छः गुनी उष्णता उत्पन्न कर सके अर्थात् २५०० केलोरी उष्णता उत्पन्न करे। जो अधिक परिश्रम करनेवाले लोग हैं, उनको इससे अधिक भोजन की आवश्यकता है। नौका-विभाग (Navy) के सैनिकों को ५००० केलोरी के मूल्य का भोजन प्रतिदिन दिया जाता है।

उत्तम भोजन—यह उष्णता यदि हम चाहें, तो केवल एक ही प्रकार के भोजन से प्राप्त कर सकते हैं, किंतु अनुभव यह सिखाता है कि ऐसा करने से मनुष्य की शक्तियों का ह्रास होता है। इस प्रकार का भोजन उत्तम नहीं है। भोजन में सब अवयव रहने चाहिए। उत्तम भोजन, प्रोटीन, कर्बोज, वसा, लवण और जल से मिलकर बनता है। इन अवयवों के अतिरिक्त उसमें विटेमीन भी काफ़ी मात्रा में रहनी चाहिए। आगे चलकर विटेमीन का भी वर्णन किया जायगा।

प्रोटीन के जो पहले गुण और कार्य बताए जा चुके हैं, उनके अनुसार प्रोटीन शरीर के लिये बहुत आवश्यक वस्तु है। शरीर के तंतुओं की क्षति और शरीर के रसों को बनाने के लिये प्रोटीन का भोजन में उपस्थित होना अनिवार्य है। प्रोफ़ेसर चिटिंडन (Chittenden) के अनुसार एक मनुष्य के लिये १ छटाक प्रोटीन प्रति दिन काफ़ी है। एक छटाक प्रोटीन पाव भर मांस, या ६ मुर्ग़ी के अंडे, या पाव भर सूखी हुई मटर, या ५ सेर अनन्नास, या १७ सेर सेब या ४½ सेर दूध से मिल सकता है।

अधिकतर वैज्ञानिकों की राय है कि प्रोफ़ेसर चिटिंडन की बताई हुई प्रोटीन की मात्रा बहुत कम है। जितनी शरीर में क्षति होती है और अन्य क्रियाएँ होती हैं उनको देखते हुए अधिक मात्रा की आवश्यकता है।

हमको यह मालूम हो गया कि मनुष्य को उष्णता के अमुक मात्रा की आवश्यकता होती है, और प्रोटीन, वसा और कर्बोज के एक ग्राम से उष्णता की अमुक मात्रा उत्पन्न होती है। तो यदि हमें यह मालूम हो कि भोजन की कौन-कौन सी वस्तु में इन अवयवों की कितनी मात्रा है, तो हम यह सहज में मालूम कर सकते हैं कि कौन-कौन से पदार्थ की कितनी मात्रा खाने से हमको पर्याप्त शक्ति मिलेगी।

वैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न वस्तुओं के विश्लेषण से यह पता लगा लिया है कि उनमें इन अवयवों की कितनी मात्रा है। कुछ वस्तुओं का नीचे उदाहरण दिया जाता है। वस्तुओं के सामने जो अंक लिखे हैं, उनको प्रतिशत समझना चाहिए, अर्थात् उस वस्तु के १०० भागों में प्रोटीन या कर्बोज इत्यादि के उतने भाग हैं, जितना उसके सामने के अंकों द्वारा दर्शाया गया है—

	प्रोटीन	वसा	कर्बोज	लवण	जल
गेहूँ	११·४७	२.०४	७०·६०	३·१४	११·८३
मकई	६·५२	४·४४	६८·६	३·७५	११·५०
चावल	६·७२	०·५०	८१·०७	१·०४	११·०५
जौ	८·६२	१·६०	७६·१०	२·२	१२·३
बाजरा	८·७२	४·७६	७३·४०	२·०	११·१२
उरद की दाल	२२·३३	१·६५	५५·२२	०	...
मसूर की दाल	२५·४७	३·०	५५·०३	३·३	१३·०

	प्रोटीन	वसा	कर्वोज	लवण	जल
अरहर की दाल	२१·७०	२·५	५४·०७	५·५	१६·२३
गाय का दूध	३·५	४	३·५	०·७५	८७·२५
स्त्री का ,,	१·२५	३·५	७·०	०·२	८८·०५
मक्खन	२·००	८५·०	०	१·०	१२·६५
छेना	२४·००	२·५	०	१·१	७१ ८
बकरे का मांस	१६·७	१·५	०	१·१	७५·७
सूअर ,, ,,	१६·६	७·२	०·६	१·१	७२·६
गाय ,, ,,	२०·०	१·५	०·७	१·१	७६·७
अंडा	१३·५	११·६०	...	१·२	७३·५
वादाम	२४·०	५४·०	१०·०	३·०	६·०

भोजन के विषय पर जो बड़ी पुस्तकें हैं, उनमें बहुत-से भोजन पदार्थों का विश्लेषण-परिणाम मिल सकता है, जिसके अवलोकन से यह सहज ही में मालूम किया जा सकता है कि किस वस्तु का पोषक मूल्य कितना है।

अब प्रश्न यह उठता है कि किस वस्तु से कितना-कितना पोषण ग्रहण करना चाहिए। हमारे भोजन में प्रोटीन, वसा और कर्वोज का कितना-कितना भाग रहना चाहिए। यह तो पहले ही मालूम किया जा चुका है कि केवल एक ही प्रकार के भोजन से शक्ति ग्रहण करना स्वास्थ्य के लिये हितकर नहीं है। अतएव भोजन में प्रोटीन, वसा और कर्वोज तीनों का भाग रहना आवश्यक है।

मनुष्य की सबसे अधिक शक्ति पेशियों द्वारा काम करने में व्यय होती है। जो मनुष्य परिश्रम नहीं करता, वह भी कम-से-कम कहीं-न-कहीं अवश्य ही आता-जाता है। भोजन खाता है, नित्य-कर्म करता है, बातचीत करता है, इन सब क्रियाओं में उसकी

शक्ति का नाश होता है। इसके अतिरिक्त शारीरिक ताप को स्थिर रखने के लिये भी काफ़ी शक्ति का व्यय होता है। इस सारी उष्णता की क्षति की कर्बोज से पूर्ति हो सकती है, और वसा से भी सहायता ली जा सकती है, क्योंकि वसा कर्बोज की अपेक्षा दुगुनी उष्णता उत्पन्न करती है। अतएव भोजन में सबसे अधिक भाग कर्बोज का होना चाहिए।

वैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न अवयवों की निम्न मात्राओं को पर्याप्त समझा है।

साधारण परिश्रम करनेवाले के लिये—

प्रोटीन	कर्बोज	वसा
१०० ग्राम	४६० ग्राम	६० ग्राम

कठिन शारीरिक परिश्रम करनेवाले के लिये—

प्रोटीन	कर्बोज	वसा
१६१ ग्राम	५२० ग्राम	६८ ग्राम

इन सब अंकों की सहायता से हम सहज में भोजन-सूची तैयार कर सकते हैं; इतना याद रखना चाहिए कि सब वस्तुओं के भिन्न-भिन्न अवयव समान प्रकार से पचने योग्य नहीं होते। दूध और अंडे की अपेक्षा दाल में प्रोटीन की मात्रा बहुत अधिक होती है, किंतु पाचनशील नहीं है। दूध की प्रोटीन दाल की प्रोटीन से अधिक पच जाती है। मांस की प्रोटीन शाक की प्रोटीनों से अधिक पचती है। अंडे की प्रोटीन बहुत ही शीघ्र पचती है।

भोजनों के इन अवयवों के अतिरिक्त लवण और जल भी शरीर के लिये बड़े आवश्यक हैं। हमारे शरीर के लवण शाक के लवणों से ही बनते हैं। यह लवण भोजन के पचने में बहुत सहायता देते हैं। जल की पर्याप्त मात्रा भी बहुत आवश्यक है।

उत्तम भोजन में निम्न-लिखित गुण होने चाहिए—

१. भोजन में पोषक-शक्ति काफ़ी होनी चाहिए। उसका केलोरी के रूप में मूल्य २,५०० से कम न होना चाहिए। यदि उस भोजन के खाने से २,५०० केलोरी से कम उष्णता उत्पन्न होती है, तो वह शरीर का उचित पोषण नहीं कर सकता।

२. उस भोजन में प्रोटीन, वसा और तीनों वस्तुओं की पर्याप्त मात्रा होनी चाहिए। मिश्रित भोजन ही शरीर के लिये उत्तम है। केवल एक पदार्थ पर स्वास्थ्य ठीक नहीं रह सकता।

३. भोजन में कुछ ताज़े फल अवश्य होने चाहिए। विटेमीन नामक वस्तु ताज़ी वस्तुओं ही में होती है। भोजन-पदार्थ को गरम करने और पकाने से उसका नाश हो जाता है। ताज़े दूध में विटेमीन काफ़ी होती है, किंतु उसको गरम करने से वह नष्ट हो जाती हैं। यह वस्तु शरीर की वृद्धि के लिये बहुत आवश्यक हैं। ताज़े फलों में इसकी पर्याप्त मात्रा होती है। नीबू और नारंगी में इसकी मात्रा बहुत होती है।

४. उत्तम भोजन में भिन्न-भिन्न लवणों की—जैसे पोटाशियम, केलशियम, इत्यादि की—पर्याप्त मात्रा होनी चाहिए; क्योंकि शरीर को इन लवणों की आवश्यकता होती है।

५. भोजन का स्वादिष्ट होना भी बहुत आवश्यक है। जिस पदार्थ का स्वाद उत्तम नहीं होता, उसका पाचन भी ठीक नहीं होता। हम देख चुके हैं कि जब कुत्ते को मांस खाने को दिया जाता है, तब तो उसके आमाशय में काफ़ी रस बनता है, किंतु दूसरी वस्तुओं से इतना रस नहीं बनता। इसी प्रकार स्वादिष्ट भोजन उत्तम रस बनाता है। अस्वादिष्ट भोजन से काफ़ी पाचक रस नहीं बनते और उससे पाचन में गड़बड़ी पड़ती है।

विटेमीन—ऊपर कई स्थानों पर विटेमीन का नाम आ चुका है। भोजन के ताज़े पदार्थों में कुछ ऐसी वस्तु होती हैं जिनके ऊपर शरीर की वृद्धि बहुत कुछ निर्भर करती है। यह वस्तु उन पदार्थों को अधिक गरम करने, उबालने या पकाने से नष्ट हो जाती है, किंतु ताज़ी अवस्था में बहुतायत से उपस्थित रहते हैं। कुछ चूहों को कृत्रिम प्रकार से बनाया हुआ दूध दिया गया। उसमें साधारण दूध में जो अवयव रहते हैं वे सब उसी मात्रा में उपस्थित थे। किंतु उन चूहों को ऊपर की कोई ताज़ी चीज़ न दी गई। कुछ दिन के पश्चात् उनकी वृद्धि एकदम बंद हो गई। शरीर के बाल गिरने लगे। वृद्धावस्था के लक्षण उत्पन्न हो गए। उनको चलना कठिन हो गया। उसके पश्चात् उसी दूध में, जिसको उस समय तक प्रयोग करवा रहे थे, गौ का कुछ ताज़ा दूध मिला दिया जिसको उबाला नहीं गया था। थोड़े ही दिनों में इन चूहों की दशा सुधरने लगी और कुछ समय के पश्चात् उनकी फिर वही पूर्ववत् वृद्धि होने लगी। उनकी दशा बिल्कुल सुधर गई।

इस दशा का कारण भोजन में उसी वस्तु की जिसको विटेमीन कहते हैं अनुपस्थिति थी। ज्यों ही ताज़ा दूध मिलाया गया वह कमी पूरी हो गई। इस वस्तु की यह विशेषता है कि इसकी कम या अधिक मात्रा से कुछ अंतर नहीं पड़ता। थोड़ा सा विटेमीन भी वही कार्य करेगा, जो अधिक मात्रा से होगा। इस लिये थोड़ा सा ताज़ा भोजन भी वृद्धि के लिये पर्याप्त है। साधारण फलों से इस वस्तु को प्राप्त कर सकते हैं।

इन वस्तुओं का प्रभाव न केवल वृद्धि पर किंतु स्वास्थ्य पर भी पड़ता है। इनकी कमी से रोग उत्पन्न हो जाते हैं। बेरी-बेरी (Beri-Beri) एक ऐसा ही रोग है जो विटेमीन की कमी

से उत्पन्न होता है। यह रोग एक समय जापान के नौका-विभाग में एकदम एक महामारी की भाँति फैल गया था। उस समय तक इस रोग का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं था। बहुत अन्वेषण करने पर मालूम हुआ कि रोग के फैलने का कारण भोजन की त्रुटि थी। सारे विभाग को वह चावल खाने को दिया जाता था, जिसके ऊपर से छिलका उतार दिया गया था और उनको पालिश कर दिया गया था। चावल में विटेमीन बाहर के छिलके में रहता है। इस प्रकार विटेमीन का नाश हो जाता था। इस ज्ञान के अनुसार ज्यों ही भोजन में परिवर्तन किया गया त्योंही रोग जड़ से जाता रहा। अब भी जब कभी रोग फैलता है या किसी एक व्यक्ति को होता है तो सदा उसका कारण भोजन में विटेमीन की कमी होती है। इसकी चिकित्सा केवल विटेमीन की कमी को पूरा करना है।

कुछ-न-कुछ विटेमीन प्रत्येक भोजन पदार्थ में रहता है, किंतु विना पका हुआ भोजन तो खाया नहीं जा सकता, इसलिये साथ में कुछ ताज़ी चीज़ अवश्य खानी चाहिए। साधारण से साधारण फल से काम चल सकता है। नींबू, टमाटर, गोभी, और अंगूर में बहुत विटेमीन होता है। हरा चना, मटर, सेम इत्यादि भी इस प्रयोजन के लिये उपयुक्त पदार्थ हैं। गन्ने का रस, केला इत्यादि ऐसी वस्तुएँ हैं, जिनके प्रयोग से विटेमीन की कमी पूरी हो सकती है।

स्कर्वी भी एक ऐसा ही रोग होता है। उसकी चिकित्सा के लिये जल में चने भिगो कर दो दिन तक रख देते हैं। जब उनमें किल्ले फूटने लगते हैं तब उनका प्रयोग करते हैं। इससे रोग जाता रहता है।

विटेमीन वस्तुओं का रासायनिक स्वरूप अभी तक ठीक

नहीं मालूम हो सका है । रसायनज्ञ ने इनको तीन श्रेणियों में बाँटा है। पहली श्रेणी के विटेमीन वसा में घुलते हैं और दूसरी दो श्रेणियों के विटेमीन जल में घुलते हैं।

इस प्रकार उत्तम भोजन छः वस्तुओं से मिलकर बनता है। १ प्रोटीन, २ वसा, ३ कर्वोज, ४ लवण, ५ जल और ६ विटेमीन इन सब अवयवों के भिन्न-भिन्न कार्य हैं। इनमें एक की भी कमी होने से भोजन का शरीर-पोषक गुण कम हो जाता है ।

यकृत

पाचन-क्रिया से संबंध रखनेवाली एक बहुत बड़ी शरीर की ग्रंथि यकृत है। जब कभी पाचन में कुछ विकार आ जाता है तो लोग कहते हैं कि यकृत ख़राब होगया है। साधारणतया पाचन का प्रत्येक दोष यकृत के सिर मढ़ा जाता है। यदि यकृत में बोलने की शक्ति होती तो वह अवश्य ही इस दोषारोपण की अपील करता; क्योंकि यकृत बहुत ही सावधानी और परिश्रम से अपना काम करता है। जिस भाँति शरीर के दूसरे अंग काम किया करते हैं वैसे ही यकृत भी सदा अपना कार्य करता रहता है। उसकी सहिष्णुता भी किसी अंग से कम नहीं है। किंतु तो भी यह दोष यकृत ही को मिलता है।

कभी-कभी यकृत में कुछ विकार अवश्य हो जाता है; किंतु उस समय भी यदि ध्यान से देखा जाय तो शरीर के दूसरे अंगों में भी विकृति पाई जायगी। केवल एक अंग बहुत कम विकृत हुआ करता है। शरीर के जितने अंग हैं सब साथ में कार्य करते हैं, कोई भी अपनी बाँसुरी को अलग नहीं बजाता है। यदि एक अंग विकृत होता

चित्र नं० ५४—यकृत का सामने का दृश्य
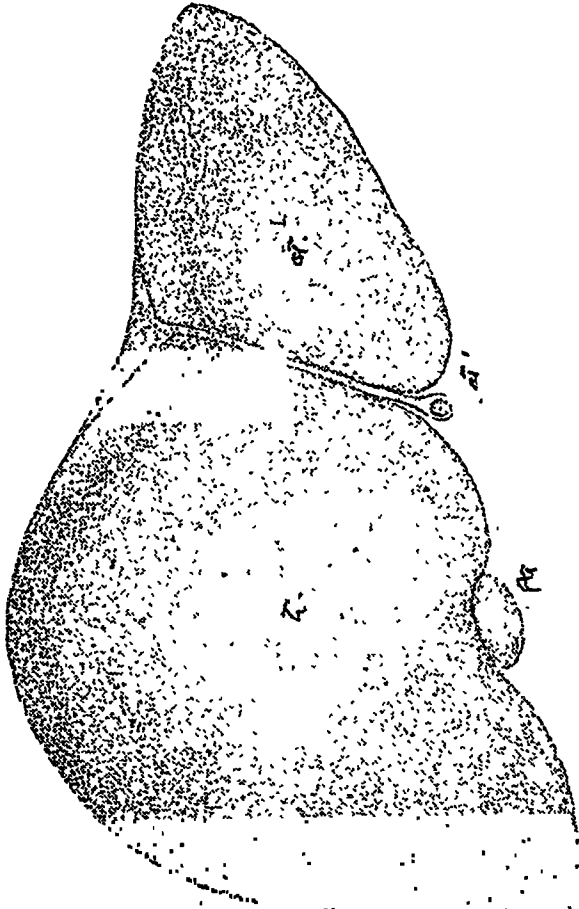
द—दहना भाग। ब—बायाँ भाग। पि—पित्ताशय। ब—यन्त्रिका बंधन।

है तो उसका दूसरे पर कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस प्रकार रोग उत्पन्न होने पर सदा यह पाया जाता है कि शरीर के कई अंगों में कुछ विकृति उत्पन्न होगई है । एक अंग के कष्ट से शरीर के सभी अंग कष्ट पाते हैं । एक के विकार से दूसरे अंग का विकार

आरंभ होता है। दूसरे अंग के विकार से जो विष उत्पन्न होता है वह फिर पहले अंग पर अपना प्रभाव डालता है और उसका विकार बढ़ता है। इसी प्रकार पहले अंग के प्रभाव से दूसरे अंग का विकार बढ़ता है। शरीर की व्याधियों में यह चक्र सदा चलता है।

चित्र नं० ९९—यकृत जैसा नीचे और पीछे की ओर से दीखता है।
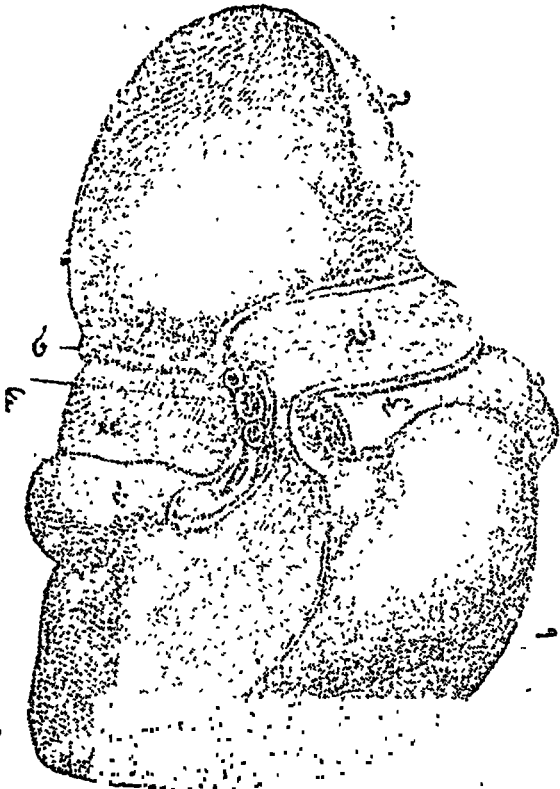
१—दाहिना खंड। २—बायाँ खंड। ३—चतुरस्र खंड। ४—चतुरस्र प्रवर्द्धन। ५—मध्य खंड। ६—यकृत द्वार। ७—नाभि धमनी खात। ८—पित्ताशय।

यकृत हमारे दाहिनी ओर स्थित है और नीचे की चार या पाँच पर्शुकाओं से दबा हुआ है। इसका आकार भी बहुत बड़ा होता है। वृक्क और प्लीहा इसके सामने शिशु मालूम होते हैं। ऊपर और बाहर का भाग गोल होता है। ऊपर भी कुछ गोलाई होती है; किंतु इसका नीचे का किनारा तीव्र होता है। चित्र में देखने से इसका आकार समझ में आजायगा।

यकृत की आंतरिक रचना बड़ी विचित्र है। इसमें दो स्थानों से दो प्रकार का रक्त आता है। बृहत् धमनी से 'यकृत धमनी' (Hepatic Artery) इसको रक्त पहुँचाती है और दूसरी ओर महाशिरा (Vena Cava) से 'प्रतिहारणी शिरा' (Portal Vein) के द्वारा अशुद्ध रक्त आता है। यकृत से लौटनेवाला रक्त एक दूसरी शिरा द्वारा महाशिरा को लौटता है जिसको Hepatic Vein कहते हैं। इस प्रकार यकृत के पास रक्त आने के दो मार्ग हैं और जानेवाला केवल एक ही। यहाँ से पित्त के जाने के भी दो मार्ग होते हैं। एक सीधे अंत्रियों को और दूसरे पित्ताशय को। जब अंत्रियों में पाचन होता रहता है, तब पित्त सीधा अंत्रियों में एक नलिका के द्वारा, जिसको 'अंत्रि-नलिका' कहते हैं, जाता है। किंतु जिस समय अंत्रियाँ ख़ाली होती हैं और उनमें पाचन नहीं होता उस समय पित्त पित्ताशय में 'यकृत-नलिका' के द्वारा जाता है और वहाँ एकत्रित होता है। जब अंत्रियों में आवश्यकता होती है तब पित्त अंत्रियों में पित्ताशय से जाता है।

यकृत बहुत छोटे-छोटे भागों में विभाजित होता है, जिनको पालिका कहते हैं। ये पालिकाएँ यकृत-सेलों के बने होते हैं जिनका आकार विशेपरूप का होता है। वह अधिकतर अष्टकोणीय आकार

के होते हैं। इस आकार का कारण सेलों का एक दूसरे पर भार कहा जाता है। इन पालिकाओं के बीच में प्रतिहारणी शिरा और यकृतीय

चित्र नं० ९६—संयुक्त नलिका का लंबाई का परिच्छेद, जिसमें यकृतीय धमनी, संयुक्त शिरा और पित्त-नलिका की शाखाएँ उपस्थित हैं।
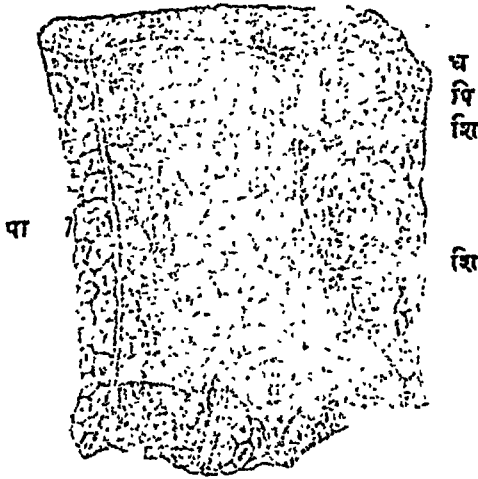
पा—पालिका

ध—धमनी

पि—पित्त-नलिका

शि—प्रतिहारणी शिरा की शाखाएँ जो यकृत की पालिकाओं के बीच में शिरा से निकलती हैं। इन शाखाओं से और बारीक शाखाएँ निकलकर पालिकाओं के बीच में भ्रमण करती हैं।

धमनियों की शाखाएँ सदा साथ रहती हैं। इनके साथ एक और नली रहती है, जो पित्त को पित्ताशय में ले जाती है। इस प्रकार धमनी, संयुक्ता शिरा और पित्त नलिका तीनों की शाखाएँ एक साथ पालिकाओं के बीच में रहती हैं। इसी प्रकार ये सारे यकृत में फैली रहती हैं।

प्रतिहारणी शिरा की जो शाखाएँ पालिकाओं के बीच में रहती हैं उनसे बहुत सी छोटी-छोटी शाखाएँ पालिकाओं के भीतर जाती हैं और वहाँ केशिकाओं का जाल सा बना देती हैं। ये केशिकाएँ प्रत्येक पालिका के बीच में एक शिरा बनाती है जो पालिका के भीतर रहती है। ऐसी ही भिन्न-भिन्न पालिकाओं की आंतरिक शिराओं के मिलने से बाह्य शिरा बनती है। ये सब मिलकर यकृतीय शिरा बना देती हैं। यकृतीय शिरा यकृत में आए हुए रक्त को महाशिरा को लौटा देती है। यकृत में जो धमनी आती है उसका काम यकृत के सेलों का पोषण करना है।

शिरा की शाखाओं की भाँति पित्त-नलिका की भी शाखाएँ प्रत्येक पालिका से निकलती हैं और सब मिलकर पित्त-नलिका बनाती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शरीर से हृदय को लौटनेवाले रक्त के एक भाग को यकृत के द्वारा जाना पड़ता है। यकृत हृदय का एक संतरी है जो वहाँ जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को ललकारता है और जो जाने के योग्य नहीं होते उन्हें नहीं जाने देता।

प्रतिहारणी शिरा शरीर की सब शिराओं से भिन्न है। कोई दूसरी शिरा शाखाओं में विभाजित नहीं होती। यह काम धमनियों का है; किंतु यह शिरा ठीक धमनियों की भाँति

काम करती है। वह रक्त को यकृत को लेजाती है। वहाँ पहुँचकर इसकी बहुत सी शाखाएँ होती हैं जिनसे अंत में केशिकाएँ बनती हैं। इन केशिकाओं के रक्त को यकृतीय शिरा फिर इकट्ठा करती है और फिर महाशिरा में लौटाकर ले जाती है। इससे यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि प्रकृति का इस अशुद्ध रक्त को लौटाकर यहाँ लाने का कुछ अभिप्राय है। यह रक्त यहाँ इसी लिये लाया जाता है कि यकृत उससे दूषित वस्तुएँ पृथक् करे। उसमें जो प्रोटीन इत्यादि की अधिकता है इसे दूर कर दे और ग्लूकोज़ भी उससे ग्रहण कर ले।

यकृत के सेल पित्त बनाते हैं, जो पित्त-नलिका की बहुत बारीक-बारीक शाखाओं द्वारा, जो पालिकाओं के भीतर रहती हैं, एकत्रित करके पित्त-नलिका तक लाया जाता है और वहाँ से पित्ताशय में पहुँचाया जाता है। इस प्रकार यकृत धमनी, शिरा और पित्त नलिका की अत्यंत सूक्ष्म शाखाओं और यकृत सेलों का एक संग्रह मालूम होता है। यहाँ पर यह विशेषता है कि यकृत के सेल रक्त के संपर्क में आते हैं। शरीर भर में रक्त तंतुओं के संपर्क में नहीं आता है। रक्त से रस व लिंफ निकलता है और वह तंतुओं तक पोषण इत्यादि सब ले जाता है। किंतु यहाँ पर केशिकाओं से रक्त बाहर निकलकर यकृत के सेलों के साथ मिलता है। यहाँ रक्त-नलिकाओं की दीवारें एक प्रकार से अपूर्ण होती हैं।

साधारणतया यकृत का मुख्य कार्य पित्त को बनाना कहा जाता है। यद्यपि यह भी यकृत का एक कार्य है, किंतु सबसे बड़ा कार्य नहीं है, अन्य कार्यों में से एक कार्य है। यकृत में बहुत सी रासायनिक क्रियाएँ होती हैं।

यकृत चौबीस घंटे में जो पित्त बनाता है उसकी मात्रा बहुत अधिक होती है। वह लगभग दस छटांक के होता है। यह पाचन के समय अंत्रियों में जाता रहता है। पाचन के अतिरिक्त भी कुछ न कुछ जाया ही करता है। इस पर नाड़ियों का कुछ प्रभाव नहीं मालूम होता है। प्रतीत होता है कि इसका उत्पन्न होना कुछ रासायनिक वस्तुओं पर निर्भर करता है; क्योंकि जब भोजन अंत्रियों में आता है तब इसका बनना बढ़ जाता है। यह विचार किया जाता है कि पक्वाशय के श्लैष्मिक-कला का उद्रेचक (Secretin) इस पित्त की उत्पत्ति का भी कारण है।

पित्त एक गाढ़ा द्रव्य होता है जिसमें कुछ ठोस वस्तु भी मिली रहती है। इसमें ८६ भाग जल होता है और शेष १४ भाग घने पदार्थ, जो कुछ लवण होते हैं। इसका रंग गहरा हरा होता है जो उस हीमोग्लोबिन के टूटने से बनता है, जो यकृत रक्त के लाल कणों से ग्रहण करता है। इसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है। जब पित्त अंत्रियों द्वारा बहता है, तो इन लवणों का रक्त द्वारा शोषण हो जाता है और फिर प्रतिहारणी शिरा के द्वारा यकृत के पास चला जाता है। वहाँ वह लवण फिर पित्त में संमिलित हो जाते हैं। इसका कोई विशेष प्रयोग नहीं मालूम होता।

पित्त में दो लवण व वस्तु ऐसी होती हैं जिनके कारण पित्त हरा व पीला हो जाता है। अतएव ये वस्तुएँ पित्त को रंगनेवाली हैं। इनको रंजक पित्त कह सकते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है यह वस्तु जिनका नाम Bilirubin और Biliverdin है, रक्त कणों के हीमोग्लोबिन से बनते हैं। हीमोग्लोबिन में जो लोह होता है उसको यकृत स्वयं अपने आप ग्रहण कर लेता है और जो दूसरा रंजक भाग होता है उसको पित्त में भेज देता है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है पित्त का पाचन में बहुत कम भाग है। यह अग्नि-रस की पक्वाशय में अवश्य सहायता करता है और वह भी विशेष कर वसा के पाचन और शोषण के संबंध में। प्रोटीन और कर्बोज पर इसकी तनिक भी क्रिया नहीं होती। वसा के पाचन में पित्त दो प्रकार से सहायता देता है। प्रथम तो वसा से जो वसाम्ल बनते हैं वह उनको गला लेता है और दूसरे अंत्रियों की दीवारों को सदा चिकनी और गीली रखता है, जिससे पित्त में घुली हुई वसा सहज में अंत्रियों के सेलों में चली जाती है। जब कभी पित्ताशय की नलिका का मार्ग रुक जाता है, जैसा कि पित्ताशय के शूल में होता है,तो अंत्रियों में बहुत कम पित्त पहुँचता है। परिणाम यह होता है कि वसा का बहुतसा भाग मल के साथ बाहर निकल जाता है।

पित्त में कुछ निस्संक्रामक गुण माना जाता है। अर्थात् वह जीवाणुओं को नाश कर सकता है। इसमें बहुत संदेह है कि पित्त में यह शक्ति है या नहीं। स्वय पित्त सड़ने लगता है, वह उन जीवाणुओं को जो उसमें पहुँचकर सड़न उत्पन्न कर देते हैं नष्ट नहीं कर पाता। संभव है कि अंत्रियों की सड़न को वह इस प्रकार कम करता हो कि उसकी सहायता से भोजन पदार्थ को अधिक मात्रा के शोषण होने के कारण ऐसे पदार्थ अंत्रियों में कम रह जाते हैं जो सड़ सकें।

यकृत से जाते समय पित्त के लिये दो मार्ग रहते हैं। एक मार्ग पित्ताशय को जाता है और दूसरा अंत्रियों को। वह चाहे जिस मार्ग का अवलंबन कर सकता है। जिस समय अंत्रियों में पाचन होता रहता है उस समय पित्त अंत्रियों ही को जाता है, किंतु दूसरे समय पर पित्त पित्ताशय में जाकर जमा हो जाता है। वह कौन से

कारण हैं जो उसको पित्ताशय की ओर भेजते हैं और किन कारणों से वह अंत्रियों में जाता है इसका ठीक ज्ञान नहीं है। पाचन के समय पित्त का प्रवाह बढ़ जाता है। जिस समय पचा हुआ भोजन पक्काशय पर होकर जाता है तो उसका किसी प्रकार इसके प्रवाह पर प्रभाव पड़ता है; क्योंकि उसी समय पित्त अंत्रियों में अधिक मात्रा में आता है।

जब पित्त नलिकाओं में किसी भाँति का अवरोध होता है तो अंत्रियों और पित्ताशय में न जाकर पित्त रक्त में चला जाता है जिससे वर्ण पाँडुरंग हो जाता है और कामला-रोग उत्पन्न होता है।

ग्लायकोजिन—यकृत का दूसरा बहुत बड़ा काम शर्करा को संग्रह करना है। सबसे पहले क्लाडबर्नर्ड नामक विद्वान् ने यह बात मालूम की थी कि यकृत शर्करा बनाता है। अथवा एक ऐसी ही वस्तु बनाता है। उसने पाँच-छः दिन तक एक कुत्ते को खूब शर्करा और श्वेतसार खिलाया। जब उस कुत्ते के रक्त की परीक्षा की गई तो प्रतिहारणी शिरा और यकृतीय शिरा दोनों में शर्करा बहुत मिली। यह बिल्कुल स्वाभाविक ही था। किंतु जब श्वेतसार बंद करके कुत्ते को केवल मांस ही खाने को दिया गया, तो भी उसके यकृत के रक्त में शर्करा मिली, यकृत के सेलों में भी शर्करा पाई गई। इससे और इसी प्रकार के दूसरे प्रयोगों से यह विचारा गया कि शर्करा बनाने की स्वयं यकृत में शक्ति है; क्योंकि इस समय भोजन से कुछ भी शर्करा नहीं मिलाई गई थी। स्पष्ट था कि यकृत ने उसी मांस से, जो कुत्ते को भोजन में मिल रहा था, शर्करा बनाई थी।

उसके पश्चात् दूसरे कुत्ते पर प्रयोग किया गया। उसके यकृत को शरीर से भिन्न कर दिया और उसको जल से इस प्रकार धो दिया कि उसकी नलिकाओं से पुराना रुधिर निकल जाय।

भोने के पश्चात् परीक्षा करने से मालूम हुआ कि यकृत में फिर भी शर्करा उपस्थित थी। इससे यही परिणाम निकाला गया कि यकृत में एक ऐसी वस्तु रहती है जो बहुत सहज में शर्करा के रूप में आजाती है। संगठन के अनुसार यह श्वेतसार से बहुत मिलती जुलती है। इसको ग्लायकोजिन (Glycogen) कहते हैं।

ग्लायकोजिन की उत्पत्ति—साधारणतया यकृत उस शर्करा या श्वेतसार से जो शरीर को भोजन द्वारा मिलते हैं, ग्लायकोजिन बनाता है. भोजन में यदि यह वस्तु कम होती है तो वह प्रोटीन से भी ग्लायकोजिन बना डालता है। ग्लायकोजिन बनाने का गुण यकृत के सेलों का है। यदि किसी व्यक्ति को बहुत दिन तक भोजन नहीं मिलता तो पहले तो यकृत एकत्रित ग्लायकोजिन के संग्रह को काम में लाता है। उसके पश्चात् प्रोटीन से ग्लायकोजिन बनाना आरंभ करता है। साधारणतया जितनी शर्करा यकृत को मिलती है उतनी ही वह शरीर के तंतुओं को शक्ति उत्पादन के वास्ते दे देता है। किंतु अपने पास कुछ-न-कुछ ग्लायकोजिन सदा रखता है। कुछ पशु ऐसे होते हैं कि प्रतिकूल काल व दशाओं में पृथ्वी के भीतर चले जाते हैं अथवा अपने शरीर के ऊपर एक आवरण धारण करके विना भोजन के कुछ काल निकाल देते हैं। इसको उन जंतुओं का Hibernating period कहते हैं। यदि ऐसे जंतुओं के यकृत की परीक्षा की जाय तो उसमें ग्लायकोजिन की मात्रा बहुत मिलेगी।

ग्लायकोजिन का प्रयोजन—ग्लायकोजिन शरीर के किस काम में आती है अथवा इसका शरीर में अंत में क्या होता है? वैज्ञानिक लोग यही मानते हैं कि जीवन में एक वस्तु की क्रिया से यकृत में एकत्रित ग्लायकोजिन शर्करा के रूप में बदल जाती है।

तत्पश्चात् यकृतीय शिरा इत्यादि इस शर्करा को रक्त-द्वारा शरीर के तंतुओं में ले जाती है जहाँ पर उसको काम में लाया जाता है। उससे उष्णता उत्पन्न होती है, जिससे सारे शरीर की क्रियाएँ होती हैं। एक मत इसके विरुद्ध भी है। डाक्टर पेवी का कहना है कि जीवन-काल में यकृत में कोई ऐसी शक्ति नहीं होती, जिससे वह ग्लायकोजिन को शर्करा के रूप में बदल दे। और न जीवन में ऐसी कोई क्रिया ही होती है। उनके विचारानुसार ग्लायकोजिन का शर्करा में परिवर्तन मृत्यु के पश्चात् होता है और उसके कारण कुछ और ही होते हैं। पेवी को संयुक्त शिरीय रक्त की अपेक्षा, जिसके द्वारा यकृत में रक्त आता है, यकृतीय शिराओं में, जिनके द्वारा यकृत से रक्त जाता है, तनिक भी शर्करा अधिक नहीं मिली। इन महाशय का कथन है कि ग्लायकोजिन से प्रोटीन और वसा बनते हैं; क्योंकि केवल कर्बोज के भोजन से भी शरीर और यकृत दोनों में वसा की मात्रा बढ़ जाती है, किंतु कुछ और प्रयोग-कर्त्ताओं को यकृतीय शिराओं में शर्करा की अधिकता मिली है।

आधुनिक मत—आजकल यही माना जाता है कि ग्लाइकोजिन का शर्करा के रूप में परिवर्त्तन यकृत के सेलों ही के द्वारा होता है। जिस प्रकार पाचन के लिये मुख के रस में टायलिन और आमाशय के रस में पेप्सिन होती है उसी प्रकार यकृत के सेलों में एक वस्तु होती है जिसकी क्रिया से ग्लाइकोजिन शर्करा के रूप में आ जाती है। संभव है कि यकृत के सेल कुछ ग्लाइकोजिन को वसा के रूप में भी परिवर्तित करदें। इस ग्लाइकोजिन का कुछ भाग प्रोटीन के अणु के साथ मिल सकता है, किंतु ग्लाइकोजिन का मुख्य परिवर्त्तन शर्करा ही में होता है।

मधुमेह—इस प्रकार हम जो शर्करा खाते हैं, उसमें से बहुत

कुछ पेशियों में ख़र्च हो जाती है, जितनी यकृत एकत्रित कर सकता है उसे वह ग्रहण कर लेता है। यदि इस पर भी कुछ और शर्करा बच जाती है तो उसे वृक्क मूत्र के द्वारा बाहर निकाल देते हैं। मधुमेह नाम मूत्र में शर्करा के आने का है। यदि हम बहुत अधिक शर्करा का भोजन करें तो तुरंत ही मूत्र में शर्करा आ-जायगी। इसका कारण वही है जो ऊपर बताया जा चुका है। शर्करा व कर्बोज को व्यय करने व पचाने की शक्ति भिन्न-भिन्न व्यक्ति में भिन्न होती है। यह शक्ति उसकी आवश्यकता पर निर्भर करती है। जितना उसको शारीरिक परिश्रम अधिक करना पड़ता है, जितनी संग्रह व समीकरण करने की शक्ति अधिक है उतनी ही अधिक शर्करा उसके लिये आवश्यक है। किसी व्यक्ति को तो थोड़ी ही शर्करा से मधुमेह उत्पन्न हो जायगा किंतु दूसरे को बहुत अधिक शर्करा खाने से भी कुछ न होगा। साधारण मनुष्य ३ छटांक शर्करा नित्य प्रति खा सकता है। इस मात्रा से उसके मूत्र में शर्करा न आएगी। वह इतनी शर्करा को भली भाँति पचा सकता है।

इस प्रकार अधिक शर्करा व कर्बोज खाने से जो मधुमेह उत्पन्न होता है वह क्षणिक होता है। ज्यों ही शर्करा की मात्रा कम कर दी जाती है त्यों ही मूत्र में भी शर्करा का आना बंद हो जाता है। किंतु जो वास्तव में मधुमेह का रोग होता है वह बहुत भयंकर होता है। जो शर्करा हम खाते हैं वह इसलिये नहीं खाते कि वह रक्त में एकत्रित रहे व संमिलित हो जाय। किंतु कर्बोज शरीर को इसलिये दिया जाता है और रक्त उसको इसलिये ग्रहण करता है कि वह शरीर के तंतुओं के पास ले जाय जो उसको ग्रहण करलें और अपने काम में लावें। जब तंतु उसको ग्रहण नहीं कर सकते तो रक्त में उसकी अधिकता हो जाती है और वह

मूत्र के द्वारा नहीं निकल सकती। अतएव शरीर के तंतुओं की शर्करा को ग्रहण करने की शक्ति का ह्रास मधुमेह रोग का कारण है। बहुत से रोगियों में कर्बोज भोजन को एकदम बंद कर देने व कम करने से मधुमेह की दशा ठीक हो जाती है। किंतु कुछ रोगियों में रोग ऐसा कठिन स्वरूप धारण करता है कि भोजन से कर्बोज के बिल्कुल निकाल देने पर भो रोग को कुछ लाभ नहीं होता।

रोग का मुख्य कारण—इस रोग का कारण आजकल अग्न्याशय-ग्रंथि का विकार माना जाता है। इस विषय पर इतना अधिक कार्य किया गया है जो बहुत ही रोचक और वैज्ञानिक है। इस विषय पर अनेक बड़े-बड़े ग्रंथ तैयार हो गए हैं। यहाँ पर इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख नहीं किया जा सकता।

लैंगरहैंस के द्वीप—अग्न्याशय की यदि ध्यानपूर्वक सूक्ष्मदर्शक यंत्र से परीक्षा की जाय तो उसमें दो भाग दिखाई देंगे। एक भाग तो साधारण ग्रंथियों का है जो रस बनाती है। इन सबसे पतली-पतली नलिकाएँ निकलकर आपस में मिलकर एक मोटी नलिका बना देती हैं, जिसके द्वारा ग्रंथि का रस अंत्रियों में पहुँचता है। इन ग्रंथियों के बीच-बीच में कुछ सेलों के समूह दिखाई देंगे जिनका उद्रेचक-ग्रंथियों से कोई भी संबंध नहीं मालूम होता। यह ग्रंथियों में एक टापू की भाँति दिखाई देते हैं। इनको (Islet of Langerhans) लैंगरहैंस के द्वीप कहते हैं। लैंगरहैंस एक व्यक्ति का नाम है, जिसने सबसे पहले ग्रंथि के इस भाग का पता लगाया था। इन द्वीपों को रोग का कारण बताया जाता है।

आंतरिक-उद्रेचन—सन् १८०९ में सबसे पहले यह मालूम हुआ था कि यदि अग्न्याशय ग्रंथि को शरीर से भिन्न कर दिया जाय तो यह रोग उत्पन्न हो जाता है। यदि एक चौथाई या ग्रंथि

का पाँचवाँ भाग भी शरीर में लगा हुआ छोड़ दिया जाय तो रोग उत्पन्न नहीं होता। यदि वह नली जिसके द्वारा अग्नि रस अंत्रियों में प्रवेश करता है बाँध दी जाय तो यह रस अंत्रियों में नहीं पहुँचेगा। उससे पाचन में तो अवश्य विकार आजाता है किंतु यह रोग नहीं उत्पन्न होता। इससे मालूम होता है कि ग्रंथि कुछ ऐसी वस्तु बनाती है जिसका पाचन पर तो प्रभाव नहीं पड़ता, किंतु शरीर के शर्करा के समीकरण-शक्ति पर अवश्य प्रभाव पड़ता है; और यह वस्तु नलिका द्वारा अंत्रियों में नहीं आती। अतएव यह वस्तु ग्रंथि से उत्पन्न होकर वहीं पर रक्त में मिल जाती है। इसको ग्रंथि का आंतरिक उद्रेचन कहते हैं। यह उद्रेचित वस्तु बाहर न आकर ग्रंथि ही के भीतर अथवा किसी भाँति से रक्त में मिल जाती है और शरीर की शर्करा का ग्रहण करने की शक्ति को ठीक बनाए रखती है।

शरीर में कई ऐसी ग्रंथियाँ हैं जिनका आंतरिक उद्रेचन होता है। उनके भीतर कोई रासायनिक वस्तु बनती है और वह किसी नली के द्वारा बाहर न आकर वहीं रक्त में मिल जाती है और शरीर की क्रियाओं पर अपना प्रभाव डालती है। अग्न्याशय का यह आंतरिक उद्रेचन ग्रंथि के लैंगरहैंस के द्वीपों में बनता है। यदि किसी मधुमेह के रोगी के अग्न्याशय का निरीक्षण किया जाय तो उसमें यह द्वीप बिल्कुल मुरझाए हुए व नष्टप्राय मिलेंगे।

उद्रेचन की क्रिया—इस आंतरिक उद्रेचन की क्रिया का अभी तक ठीक ज्ञान नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी क्या रासानिक क्रिया होती है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि अग्न्याशय का आंतरिक रस ही शरीर के रक्त में शर्करा के अधिक होने व स्वाभाविक सीमा पर रहने के लिये उत्तरदायी है। इसकी अनुपस्थिति

से रक्त में शर्करा का भाग बढ़ जाता है। शरीर में वृक्क के ऊपर एक ग्रंथि होती है जो त्रिकोणाकार होती है। उसको उपवृक्क कहते हैं। इसका भी आंतरिक उद्रेचन होता है। उससे किसी प्रकार का वाह्य उद्रेचन, जो ग्रंथि से नलिका के द्वारा निकलकर शरीर के किसी अंग में कुछ क्रिया करे, उत्पन्न नहीं होता। इसमें एक प्रकार का रस बनकर रक्त में मिलता है। उसको ऐड्रिनेलिन (Adrenalin) कहते हैं। इस ऐड्रिनेलिन की शरीर पर अनेक बड़े महत्त्व की क्रियाएँ होती हैं जिनका आगे चलकर वर्णन किया जायगा। अन्य क्रियाओं में उसकी एक क्रिया यह भी बताई जाती है कि वह यकृत से ग्लायकोजिन को निकालकर शर्करा के रूप में रक्त में ले आती है। ऐड्रिनेलिन की इस क्रिया को अग्न्याशय का आंतरिक रस नष्ट करता है। यदि अग्न्याशय का आंतरिक रस न हो तो ऐड्रिनेलिन की यकृत पर इतनी अधिक क्रिया हो कि उसका सारा ग्लायकोजिन रक्त में आ जाय और यकृत में तनिक भी शर्करा न पहुँच पाए। किंतु अग्न्याशय का रस इस ऐड्रिनेलिन की यकृत पर की क्रिया का नाश कर देता है। इसी की क्रिया के प्रभाव से ऐड्रिनेलिन के बस इतनी क्रिया होती है कि थोड़ी सी शर्करा रक्त में रह जाती है।

अग्न्याशय का आंतरिक रस इंस्यूलीन (Insulin) कहलाता है। हाल ही में बेंटिंग (Banting) ने इस पर बहुत प्रयोग किए हैं। मधुमेह के रोगियों को इस वस्तु के इंजेक्शन दिए जाते हैं। यह लैंगरहैंस के द्वीपों से बनाया जाता है। इसका रासायनिक संगठन और क्रिया ठीक प्रकार से मालूम नहीं हैं। इस वस्तु के प्रयोग ने इस रोग के चिकित्सा की बहुत कुछ आशा बँधाई है। अभी तक यह वस्तु अनुभव की अवस्था से आगे नहीं बढ़ी है। किंतु

बहुत कुछ आशा होती है कि आगे चलकर कुछ परिवर्तनों के पश्चात् मधुमेह-रोग से रोगियों को बचाने में यह वस्तु लाभदायक सिद्ध होगी।

वसा-विभंजन—यकृत का काम यहाँ भी समाप्त नहीं होता। वह वसा के संबंध में काफ़ी काम करता है। शरीर में वसा वसामय तंतुओं में एकत्रित रहती है। जब आवश्यकता होती है तब वह रक्त द्वारा पेशियों के पास पहुँचती है जहाँ उसका ओपजनीकरण होता है। ओर पेशी उससे शक्ति ग्रहण करते हैं। रक्त ही इस वसा को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाता है। सौत्रिक तंतु में जो लायएेज़ रहती है वह इस वसा का ग्लिसरिन और वसाम्ल में भंजन करती हैं। यह वसाम्ल यकृत के पास पहुँचते हैं जहाँ इनका भंजन प्रारंभ होता है। पहले इनसे नीची श्रेणी के अम्ल बनते हैं। इसी प्रकार टूटते हुए यह कार्बन-डाइ-ऑक्साइड और जल के रूप में बदल जाते हैं।

वसा-संश्लेषण—यकृत वसा का केवल भंजन ही नहीं करता किंतु उनको तैयार भी करता है। विशेषतः ऐसे वसा जिनके परिमाणु बड़े और गूढ़ होते हैं, जैसे फोस्फोटाइड यकृत के द्वारा तैयार किए जाते हैं। ऊपर कही हुई वस्तु नाड़ियों के तंतु में मिलती हैं। इन वस्तुओं को अकेला यकृत ही नहीं तैयार करता किंतु प्रत्येक अंग में इनको बनाने की शक्ति होती है।

यकृत और नाइट्रोज़न—प्रोटीन के पाचन में बताया गया था कि बहुत सा प्रोटीन जो शरीर के काम में नहीं आता उसे यकृत किसी-न-किसी स्वरूप में बदलकर शरीर के बाहर निकाल देता है। मूत्र में एक वस्तु रहती है जिसको यूरिया (Urea) कहते हैं। इसका रासायनिक संकेत $Con_2 H_2$ है जिससे विदित

होता है कि इस वस्तु के एक अणु में कार्बन का एक, ऑक्सीजन का एक, नाइट्रोजन के दो और हाइड्रोजन के दो परिमाणु रहते हैं। यह वस्तु यकृत ही बनाता है। प्रोटीन शरीर में अमीनो-अम्ल में विभाजित हो जाते हैं। यह अमीनो-अम्ल जब शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करके यकृत के पास पहुँचते हैं, तो यकृत इनको तोड़कर उनसे यूरिया बना देता है। यदि कुछ अमीनो-अम्ल मुँह से खाने को दिए जायँ तो यूरिया अधिक बनने लगेगा।

यकृत के यूरिया बनाने के बहुत से प्रमाण मिल सकते हैं। यदि किसी पशु के शरीर से यकृत को बाहर निकाल दिया जाय, तो यूरिया बनना बंद हो जायगा और उसके स्थान पर अमोनिया मूत्र में मिलेगा। स्तनधारी पशुओं में यदि किसी के शरीर से यकृत को बाहर निकाल दिया जाता है, तो उसकी मृत्यु हो जाती है। किंतु यकृत को शरीर में रहते हुए भी बेकाम किया जा सकता है। यदि संयुक्ता शिरा को यकृत से काटकर सीधा महाशिरा में जोड़ दिया जाय, तो रक्त यकृत में जाना बंद हो जायगा। ऐसा करने पर देखा गया है कि यूरिया का बनना बहुत कम हो जाता है। जब यकृत में किसी प्रकार का रोग हो जाता है जिससे उसके सेल काम नहीं कर सकते, तो भी यूरिया का बनना बहुत कम हो जाता है।

यकृत और क्रियेटिन व क्रियेटिनीन—जिस प्रकार यूरिया मूत्र में पाई जाती है उसी प्रकार क्रियेटिन मांसपेशी में पाई जाती है। इसकी रचना यूरिया से बहुत मिलती-जुलती होती है। यदि इसको चूने के पानी के साथ उबाला जाय तो वह यूरिया और एक दूसरी वस्तु में विभाजित हो जाती है। साधारण स्वस्थ्य अवस्थावाले मनुष्यों के मूत्र में यह वस्तु नहीं पाई जाती। किंतु प्रसव-काल के पश्चात् स्त्रियों के मूत्र में यह पाई जाती है।

तीव्र ज्वरों व उन मनुष्यों के मूत्र में जिनको कुछ दिन से भोजन न मिला हो, यह वस्तु उपस्थित रहती है। जिन-जिन दशाओं में पेशियों के तंतुओं का नाश होता है उन सब दशाओं में क्रियेटिन मूत्र में मिलता है। यह नहीं मालूम है कि शरीर में इस वस्तु का क्या होता है।

क्रियेटिनीन मूत्र में उपस्थित रहती है। वास्तव में यूरिया के अतिरिक्त मूत्र में सबसे अधिक भाग इसी वस्तु का रहता है। पहले यह संदेह किया जाता था कि यह वस्तु यकृत में बनती है, किंतु अब यह निश्चयपूर्वक मालूम हो गया है कि इस वस्तु को बनानेवाला यकृत है। प्रोटीन के भंजन से जो पदार्थ बनते हैं उनमें से कुछ पदार्थ रक्त यकृत के पास ले जाता है, उन पदार्थों से यकृत क्रियेटिनीन बनाता है। यह क्रियेटिनीन रक्त द्वारा मांसपेशी में पहुँचती है और वहाँ क्रियेटिन के रूप में संग्रह हो जाती है। जब क्रियेटिनीन इतनी अधिक होती है कि पेशी उसका संग्रह नहीं कर सकतें तब वह मूत्र द्वारा शरीर से बाहर निकल जाती है। यूरिया की भाँति यकृत के रोगों में बहुत कम क्रियेटिनीन मूत्र द्वारा बाहर निकलती है।

शब्दानुक्रमणिका और परिभाषा

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	अँगरेज़ी-शब्द
आमाशय-रस	२२८	Gastric juice
आम्लिक मेटा प्रोटीन	२२६	Acid Meta protiens
आयोडोन	६	Iodine
औस्टियोमैलेशिया	८६	Osteomalacia
इक्षवोज	४६	Cane Sugar
इंस्यूलीन	२८७	Insulin
इरेप्सिन	२३६	Erepsin
उच्छ्वास	१८०	Expiration
उच्छ्वासक पेशी	१८०	Inspiratory muscles
उड़नशील पदार्थ	१६०	Volatile substance
उत्तरा महाशिरा	१२२	Superior Vena cava
उत्तेजित्व	१६	Irritability
उत्पादक संस्थान	५६	Generative system
उदूखला संधि	६२	Ball and Socket joints
उद्गामी बृहद् अंत्र	२५७	Ascending calon
उद्रेचक	२३६	Secretin
उर्वस्थि	७४	Femur
उष्णतोत्पादक केंद्र	२०६	Heat Centre
एकसेलीय	६	Unicellular

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	अँगरेज़ी-शब्द
धमनी	१२३	Artery
नतोदर	१४६, १५०	Concave
नरकंकाल	६२, ६४	Skeleton
नाइट्रोजन	६, ७	Nitrogen
नाड़ी-संस्थान	५४	Nervous System
निगलना	२५०	Deglutition
नितंबास्थि	७४	Hip bone
निम्नशाखा	७३	Lower Extremity
निमोनिया	१८०	Pneumonia
निलय	१२१	Venticle
निष्क्रिय रोगक्षमता	१६३	Passive Immunity
नेबुला	३२	Nebula
पक्काशय	२२२	Duodenum
पक्काशय छिद्र	२२०	Pyloric Orifice
परमाणु	५	Atoms
परावर्तित क्रिया	११५	Reflex action
पर्वत रोग	२०२	Mountain Sickness
पशुकाएँ	७३	Ribs
पाचक	५५	Digestive
पाचक संस्थान	२१३	Digestive System
पायसनियाँ	१२१, २४४	Lacteals
पालिका	१७६	Lobe
पित्त	२२४	Bile

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	अँगरेज़ी-शब्द
पित्त-नलिका	२७५	Bile duct
पित्ताशय	२२४, २७४	Gall bladder
पीयूष-ग्रन्थि	८६	Pituitary gland
पुरइन	२१५	Placenta
पूर्व-एमाएलेज़	२३७	Pro-amylase
पूर्व-ट्रिप्सिनोजन	२३७	Pro-tryspsinogen
पूर्व-लायपेज	२३७	Pro-lypase
प्रकोष्ठास्थियाँ	७३, ७४	Radius and Ulna
प्रगंडास्थि	७३, ७४	Humerus
प्रतरा संधि	६३	Amphiarthroses
प्रत्यावर्तक क्रिया	११५	Reflex action
प्रतिहारिणी शिरा	१३१	Portal vein
प्रपादास्थि	७४	Tarsal bones
प्रश्वास	१८०	Expiration
प्रश्वासक पेशी	१८०	Expiratory Muscle
पृष्ठवंश	६५	Vertebral Column
प्लाज़्मा	१४५	Plasma
पेप्टोन	२२६	Peptones
पेप्सिन	२२८	Pepsin
पैरामीशियम	८	Paramaecium
प्लैहिक कोण	२५७	Splenic Flexure
पोटाशियम	६	Potassium
पोटाशियम फ़ैरोसायनाइड	१४०	Potassium Farro-cyanide
प्रोटीन	४२, ४४	Protien

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	अँगरेज़ी-शब्द
वक्षस्थल	७३	Chest
वक्षोदर मध्यस्थपेशी	१७६	Diaphragm
वमन	२५३	Vomitting
वागस नाड़ी	१४३	Vagus Nerve
वायु-आकर्षक यंत्र	१६१	Aspirator
वायुकोष्ठ	१६८	Air Cells
वायुनलिका	१७२	Bronchus
वाष्प	१६३	Vapours
वाष्प-गुल्म	२०४	Bubbles
विद्युदणु	५	Electrons
विटेमीन	२६८	Vitamines
विसर्जन	१८५	Diffusion
विस्तार की अवस्था	१०५	Period of Elongation
विशेष ज्ञानेंद्रियाँ	५६	Organs of Special Sense
वैकसीन	१६२	Vaccine
व्यापन	२४३	Diffusion
श्रम	१०६	Fatigue
श्रम-विभाग	११	Division of labour
शस्त्र-कर्म	१४४	Operation
श्वाश	१६४	Respiration
श्वास-केंद्र	१८१	Respiratory Centre
श्वासावरोध	२०७	Asphyxia

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	अँगरेज़ी-शब्द
श्वास-प्रणाली	१७१, १७२	Trachea
श्वास-संस्थान	१६४	Respiratory System
श्वासोच्छ्वास-संस्थान	५५	Respiratory System
शिरा	१२५	Vein
शिखर आघात	१४०	Apex Beat
शीतकारक यंत्र	१११	Freezing Machine
शून्यस्थान	१४	Vacuole
श्वेत कण	१४५	White Corpuscles
शोषण	२४१	Absorption
सक्रिय रोगक्षमता	१६२	Active Immunity
संकोच की अवस्था	१०५	Period of Contraction
संचालक नाड़ियाँ	११३	Motor Nerves
संग्राहक	१५४	Agglutinins
संधि	६१	Joint
संधि-कोष	६२	Articular Capsule
संधि-भंग	६२	Dislocation
संधि-संस्थान	५३	Articular System
संपृक्त	२०१	Saturated
संयोजक	२१७	Cement
संयौगिक	५	Compound
सारकोलेक्टिक अम्ल	१०८, १०९	Sarcolactic Acid
सांवेदनिक नाड़ियाँ	११४	Sensory Nerves
सायनोजिन	३६	सायनोजिन

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	अँगरेज़ी-शब्द
सिलवट	२२३	Folds
सिलियां	१७४	Cilia
सिलियामय कला	१७४	Ciliated epithelium
सीरम	१६१	Serum
सुषुम्ना	६७	Spinal Cord
स्नेहवाहिनी	२४४	Lacteals
सेल	८, १०, ११, १२	Cell
स्नैहिक कला	६२	Synovial Membrane
सोडियम	६	Sodium
स्कर्वी	२६६	Scurvy
स्कंधास्थि	७३, ७७	Scapula
स्टेथिसकोप	१४१	Stethescope
स्थायी (दाँत)	२१८	Permanent Teeth
स्फट	२१४	Crystal
स्वर-यन्त्र	१७२	Laryux

हिंदी-शब्द	पृष्ठ-संख्या	अँगरेज़ी-शब्द
हाइड्रोक्लोरिक अम्ल	२२८	Hydrochloric acid
हाइड्रोजन	६, ७	Hydrogen
हार्दिक छिद्रद्वार	२२०	Cardiae orifice
हारवे [एक वैज्ञानिक का नाम]	११८	Harvey
हार्दिकी धमनी	१४३	Coronary Artery
हीमेटीन	१४७	Haematin
हीमोग्लोबिन	१४६	Haemoglobin
हृत्कार्य चक्र	१३५	Cardial Cycle
हृदय का विस्तार	१४१	Diastole